श्री महादेवप्रसाद अग्रवाल चेरिटेबल ट्रस्ट, अलवर का
प्रथम पुष्प

ॐ

चौंसठ ऋद्धियाँ

लेखक
अरुणकुमार जैन
व्याकरणाचार्य, एम.ए. एम.फिल्
जयपुर

प्रकाशक
श्री महादेवप्रसाद अग्रवाल चेरिटेबल ट्रस्ट,
अलवर

ः टाइप सैटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था :
प्री ऐलविल सन (संजय शास्त्री, सर्वोदय अहिंसा) +91 95092 32733

प्रथम संस्करण : 21 मार्च 2021 (अष्टाह्निका महोत्सव)

प्रतियाँ : 5000

न्यौछावर राशि : 60/- (पुनः प्रकाशन हेतु)

ISBN

प्राप्ति स्थान :

* **महादेवप्रसाद अग्रवाल चैरिटेबल ट्रस्ट**
अलवर (राजस्थान)
+91 94140 20511

* **सर्वोदय अहिंसा**
बी. 180 मंगल मार्ग, बापू नगर
जयपुर (राज.) पिन-302015
+ 91 9785 999100

* **अरुणकुमार जैन, व्याकरणाचार्य**
विशेषाधिकारी : डॉ. सुभाष गर्ग, मंत्री-संस्कृत शिक्षा, राजस्थान सरकार
25, ग्राउंड फ्लोर, जगदीश विहार द्वितीय,
प्रेम नगर, जगतपुरा, **जयपुर** (राज.) पिन-302017
+91 94144 45666

: टाइप सैटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था :
प्री ऐलविल सन (संजय शास्त्री, सर्वोदय अहिंसा) **+91 95092 32733**

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय–वस्तु		पृष्ठ
1.	प्रकाशकीय		4
2.	प्रस्तावना		6
3.	अध्याय–1	ऋद्धिभूमि	1
4.	अध्याय–2	बुद्धि–ऋद्धियाँ	75
5.	अध्याय–3	क्रिया–ऋद्धियाँ	178
6.	अध्याय–4	विक्रिया–ऋद्धियाँ	238
7.	अध्याय–5	बल–ऋद्धियाँ	273
8.	अध्याय–6	तप–ऋद्धियाँ	287
9.	अध्याय–7	औषध–ऋद्धियाँ	331
10.	अध्याय–8	रस–ऋद्धियाँ	353
11.	अध्याय–9	अक्षीण–ऋद्धियाँ	371
12.	ऋद्धि–उपसंहार		379

या सर्वसुरवर्द्धि विस्मयनीयाऽपि सानगारर्द्धे।
नार्घति सहस्रभागं कोटिशतसहस्र–गुणितामपि।।

अर्थ – जो सर्व में प्रधान है, महाविभूति के धारी हैं, ऐसे इन्द्र का वैभव वैभव विस्मय उत्पन्न करनेवाला है तो भी उसके उस वैभव को एक लाख से गुणा करें तो भी ऋद्धिधारी मुनि का ऋद्धि–वैभव उसके हजारवें भाग भी नहीं है।

प्रकाशकीय

ऋद्धि का स्वरूप सभी भक्तजनों के जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। उनका स्वरूप कैसा होता है? किसे और कैसे प्रकट होती हैं? ऋद्धियाँ कितनी हैं? उनके कितने भेद और कितने प्रभेद हैं? ऋद्धियों के प्रकट होने के क्या लाभ हैं? उनका उपयोग किया जाता है या नहीं किया जाता है? ऋद्धियों का किसे-किसे लाभ होता है? इत्यादि अनेक प्रश्न मन में होते रहते हैं।

पंडित अरुणकुमार शास्त्री, प्राचार्य-राजकीय शास्त्री संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर वर्तमान में विशेषाधिकारी, डॉ. सुभाष गर्ग, मंत्री-संस्कृत शिक्षा, राजस्थान सरकार हैं। इन्होंने ''परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ'' जो एक अज्ञात आचार्य या लेखक की रचना है, उसे आधार बनाकर आचार्यों एवं विद्वानों के उद्धरणों के आधार से सुंदर, व्यापकरूप देकर ''चौंसठ ऋद्धियाँ'' नाम से पुस्तकाकार दिया है। यह प्रत्येक भक्त, जिज्ञासु के लिए अवश्य पठनीय है।

हमारे ज्येष्ठ भ्राता स्व. महादेवप्रसाद अग्रवाल, अलवर जैन समाज में ही नहीं, अपितु जैनेतर समाज में सुपरिचित थे। उनके मृदुल व्यवहार से हर कोई उनका कायल था। वे विनम्र धार्मिक व्यक्ति थे। उनके कारण हमारा परिवार धर्म से जुड़ा हुआ है। धर्म, संस्कार, व्यवहार सभी दृष्टियों से वे हमारे आदर्श थे, हैं और रहेंगे।

उन्हीं के अवर्णनीय गुणों के कारण हमने उनकी स्मृति में एक छोटा-सा प्रयास ''महादेव प्रसाद अग्रवाल चेरिटेबल ट्रस्ट'' की स्थापना करके किया है। ट्रस्ट के अंतर्गत प्याऊ लगवाना आदि सामाजिक कार्य करते रहते हैं। अबकी बार ''धार्मिक साहित्य-सेवा के अंतर्गत विशेष कुछ हो'' - इस भावना से पंडितजी की ''चौंसठ ऋद्धियाँ'' पुस्तक के प्रकाशन का विचार किया। पुस्तक का विषय रोचक है, सभी को सहज ही समझ में आने योग्य भी है।

हमारे भाई साहब की धर्मग्रन्थों के प्रति विशेष रुचि थी। नित्य देवदर्शन, पूजन, तीर्थयात्रा आदि करते ही थे। जहाँ कहीं ग्रंथ मिलते थे, वे खरीद कर लाते थे, परिणाम यह हुआ कि घर में ग्रंथ संग्रहालय हुआ। वे न केवल अपने लिए ग्रंथ खरीदते थे, बल्कि अधिक प्रतियाँ लाकर मंदिर में और जिज्ञासुओं को भेंट भी करते थे। उनके मानस को ध्यान में रखकर हमने भी धार्मिक पुस्तक प्रकाशन का भाव बनाया है और ''चौंसठ ऋद्धियाँ'' पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं।

अरुण पंडितजी हमारे परिवार के सदस्य ही हैं। हमने उनकी पुस्तक को परिवार के सदस्य की वजह से नहीं, बल्कि रुचिपूर्ण विषय से समाज परिचित हो, समाज को इस विषय का लाभ मिले – इस भावना से प्रकाशित कर रहे हैं। हम पूर्व आचार्यों और पंडितजी के आभारी हैं, जिनके निमित्त से हमारा कुछ द्रव्य इस धर्म के आयोजन में लग रहा है। और हम सदा ही आभारी हैं, थे और रहेंगे हमारे आदरणीय बड़े भाईसाहब महादेवप्रसादजी के, जिनके संस्कारों ने हमें ऐसी सद्बुद्धि प्रदान की है।

हमारी ओर से लागत से अत्यंत कम मूल्य पर सभी अध्ययन कर सकें – इस भावना से उपलब्ध कराई जा रही है। मंदिरों, त्यागी, व्रती तथा असमर्थ जिज्ञासुओं के लिए निःशुल्क उपलब्ध कराई जा रही है। आप प्राप्ति स्थान से दूरभाष से सूचना देकर प्राप्त कर सकते हैं।

सभी स्वाध्यायी जन इसका स्वाध्याय अवश्य करें – इसी पवित्र भावना के साथ –

आपका साधर्मी

सुभाष अग्रवाल, मंत्री

: ट्रस्ट सदस्य :

मुसद्दीलाल अग्रवाल, विनोद अग्रवाल, देवेन्द्र अग्रवाल

महादेवप्रसाद अग्रवाल चेरिटेबल ट्रस्ट, अलवर (राज.)

प्रस्तावना

परमर्षि मंगल पाठ सभी जैन भक्तजनों की पूजन का अभिन्न अंग है। परम ऋषियों को अर्घ्य समर्पित किए बिना पूजन पूर्ण नहीं मानी जाती है। परम ऋषियों को अर्घ्य समर्पण का पाठ परमर्षि मंगल पाठ संस्कृत और हिन्दी में भी है।

परमर्षि मंगल पाठ में 64 ऋद्धिधारी मुनिराजों को नमस्कार करते हुए भावना भाते हैं कि ऋद्धिधर हमारी पूजन मंगलमय कर दें।

ऋद्धिधारी मुनि को ऋषि कहते हैं। ऋषियों में श्रेष्ठ ऋषि को परमर्षि कहते हैं। उक्त पाठ में सभी ऋद्धिधरों को श्रेष्ठ अर्थात् परमर्षि कहकर अर्घ्य समर्पित किया है। ऋद्धि में अचिंत्य शक्ति होती है। ऋद्धि की प्राप्ति अर्थात् अचिंत्य शक्ति, दिव्यशक्ति, अलौकिक शक्ति की प्राप्ति/यह शक्ति प्रयत्न से नहीं, उसके लक्ष्य से नहीं, विशुद्ध के बल से सहज प्रकट होती है।

ऋद्धि की शक्ति जाति अपेक्षा आठ प्रकार की तथा विषय की अपेक्षा चार प्रकार की है। आठ प्रकारों में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, विक्रियाशक्ति, बलशक्ति, तपशक्ति, औषधशक्ति, रसशक्ति और अक्षीण भोजन-आवास शक्ति - ये शक्तियाँ प्रकट होती हैं। विषय की अपेक्षा जीव, शरीर, आहार और आवास विषयक चार शक्तियाँ हैं।

इन शक्तियों में दो शक्तियाँ मारक शक्तियाँ हैं, जिनको अशुभ कहा है। मारक शक्तियों का प्रयोग मुनि की इच्छा होने पर ही होता है। शेष शक्तियाँ मुनि की इच्छा अथवा बिना इच्छा के अन्य जीवों का भी उपकार करती हैं।

जैसे वचनशक्ति से मुनि अन्तर्मुहूर्त समय में द्वादशांग जिनवाणी का पाठ करते हैं। केवल एक बार ही पाठ नहीं करते बल्कि इच्छानुसार कितनी ही बार पाठ कर लेते हैं। वे कितनी ही बार पाठ करें तो भी न तो उनका गला सूखता है, न थकान होती है। वचन शक्ति की प्राप्ति से मुनिराज को यह

लाभ हुआ। दूसरे जीवों को उनके वचन अमृत के समान मीठे लगते हैं, कष्ट दूर करनेवाले होते हैं – यह अन्य जीवों को सहज लाभ मिलता है। इस प्रकार मुनि की इच्छा हो अथवा न हो, शुभ ऋद्धियों का लाभ मुनि तथा अन्य जीवों को भी होता ही है।

यह तो एक ऋद्धि का किंचित् स्वरूप बताया है, उदाहरण दिया है, अन्य ऋद्धियों का क्या स्वरूप है? ऐसी जिज्ञासा सहज हो हुई, इसलिए ऋद्धियों के बारे में अपने परिणामों की विशुद्धि के लिए कई बार पढ़ा, तब लिखा है।

कोई प्रश्न कर सकता है कि अपने परिणामों की विशुद्धि के लिए स्वयं अध्ययन कर लेते लिखा क्यों?

बात तो सही है, लिखने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए था, स्वयं अध्ययन करना चाहिए था। मैंने स्वयं अध्ययन किया, अन्य को सुनाया, उन्होंने ने सुना तो लिखने का आग्रह किया, मैं सब जगह जा नहीं सकता कि जाकर सुनाऊँ, ये पुस्तकाकार कागज जा सकते हैं। दूसरी बात मैंने कुछ भी नहीं लिखा, मैं लिखने में समर्थ भी नहीं हूँ। आचार्यों ने भी जब यह लिखा कि हमें जितनी ऋद्धियों का उपदेश मिला, उतनी ही ऋद्धियों के बारे में लिखा, जिनका उपदेश हमें नहीं मिला, उनके बारे में हम नहीं लिखते। जब आचार्य इतनी प्रामाणिकता के साथ वर्णन करते हैं, प्राप्त उपदेश के अलावा कुछ नहीं लिखते तो महाअल्पज्ञ मैं कुछ कैसे लिख सकता हूँ? मैंने कुछ भी नया नहीं लिखा, मैंने तो केवल आचार्यों के वचनों का संकलन मात्र किया है। सरलता के लिए आचार्यों के वचनों को प्रमाण मानकर कुछ-कुछ थोड़ा-सा लिखा है। उस लिखने में भी मानकषाय के पोषण का भाव नहीं है, स्वाध्याय का ही अभिप्राय है।

पंडित रायमल्लजी ऋद्धियों की उत्पत्ति हेतुपूर्वक उनका स्वरूप तथा उनकी महिमा का सरस वर्णन करते हुए लिखते हैं –

(8) चौंसठ ऋद्धियाँ

''विशुद्ध परिणामों के माहात्म्य से नाना प्रकार की ऋद्धियाँ स्फुरायमान होती हैं।''

कैसी हैं ऋद्धियाँ? –

कायबल ऋद्धि से तो तीन लोक को अनामिका अंगुली से उठा लेने की सामर्थ्य होती है और वचनबल ऋद्धि से द्वादशांग शास्त्र को अन्तर्मुहूर्त में पढ़ा जावे और मनबल ऋद्धि से द्वादशांग शास्त्र का अन्तर्मुहूर्त में चिंतवन कर लेते हैं। आकाश में गमन करते हैं, जल के ऊपर गमन करते हैं, तथापि जल के जीवों की विराधना नहीं होती।

धरती विषैं डूब जावे, तथापि पृथ्वीकाय जीवों की विराधना नहीं होती।

कहीं विष फैला पड़ा हो और शुभ दृष्टि से देखें तो वह विष अमृत बन जावे, तथापि वे ऐसा प्रयोग नहीं करते हैं। यदि कहीं अमृत फैला हो और मुनिराज दृष्टि डाल दें तो विष भी हो जावे, परन्तु ऐसा कभी करते नहीं हैं। और दया-शांत दृष्टि कर देखें तो कितने ही योजन पर्यन्त के जीव सुखी हो जावें और दुर्भिक्ष आदि ईति-भीति का दुख मिट जाये, सो ऐसी शुभ ऋद्धि दयालु बुद्धि से प्रयोग करें तो दोष नहीं। यदि क्रूर दृष्टि डालें तो कितने ही योजन के जीव भस्म हो जायें, परन्तु ऐसा करते नहीं।

और जिनके शरीर का गंधोदक अथवा नवद्वार का मल और चरणतल की धूलि और शरीर के स्पर्श किया हुआ पवन शरीर में लग आवें तो गलित कुष्ठ आदि सर्वप्रकार के रोग नाश हो जावें।

मुनिराज ने जिस गृहस्थ के घर आहार किया है, उसकी भोजनशाला में नाना प्रकार की रसोई अखूट हो जावे, यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भोजन कर जाए, तथापि घटे नहीं। तथा चार हाथ की रसोई के क्षेत्र में ऐसी अवगाहना शक्ति आ जावे कि चक्रवर्ती का समस्त कटक समा जाये और बैठकर जुदा-जुदा भोजन करें तो भी स्थान की कमी नहीं होवे और

जहाँ मुनिराज आहार करें, उसके घर पर पंचाश्चर्य की वर्षा हो।

रतनवृष्टि, पुष्पवृष्टि, गंधोदकवृष्टि, जय-जयकार तथा देवदुंदुभि - ये पंचाश्चर्य जानना।

यदि सम्यग्दृष्टि श्रावक ऋद्धिधारी मुनि को एकबार भोजन देवे तो कल्पवासी देव हो और मिथ्यादृष्टि मुनि को एकबार भोजन देवे तो उत्तम भोगभूमियाँ मनुष्य होवे, पीछे परंपरा से मोक्ष जावे।

ऋद्धियों के वर्णन को पढ़ने से मुझे जो समझ में आया, उसके अनुसार -

ऋद्धियों में दिव्य अलौकिक अचिंत्य शक्ति होती है। ये शक्ति सोच से बाहर है। इसका एक उदाहरण देख लिजिए। अणिमा ऋद्धि प्राप्त मुनि इस ऋद्धि के द्वारा अपने शरीर को अणु जितना छोटा बना सकते हैं, अणु जितने छेद में शरीर का प्रवेश करा सकते हैं। उस अणु जितने छेद में जाकर वहाँ बैठकर चक्रवर्ती की सेना जितनी सेना की रचना कर सकते हैं। इस वर्णन को पढ़कर तो यही निष्कर्ष निकालोगे कि अणु जितने छेद में यह सब असंभव है। कुछ भी लिखा है, या यह कल्पित है, बकवास है, धर्म की महिमा के लिए बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है। परन्तु मैं कहता हूँ, यह कुछ भी नहीं लिखा, कल्पित नहीं, बकवास नहीं है, धर्म की महिमा के लिए बढ़ा-चढ़ाकर कर नहीं लिखा है, यह वास्तविकता है, उस ऋद्धि की दिव्यता, अलौकिकता, अचिंत्यता है। यह कहाँ लिखा है कि जो आपको समझ में आये, बुद्धि ग्रहण करे, वही सत्य है। सत्य तो वह भी होता है, जो समझ में नहीं आता है, जिसे बुद्धि ग्रहण नहीं करती। यहाँ इस संबंध में एक बात बताऊँ कि जीव ने सत्य होते हुए भी इस बात को आज तक यह स्वीकार नहीं किया कि वह जीव है, वह तो शरीर को ही मैं मानकर संसार में अनादि से जन्म-मरण कर रहा है। यह जीव वास्तव में सत्य को स्वीकार करें तो सम्यग्दृष्टि हो जाये।

(10) चौंसठ ऋद्धियाँ

ऋद्धियाँ भी सत्य हैं, ऋद्धियों का विषय भी सत्य है। उनकी शक्तियाँ अचिंत्य, अलौकिक व दिव्य होती हैं, यह भी सत्य है। मात्र हमें बुद्धि को व्यवस्थित करना है। श्रद्धान को यथार्थ करना है।

ऋद्धियों के स्वाध्याय के बाद दूसरी बात यह समझ में आयी कि संयम कितना आवश्यक है, क्योंकि संयम के बिना मुक्ति नहीं। असंयमी को ध्यान के गुणस्थानों की प्राप्ति नहीं। ध्यान बिना मोक्ष नहीं। ऋद्धियाँ भी असंयमी या अर्धसंयमियों को प्रकट नहीं होती हैं, पूर्ण संयमियों को ही प्रकट होती हैं। ऋद्धियों में जो अचिंत्य शक्ति है, सो तो है ही, परंतु अचिंत्य शक्तिवाली ऋद्धियाँ बिना पूर्ण संयम के प्रकट नहीं होतीं, इसलिए ऋद्धियों के आधारभूत पूर्णसंयम की अचिंत्यता प्रकट ही है। ऋद्धियाँ प्रकट हों, न हों, उससे मोक्ष का संबंध नहीं है, परन्तु इतना तो अवश्य है कि पूर्ण संयम अर्थात् मुनिपने के बिना मोक्ष नहीं, ऋद्धियाँ भी प्रकट नहीं होती हैं।

शिवभूति मुनिराज को वर्णित ऋद्धियों की प्रत्यक्ष प्राप्ति नहीं थी, परन्तु मोक्ष को प्राप्त कर लिया। ऋद्धियों से अधिक संयम की महिमा है। पूर्ण संयमियों में भावसंयमियों की महिमा है; क्योंकि द्रव्यसंयमियों को ऋद्धियाँ प्रकट नहीं होती हैं, इसलिए भावसंयम की ही महिमा है। भावसंयम बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नहीं होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की महिमा है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होता है, इसलिए सम्यग्दर्शन की महिमा है। सम्यग्दर्शन बिना तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं होता है, इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धान की महिमा है। तत्त्वार्थश्रद्धान आत्मश्रद्धान के बिना यथार्थ नहीं होता है, इसलिए आत्मश्रद्धान की मुख्यता है।

ऋद्धियों का वर्णन पढ़ने के बाद तीसरी बात समझ में आई कि ऋद्धियाँ जिस विशुद्धि के साथ प्रकट होती है, उस विशुद्धि को प्राप्त मुनि ऋद्धियों में रस नहीं लेते, प्रकट होने, न होने का ज्ञान नहीं करते, प्रकट होने का ज्ञान भी हो, तो प्रयोग की इच्छा नहीं करते हैं। विष्णुकुमार मुनि को ही देख लीजिए, उनको पता ही नहीं था कि उन्हें ऋद्धियाँ प्रकट हुई हैं। उन्हें

तो आचार्य सागरचंद्र के द्वारा जिनदत्त क्षुल्लक के बताने पर पता चला कि उनको ऋद्धियाँ प्रकट हुई हैं। इस कथानक से यह भी स्पष्ट है कि अन्य मुनि अपने दिव्य ज्ञान से अन्य मुनि को प्राप्त ऋद्धि को जान सकते हैं। कदाचित् मुनि को ऋद्धि प्रकट होने का ज्ञान भी हो तो वे ऋद्धि प्रकट होने का अभिमान नहीं करते, किसी भी आधार से मान का पोषण करना मुनि धर्म नहीं है। मुनिधर्म मान का मर्दन करने में हैं, मान का वर्द्धन तो संसार का लक्षण है।

मुनि को ऋद्धि प्रकट होने का ज्ञान भी हो तो प्रयोग करने की इच्छा नहीं होती, क्योंकि ऋद्धियों के प्रयोग से ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। शास्त्रों में मुनि के मुख्यरूप से दो ही कार्य बतायें हैं – एक ध्यान कि सिद्धि दूसरा शास्त्रों का अध्ययन। ध्यान की सिद्धि न हो तो अध्ययन करते हैं। शास्त्रों के अर्थों का चिंतन–मनन करते हैं।

मुनि को ऋद्धियों के प्रयोग की कदाचित् इच्छा भी हो तो जिनदर्शन, जिनालयदर्शन, शंकानिवारण – इन तीन प्रयोजनों से ही होती है। इससे यह समझ में आता है कि शक्तियों का उपयोग धर्म के लिए ही करना चाहिए।

उक्त प्रकरणानुसार यह भी समझ में आया कि ऋद्धि (शक्ति) की महिमा नहीं है, महिमा तो विरक्ति की है, क्योंकि विरक्ति से ही ध्यान सिद्धि तथा निर्वाण प्राप्ति तथा ऋद्धियों की प्राप्ति भी होती है।

ऋद्धियों को जानने के बाद चौथी बात यह भी समझ में आयी कि ''सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्'' – सामान्य ज्ञान से विशेष ज्ञान बलवान होता है। विशेष रूप से इनको पढ़ने पर शास्त्रश्रद्धान में दृढ़ता अधिक होती है।

ऋद्धियों के ज्ञान से पाँचवीं बात समझ में आयी कि ऋद्धियाँ प्रकट होंगी तब होंगी, नहीं होनी हैं तो नहीं होंगी, जिनको प्रकट हैं, वे पूजनीय व नमस्करणीय हैं। आराध्य व आदर्श हैं। आदर्श भी ऋद्धि के कारण नहीं

परन्तु ऋद्धि के प्रति उनकी विरक्ति के कारण से। ऋद्धियों के प्रति मुनिराजों की दृष्टि उदासीनताभरी होती है। ऋद्धियाँ चाहे जितनी शक्तियों से युक्त हो, वे प्रकट हो या न हो, मुनि उनके प्रति उदासीन ही रहते हैं, वे किंचित् भी राग युक्त नहीं होते हैं।

ऋद्धियों को पढ़ने के बाद छठी बात यह समझ में आयी कि ऋद्धियों का वर्णन केवलज्ञान के अनुसार है, केवलज्ञानगम्य है। ऋद्धियों के ज्ञान से केवलज्ञान का श्रद्धान होता है, क्योंकि अणिमा ऋद्धि से मुनि अणु जितने छेद में बैठकर चक्रवर्ती जितनी सेना की रचना कर सकते हैं। अनुमान यह कि किसी मुनिराज ने ऐसा नहीं किया होगा, क्योंकि इस प्रकार का कार्य कुतूहल भरा है और मुनि कुतूहल भरे कार्य नहीं करते हैं। किसी मुनिराज ने ऐसा कार्य नहीं किया होगा तो यह कैसे पता चला कि मुनि की अणिमा ऋद्धि में ऐसी शक्ति होती है? उसका उत्तर यह है कि ऐसी शक्ति अणिमा ऋद्धि में होती है – यह केवलज्ञान से जाना गया है और केवलज्ञानी ने उसे बताया है। उसी के अनुसार ऋद्धियों का वर्णन बाहर आया, गणधरों ने उसकी शब्द रचना की, आचार्यों ने शास्त्रों में लिखा। अर्थात् केवलज्ञान के अनुसार ही ऋद्धियों का वर्णन है।

ऋद्धियों को जानने के बाद सातवीं बात यह समझ में आयी कि किसी भी आगम-अभ्यासी को एक बार ऋद्धियों को विस्तार से जानने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

इनके अध्ययन के बाद या अध्ययन से पहले अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं, जैसे क्या ऋद्धियाँ चौंसठ ही हैं?

उसका उत्तर है कि ऋद्धियाँ जाति अपेक्षा आठ हैं। या ऐसा भी कह सकते हैं कि मूल ऋद्धियाँ जाति अपेक्षा आठ हैं – बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, बल, तप, औषध, रस और अक्षीण। किसी-किसी शास्त्र में क्रिया और विक्रिया को परस्पर मिलाकर मूल ऋद्धियाँ सात कही हैं। इनके उत्तर भेद

अनेक हैं। वीरसेनाचार्य तो चारित्र के फल में प्रकट होनेवाली ऋद्धियाँ असंख्यात कहते हैं, उनके अनुसार चूंकि चारित्र असंख्यात प्रकार का होता है, अतः ऋद्धियाँ भी असंख्यात प्रकार की होती हैं। जैसे चारित्र ऋद्धि में इतना तो पढ़ा कि चारण ऋद्धिधारी भूमि से ऊपर भूमि को न छूते हुए चलते हैं, असंख्यात योजनों तक चल सकते हैं, जल आदि पर चलते हैं, ऋद्धिधारियों के गमन से किसी जीव की न हिंसा होती है, न किसी जीव को पीड़ा होती है, न किसी जीव को बाधा होती है, परन्तु उनकी गति कितनी होती है? एक समय में कितने योजन जाते है? क्या सभी चारण ऋद्धिधारियों की गति समान होती है या भिन्न-भिन्न होती है? - यह सब पढ़ने में नहीं आया है। जैसे औषध ऋद्धियों से मनुष्यों के, तिर्यंचों के रोग दूर होते हैं - यह पढ़ने में आया; परन्तु कितने क्षेत्र के जीवों के रोग दूर होते हैं? यह पढ़ने में नहीं आया। दूसरी बात सभी मुनियों की औषध ऋद्धियाँ समान शक्तियाँ होती हैं या भिन्न-भिन्न शक्तिवाली होती हैं? यह भी अनुत्तरित है।

यह भी हो सकता है कि ऋद्धि पर शास्त्र लिखा हो और काल दोष से आज वह शास्त्र उपलब्ध नहीं हो या किसी पोथीखाने में दबा हो! परन्तु जो भी हो आज जो उपलब्ध है, वह भी पर्याप्त है।

जो है, उसका अध्ययन करें - इसकी आवश्यकता है।

षट्खण्डागम की धवला टीका में, तिलोयपण्णत्ती में, तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय तीन सूत्र 36 आर्याम्लेच्छाश्च, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थसार आदि टीकाओं में चारित्रसार आदि ग्रन्थों में ऋद्धियों के स्वरूप का वर्णन मिलता है। मुख्यरूप से इन्हीं ग्रन्थों के आधार से संकलन के रूप में यह वर्णन लिखा है। उन आचार्यों का अनंत-अनंत उपकार हैं। उनके श्रम की सफलता इनके अध्ययन से है।

इसलिए परिणामों की विशुद्धि के लक्ष्य से इसलिए अध्ययन करें - इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

*****

(14) चौंसठ ऋद्धियाँ

ऋद्धिसार

ऋद्धि का अर्थ वैभव - सम्पत्ति है। वैभव चाहे शरीर शक्ति आदिरूप लौकिक हो, चाहे आत्मा के गुणों के निर्मल परिणमनरूप अलौकिक हो, उसका चरमोत्कर्ष वीतरागता के साथ होता है।

ऋद्धियों से ज्ञान में विशेषता, निर्मलता प्रकट होती है। साथ ही शरीर में शक्ति, विक्रिया आदि गुण प्रकट होते हैं। उन शारीरिक गुणों का मोक्षमार्ग में योगदान नहीं होता है, क्योंकि आत्मस्थिरता के बिना गुणस्थानों की वृद्धि या पूर्णता नहीं होती है। आत्मस्थिरता वह अंतरंग पुरुषार्थ से होती है, ऋद्धियों से नहीं होती। ऋद्धियों का मोक्षमार्ग से सीधा या परोक्ष कोई संबंध नहीं है - यह तथ्य जितना सत्य है, उतना ही सत्य यह तथ्य है कि मोक्षमार्गी परम, पूर्ण संयमी मुनिराजों को ही ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं।

परिणामों में वैराग्य हो तो व्यवहार में विकार नहीं होता है। मुनिराजों के परिणाम वैराग्यपूर्ण होने से उनको ऋद्धियों के प्रयोग की इच्छा नहीं होती है। फिर भी कुछ ऋद्धियाँ तो बाहर से अन्य लोगों के अनुमान योग्य हो ही जाती हैं। जैसे दीप्त तप ऋद्धि, जिसमें शरीर की कान्ति बढ़ती है, श्वास की सुगंध चारों ओर फैलती है। दीप्त तप जैसी अनेक ऋद्धियाँ अनुमान योग्य होती हैं।

ऋद्धि संबंधी कुछ तथ्य इसप्रकार हैं -

● ऋद्धियाँ पूर्ण संयमी भावलिंगी मुनिराजों को ही प्रकट होती हैं। देवों के अणिमादि ऋद्धियाँ कही हैं, वे वैक्रियक शरीर की विशेषताएँ हैं।

● विक्रिया चक्रवर्ती, देव, नारकी, अग्निकायिक, वायुकायिक जीवों के भी पायी जाती हैं, इन सबके वे ऋद्धि नहीं हैं। वह उनके शरीर की वैसी विशेषता मात्र है।

● कोष्ठ-बीज-पद संभिन्नसंश्रोतृ - इन चार बुद्धि ऋद्धियों द्वारा ही गणधर शास्त्रों की रचना करते हैं, इनके अभाव में शास्त्रों की रचना असंभव है।

● औषधि आदि ऋद्धियों से जिनधर्म की यथायोग्य प्रभावना होती है।

● ऋद्धियाँ पूर्व जन्मों के या वर्तमान जन्म के सातिशय पुण्य का फल हैं।

● ऋद्धियाँ कर्मों के क्षय, क्षयोपशम, उदय से प्रकट होती हैं, यह उपचार है।

● ऋद्धियाँ प्रचुर वीतरागता के सहचरी पुण्य से प्रकट होती हैं – यह निश्चय है।

● ऋद्धियाँ स्वतः प्रकट होती हैं, इनकी इच्छा करनेवाले को कदापि प्रकट नहीं होती हैं।

● ऋद्धिधारी मुनिराजों को अर्घ्य समर्पण करने में सामान्य मुनियों को भी अर्घ्य समर्पित हो जाता है। जैसे मुखिया के निमंत्रण में परिवार का निमंत्रण गर्भित होता है।

● अर्घ्य का समर्पण ऋद्धि को देखकर नहीं, अपितु ऋद्धि के प्रति उनकी विरक्ति को देखकर किया जाता है; क्योंकि शक्ति होने पर कषाय नहीं करना मुनि की महानता ही है, शक्ति की नहीं।

● ऋद्धि से कर्मनिर्जरा रूप मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

● ऋद्धि आत्मपुरुषार्थ की सिद्धि नहीं करती है।

● ऋद्धियाँ सातिशय पुण्य का फल होने से विस्मयकारी होती हैं।

● ऋद्धियों को जानने-समझने से वीतरागी मुनियों की महिमा आती है।

● आत्मा की विशुद्धि का निमित्त पाकर सातिशय पुण्य ऋद्धियों के रूप में प्रकट होता है।

● विशुद्धिरूपी बीज ही ऋद्धिरूपी मधुर फल के रूप में समक्ष आता है।

● ऋद्धि का लक्ष्य करने से जीव को पाप का ही बंध होता है।

● ऋद्धि का प्रकट होना सातिशय पुण्य का लक्षण है।

● ऋद्धि से लक्ष्य हटाकर अनंतानंत गुणमय चैतन्यपिंड का लक्ष्य करने से कर्मनिर्जरा होती है।

(16) चौंसठ ऋद्धियाँ

ऋद्धि

बुद्धि ऋद्धि	क्रिया ऋद्धि	विक्रिया ऋद्धि	बल ऋद्धि	तप ऋद्धि	औषध ऋद्धि	रस ऋद्धि	अक्षीण ऋद्धि
केवलज्ञान	चारण आकाशगामी	अणिमा	मन	दीप्त	आमर्ष	अमृतस्रावी	महानस
मनःपर्ययज्ञान	जल	महिमा	वचन	तप्त	क्ष्वेल	मधुस्रावी	आवास
अवधिज्ञान	जंघा	लघिमा	काय	उग्र	जल्ल	घृतस्रावी	
कोष्ठ	अनल	गरिमा		महा	मल	क्षीरस्रावी	
बीज	श्रेणी	आप्ति		घोर	विट्	दृष्टिविष	
पद	फल	प्राकाम्य		घोर पराक्रम	सर्व	आस्यविष	
संभिन्नश्रोतृत्व	पुष्प	ईशत्व		अघोर गुण	दृष्टिनिर्विष		
दूरस्पर्शन	बीजांकुर	वशित्व		ब्रह्मचारिता	आस्यनिर्विष		
दूररसन	तंतु	अप्रतिघात्व					
दूरघ्राण		अंतर्धानत्व					
दूरश्रवण		कामरूपित्व					
दूरदर्शन							
प्रज्ञाश्रमण							
प्रत्येकबुद्धत्व							
दशपूर्वित्व							
चतुर्दशपूर्वित्व							
वादित्व							
महानिमित्तत्व							
18 +	8+1=9+	11 +	3+	7+	8+	6+	2=64

अध्याय–1
ऋद्धिभूमि

।। ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।।

।। मंगलाचरणम् ।।

(शार्दूलविक्रीडितम्)

ये सर्वौषध–ऋद्धयः सुतपसां, वृद्धिङ्गता पञ्च ये,
ये चाष्टांग महानिमित्त–कुशला, येऽष्टाविधाश्चारणाः।
पञ्चज्ञानधरास्त्रयोऽपि बलिनो, ये बुद्धि–ऋद्धीश्वराः,
सप्तैते सकलार्चिता गणभृतः, कुर्वन्तु नः मङ्गलम्।।[1]

अर्थ – जो सर्व औषध ऋद्धियों के धारी, जो पाँच[2] प्रकार के तपों की वृद्धि को प्राप्त अर्थात् तप ऋद्धियों के धारी, जो अष्टांग महानिमित्तों में कुशल अर्थात् अष्टांग महानिमित्त ऋद्धि के धारी, जो आठ प्रकार की चारण ऋद्धियों के धारी, पाँच इन्द्रियज्ञान संबंधी ऋद्धियों के धारी अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान – इन पाँच ज्ञानों की ऋद्धियों के धारी, जो तीन बल ऋद्धियों के धारी, जो बुद्धि ऋद्धियों के धारी – ये सात प्रकार के ऋद्धिधारी गणभृत अर्थात् गणधर या आचार्य, जो सभी भक्तगणों से पूजित हैं; वे हमारा मंगल करें।

1. सर्व औषध ऋद्धियों के धारी 2. तप ऋद्धिधारी 3. अष्टांग महानिमित्त ऋद्धिधारी 4. आठ चारण ऋद्धियों के धारी 5. पाँच ज्ञानों की ऋद्धि के धारी 6. बल ऋद्धियों के धारी 7. बुद्धि ऋद्धियों के धारी – ये सात ऋद्धिधर जो गण अर्थात् संघ के आराध्य होते हैं, वे (गणधर) हमारा मंगल करें।

---

1. वृहद् आध्यात्मिक पाठ संग्रह, मंगलाष्टक, श्लोक–5, पृष्ठ 10
2. सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात।

(2) चौंसठ ऋद्धियाँ

जिनागम में ऋद्धियों का वर्णन बहुत चर्चित है। पुराणों में[1], कथासाहित्य में, पूजनादि के प्रसंग में इनकी चर्चा होती है। ऋद्धियों की चर्चा रोचक है। ऋद्धियाँ क्या हैं? यह जानने की जिज्ञासा भी होती है।

यहाँ जिज्ञासा है कि जिनागम में कितने स्थानों पर ऋद्धियों की चर्चा है?

उसका समाधान यह है कि जिनागम में ऋद्धियों की चर्चा पाँच प्रसंगों में आयी है –

1. तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि को ग्रहण कर सकने की सामर्थ्यवाले गणधरों के प्रसंग में।
2. मनुष्यजाति के भेद-प्रभेदों के प्रसंग में।
3. मदों के भेदों के प्रसंग में।
4. महाव्रतियों के भेद-प्रभेदों के प्रसंग में।
5. पूजा-पाठ के प्रसंग में।

उक्त वर्णन का विस्तार इसप्रकार है –

पहले प्रसंग के अनुसार तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि तभी खिरती है, जब गणधर की उपस्थिति होती है। भगवान महावीर के केवलज्ञान तथा समवसरण की रचना होने के बाद छियासठ (66) दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी। सौधर्म इन्द्र के द्वारा अवधिज्ञान से जानकर, युक्तिबल से गणधरत्व के योग्य इन्द्रभूति को लाया गया, तब उनकी दिव्यध्वनि खिरी थी।[2]

गणधरों के 1. कोष्ठबुद्धि ऋद्धि 2. बीजबुद्धि ऋद्धि 3. पदबुद्धि ऋद्धि 4. संभिन्नसंश्रोतृत्वबुद्धि ऋद्धि – ये चार बुद्धिऋद्धियाँ नियम से होनी ही चाहिए या होती ही हैं; क्योंकि इन बुद्धियों के बिना दिव्यध्वनि ग्रहण की सामर्थ्य नहीं होती है।

---

1. आचार्य जिनसेन, महापुराण, पर्व-2, पृष्ठ 35-37, श्लोक 65-73
2. षट्खंडागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ 120

ऐसा क्यों है? इसको मूल से तथा विस्तार से जानने के लिए धवला ग्रंथ के खण्ड-4, पुस्तक-1 के प्रारंभ के सूत्रों का अध्ययन करें तथा इसी पुस्तक में उस-उस ऋद्धि के प्रसंग पर भी चर्चा की जायेगी।

ऋद्धियों की चर्चा का दूसरा प्रसंग मनुष्यों के भेद-प्रभेदों[1] का अवसर है।

तत्त्वार्थ सूत्र के तीसरे अध्याय के 36 वें सूत्र में मनुष्य दो प्रकार के बताये हैं -

आर्या म्लेच्छाश्च।[2]

अर्थ - मनुष्य दो प्रकार के होते हैं - 1. आर्य मनुष्य[3] और 2. म्लेच्छ मनुष्य[4]।

उक्त सूत्र की टीकाओं में उक्त दो प्रकार के मनुष्यों के अन्य और भी भेद-उपभेद बताये हैं। जैसे - आर्य मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं -

1. ऋद्धिप्राप्त आर्य, 2. अनृद्धि (बिना ऋद्धिवाले) आर्य।

अनृद्धि प्राप्त आर्य मनुष्य पाँच प्रकार के होते हैं -

1. क्षेत्रार्य 2. जात्यार्य 3. कर्मार्य 4. चारित्रार्य 5. दर्शनार्य।

---

1. मनुष्यों के भेद-प्रभेदों को जानने के लिए चार्ट देखें।
2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, श्लोक-2, पृ.371
3. **गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः।**

   अर्थ - गुणों से या गुणवन्तों से सेवित मनुष्यों को आर्य मनुष्य कहते हैं।

   सद्गुणैरर्यमाणात्वाद्गुणवद्भिश्च मानवैः।
4. जिन जातियों में या मनुष्यों में मद्य, मांस आदि सेवन रूप कुकर्मों से घृणा नहीं है; धर्म-अधर्म का, भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक नहीं है, धर्म को व्रत समझकर नहीं पालते हैं, उनको म्लेच्छ या म्लेच्छ जाति मनुष्य कहते हैं।

(4) चौंसठ ऋद्धियाँ

मनुष्यों के भेद-प्रभेदों का चार्ट इसप्रकार है -

इनके और भी प्रभेद हैं। क्षेत्रार्य और जात्यार्य के प्रभेद नहीं, परन्तु कर्मार्य के तीन, चारित्रार्य के दो भेद तथा दर्शनार्य के दस प्रभेद हैं।[1]

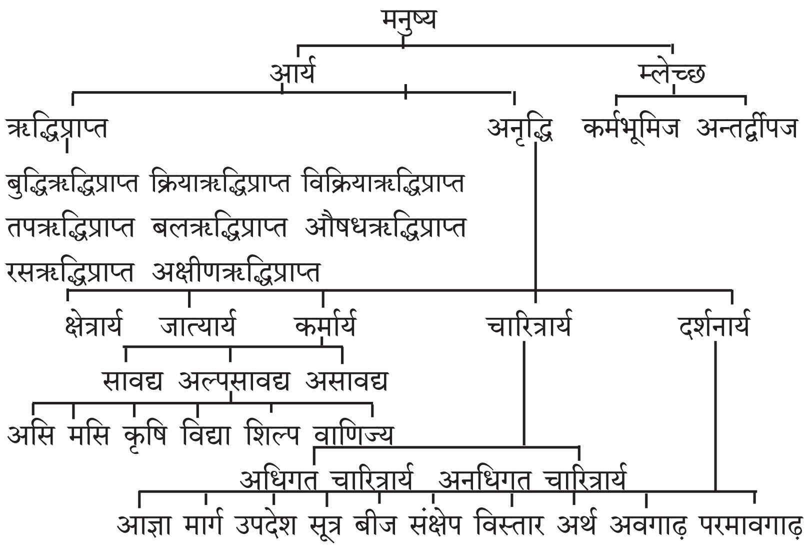

1. आर्य – गुणों या गुणवानों के द्वारा जिनकी सेवा की जाती है, उनको आर्य कहते हैं।

2. म्लेच्छ – जिनके मद्य, मांस आदि कुकर्मों से घृणा नहीं, धर्म-अधर्म, भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक नहीं, धर्म का पालन नहीं; उनको म्लेच्छ कहते हैं।

3. ऋद्धिप्राप्त आर्य – जिनको ऋद्धि या ऋद्धियाँ प्रकट हुई हैं, उनको ऋद्धिप्राप्त आर्य कहते हैं। ऋद्धिप्राप्त आर्यों को ऋषि भी कहते हैं।[2]

---

1. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धिः, अध्याय-3, सूत्र-35, पृष्ठ-229
2. चर्चासंग्रह, चर्चा-161, पृष्ठ-68

4. अनृद्धि आर्य – जिनको ऋद्धि प्रकट नहीं है, ऐसे आर्य को अनृद्धि आर्य कहते हैं।

5. कर्मभूमिज म्लेच्छ – कर्मभूमि में उत्पन्न म्लेच्छ को कर्मभूमिज म्लेच्छ कहते हैं।

6. अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ – लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र के तटों पर छियानवें (96) द्वीप हैं, उन्हें अन्तर्द्वीप कहते हैं। उन अन्तर्द्वीपों में पूँछवाले, सींगवाले आदि विकृत आकृतिवाले मनुष्य निवास करते हैं, वे अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहलाते हैं।

7. क्षेत्रार्य – उत्तम देशों में उत्पन्न मनुष्य आर्यक्षेत्र की अपेक्षा से क्षेत्र आर्य कहलाते हैं। कौशल, काशी आदि उत्तम देशों में उत्पन्न मनुष्यों को क्षेत्रार्य कहते हैं।

8. जात्यार्य – उत्तम कुलों में उत्पन्न मनुष्यों को जाति या कुलार्य कहते हैं। इक्ष्वाकु, हरिवंश आदि उत्तम कुलों में उत्पन्न मनुष्यों को जात्यार्य कहते हैं।

9. कर्मार्य – सावद्य, अल्प सावद्य, असावद्य – इन तीन प्रकार के कर्मों को न्याय, नीति, धर्मानुकूल आचरणेवाले आर्यों को कर्मार्य कहते हैं। गृहस्थ सम्यग्दृष्टि या भद्र मिथ्यादृष्टि सावद्य कर्मार्य कहलाते हैं, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक या आर्यिका अल्पसावद्य आर्य हैं, मुनि असावद्य आर्य कहलाते हैं।

10. चारित्रार्य – चारित्रमोह के उपशम, क्षयोपशम, क्षय से जो वीतराग भाव को प्राप्त करते हैं; वे चारित्रार्य कहलाते हैं।

11. दर्शनार्य – दर्शनमोह के उपशम, क्षयोपशम, क्षय से जो सम्यग्दर्शन को प्राप्त होते हैं, वे दर्शनार्य कहलाते हैं।

(6) चौंसठ ऋद्धियाँ

आर्यों का दूसरा भेद ऋद्धिप्राप्त आर्यों का है।

राजवार्तिककार के अनुसार ऋद्धिप्राप्त आर्यों के आठ भेद हैं –

ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधा भवन्ति, बुद्ध्यादिविकल्पात्।[1]

आचार्य माघनंदी योगीन्द्र के अनुसार भी ऋद्धियों के आठ भेद होने से उनके धारण करनेवालों के भी भेद आठ ही हैं –

अष्टौ ऋद्धयः।।55।।[2]

अर्थ – आठ ऋद्धियाँ होती हैं। बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण के भेद से ऋद्धियाँ आठ हैं। इन्हीं ऋद्धियों के आधार पर आर्यों के आठ भेद कहे हैं –

1. बुद्धिऋद्धिप्राप्त 2. क्रियाऋद्धिप्राप्त 3. विक्रियाऋद्धिप्राप्त 4. तपऋद्धिप्राप्त 5. बलऋद्धिप्राप्त 6. औषधऋद्धिप्राप्त 7. रसऋद्धिप्राप्त 8. अक्षीणऋद्धिप्राप्त आर्य।

क्रिया और विक्रिया को एक मानकर आचार्य विद्यानंदीजी ने ऋद्धियों के और ऋद्धिप्राप्त आर्यों के सात भेद बताये हैं –

प्राप्तर्द्धीतरभेदेन तत्रार्या द्विविधाः स्मृताः।
सद्गुणैरर्यमाणत्वाद्गुणवद्भिश्च मानवैः।।2।।

तत्र प्राप्तर्द्धयः सप्तविधर्द्धिमधिसंसृताः।
बुद्ध्यादिसप्तधा नाना विशेषास्तद्विशेषतः[3]**।।3।।**

अर्थ – आर्य मनुष्यों में ऋद्धिप्राप्त तथा बिना ऋद्धिप्राप्त (ऋद्धि

---

1. आचार्य अकलंक, अध्याय 3, सूत्र–36, पृष्ठ 20
(भारतीय ज्ञानपीठ, छठा संस्करण–2001)

2. माघनंदी योगीन्द्र, शास्त्रसार समुच्चय, चरणानुयोग वेद, सूत्र–55

3. आचार्य विद्यानंद, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, पृष्ठ 37
(आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, सन् 1964)

रहित) दो प्रकार के आर्य मनुष्य कहे गये हैं। (क्रिया ऋद्धि तथा विक्रिया ऋद्धि का परस्पर में अन्तर्भाव करके ऋद्धिप्राप्त आर्यों के सात भेद कहे हैं। यहाँ मात्र भाषाभेद है, वस्तुभेद नहीं है।) सद्गुणों के द्वारा या गुणवान मनुष्यों के द्वारा सेवित मनुष्य को आर्य मनुष्य कहते हैं। ऋद्धिप्राप्त आर्य मनुष्य सात प्रकार के हैं। अपने-अपने भेद-प्रभेदों से अनेक विकल्पों से वे ऋद्धियाँ बुद्धि, क्रिया आदि सात प्रकार की कही गयी हैं।

उक्त सभी कथनों का सारांश इतना-सा ही है कि ऋद्धियों की चर्चा मनुष्यों के भेद-प्रभेदों के प्रकरण में होती है।

तीसरा प्रकरण वह है, जहाँ सम्यग्दर्शन के 25 दोषों की चर्चा है। उन दोषों में आठ दोष मद संबंधी हैं। उन आठ दोषों में एक दोष ऋद्धिमद है -

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः।।25।।[1]

अर्थ - नष्टमद गणधर ने मद आठ प्रकार का कहा है -

1. ज्ञान 2. पूजा 3. कुल 4. जाति 5. बल 6. ऋद्धि 7. तप और 8. शरीर। इन आठों का आश्रय करके जो मानीपना होता है, उसे मद कहते हैं।

इन मदों के भेदों में ऋद्धि शब्द का प्रयोग मुख्यपने धन-सम्पत्ति के अर्थ में ही है, परन्तु गौणपने विद्याधरों या देवादिक की ऋद्धि के अर्थ में भी हो सकता है; क्योंकि मिथ्यादृष्टि विद्याधर या मिथ्यादृष्टि देवों को प्राप्त विद्याओं, ऋद्धियों (शक्तियों) के मद की पूर्ण संभावना है।

यहाँ इतना ही समझना था कि ऋद्धि शब्द का प्रयोग सम्यग्दर्शन के दोषरूप मदों के प्रसंग में भी हुआ है।

---

1. आचार्य समंतभद्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अध्याय प्रथम, पृष्ठ 48 (सदासुख ग्रंथमाला, अजमेर, द्वितीय आवृत्ति, सन् 1997)

(8) चौंसठ ऋद्धियाँ

चौथा प्रकरण या प्रसंग वह है, जहाँ अनगार[1] (महाव्रतियों) के भेद-प्रभेद बताये हैं।

साधु, भिक्षु, महाव्रती, अनगार, सकलव्रती – ये सब पर्यायवाची नाम हैं। आचार्य माघनन्दी योगीन्द्र के अनुसार भिक्षु चार प्रकार के होते हैं[1]–

भिक्षुश्चतुर्विधः।।30।।[2]

अर्थ – 1. यति 2. मुनि 3. ऋषि 4. अनगार – ये चार प्रकार भिक्षुओं के हैं।

इनमें यति दो प्रकार के होते हैं –

यतयो द्विविधाः।।31।।[3]

अर्थ – 1. क्षपक श्रेणी आरोहक और 2. उपशम श्रेणी आरोहक – ये यतियों के दो भेद हैं। इसका अर्थ यह है कि श्रेणी आरोहक को **यति** कहा जाता है।

मुनि के तीन भेद हैं –

मुनयस्त्रिविधाः।।32।।[4]

अर्थ – 1. अवधिज्ञानी 2. मनःपर्ययज्ञानी 3. केवलज्ञानी – ये तीन प्रकार के मुनि होते हैं। महाव्रती विशेष ज्ञानी को **मुनि** कहते हैं। विशेष ज्ञान के कारण से केवलज्ञानी को भी मुनि कहा गया है।

ऋषि चार प्रकार के हैं –

ऋषयश्चतुर्विधाः।।33।।[5]

अर्थ – 1. राजर्षि 2. देवर्षि 3. परमर्षि 4. ब्रह्मर्षि[6] – ये चार भेद ऋषियों के हैं। जिन महाव्रतियों को ऋद्धिप्राप्त होती हैं, उनको **ऋषि** कहते हैं।

---

1. परिग्गहरहिओ णिरायारो।
परिग्रह रहित को अनगार कहते हैं। – आचार्य कुन्दकुन्द, सूत्रपाहुड़, गाथा-19
2-5. माघनंदी योगीन्द्र, शास्त्रसार समुच्चय, चरणानुयोगवेद, सूत्र-30 से 33
6. आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ – इन दश प्रकार के मुनियों में ऋषि-यति-मुनि-अनगार के समूह को संघ कहते हैं।

इनमें विक्रिया ऋद्धि तथा अक्षीण ऋद्धि प्राप्त महाव्रतियों को **राजर्षि** कहते हैं। आकाशगामी ऋद्धिप्राप्त महाव्रतियों को **देवर्षि**[1] कहते हैं। लोक में इन्हें **नारद** कहते हैं। केवलज्ञानऋद्धि प्राप्त अरहंतों को **परमर्षि** कहते हैं। बुद्धि ऋद्धि तथा औषधि ऋद्धिप्राप्त महाव्रतियों को **ब्रह्मर्षि** कहते हैं।

उनमें राजर्षि भी दो प्रकार के हैं –

तत्र राजर्षयो द्विविधाः।।34।।[2]

अर्थ – 1. विक्रिया ऋद्धिप्राप्त 2. अक्षीण ऋद्धिप्राप्त – ये दो भेद राजर्षियों के हैं।

ब्रह्मर्षि भी दो प्रकार के हैं –

अर्थ – ब्रह्मर्षयश्च।।35।।[3]

1. बुद्धिऋद्धिप्राप्त 2. औषधिऋद्धिप्राप्त – ये दो भेद ब्रह्मर्षियों के हैं।

उक्त यति, मुनि, ऋषि तीनों से भिन्न अट्ठाईस मूलगुणधारी की **अनगार** यह सामान्य संज्ञा है।

उक्त चर्चा का आशय यह है कि महाव्रती, अनगार, साधुओं के भेद-प्रभेदों के अवसर पर ऋद्धियों की चर्चा आयी है।

तथा पाँचवाँ वह प्रसंग है, जहाँ ऋद्धियों की चर्चा है, वह है पूजन का प्रसंग। पूजा-पीठिका में चाहे नित्य-पूजन हो या नैमित्तिक-पूजन हो, परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ[3] बोलकर ऋद्धिप्राप्त मुनिराजों का स्मरण कर पुष्पक्षेपण या अर्घ्य समर्पित किया जाता है।

---

1. पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग में लौकान्तिक देव होते हैं। वे विषय-भोगों से विरक्त ब्रह्मचारी होते हैं। चौदह पूर्वों के ज्ञाता तथा इन्द्र आदि देवों से पूजनीय होते हैं। उन्हें भी देवर्षि कहा जाता है।

2-3. माघनंदी योगीन्द्र, शास्त्रसार समुच्चय, चरणानुयोगवेद, सूत्र-34-35

3. **नित्याप्रकम्पाद्भुतकेवलौघाः –** यह पाठ लगभग सभी पूजनों की पुस्तकों में है।

(10) चौंसठ ऋद्धियाँ

इसके अलावा मन्वादि सप्तर्षियों को भी अर्घ्य समर्पित करते हैं, वे भी ऋद्धिधारी मुनि हैं।[1] इसप्रकार पूजन के प्रसंग पर भी ऋद्धियों की चर्चा पायी जाती है।

तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का प्रसंग, मनुष्यों के भेद-प्रभेदों का प्रसंग, मदों के भेदों का प्रसंग, महाव्रतियों के भेद-प्रभेदों का प्रसंग तथा पूजन का प्रसंग – इस प्रकार पाँच प्रसंगों पर ऋद्धियों की चर्चा होती है।

इसके अलावा फुटकर, परंतु प्रसिद्ध कथा-प्रसंगों पर भी ऋद्धियों की चर्चा आयी है। जैसे आचार्य कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धि प्राप्त थी[2], जिसकी सहायता से वे विदेहक्षेत्र में सीमंधर तीर्थंकर के समवसरण में गए थे। रक्षाबंधन-पर्व की कथा में विष्णुकुमार मुनि की विक्रिया ऋद्धि की चर्चा है[3], विक्रिया ऋद्धि के द्वारा उन्होंने अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर आये हुए उपसर्ग का निवारण किया था। सिद्धान्तों की चर्चा के अवसर पर भी इस तरह का विषय आता है। जैसे मुनियों के लिए यह सामान्य नियम है कि चातुर्मास में एक स्थान पर ही रहे, परंतु ऋद्धिधारी मुनि इसके अपवाद हैं। नीहार के प्रसंग पर ऋद्धि की चर्चा है।

प्रश्न – नीहार किन-किन के नहीं होता है?

उत्तर – तीर्थंकर, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, त्रेसठ शलाका पुरुष, युगलिया मनुष्य व (युगलिया) तिर्यंच, तीर्थंकर के माता-पिता, लब्धिधारी (ऋद्धिधारी), मुनि, केवली, देव, नारकी – इनके आहार होता है, परंतु नीहार नहीं होता है।[4]

---

1. सुरमन्यु, श्रीमन्यु, श्रीनिचय, सर्वसुंदर, जयवान, विनयलालस, जयमित्र – ये सप्तर्षि हैं।
सुरमन्युद्वितीयश्च श्रीमन्युरिति कीर्तितः। अन्यः श्रीनिचयो नाम तुरीयः सर्वसुन्दरः।।
पंचमो जयवान् ज्ञेयः षष्ठो विनयलालसः। चरमो जयमित्राख्यः सर्वरचरित्रसुन्दराः।।
– पद्मपुराण, पर्व-92, श्लोक 2-3, पृष्ठ-176

2. श्रवणबेलगोला, शिलालेख, श्लोक-105
3. पण्डित रायमल्लजी, चर्चा संग्रह, चर्चा-43, पृष्ठ-17
4. हरिवंशपुराण, सर्ग-22

तित्थयरा तप्पियरा हलहरचक्कीइ वासुदेवा हि।
पडिवासु भोगभूमिय आहारो णत्थि णीहारो।।[1]

यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि ऋद्धिधारी के आहार तो होता है, परंतु नीहार नहीं होता है। – ऐसे ही अनेक प्रसंग जिनागम में आये हैं, जहाँ ऋद्धियों की चर्चा हुई है।

ऋद्धि और ऋद्धिधारियों का अस्तित्व

यहाँ शंका है कि ऋद्धि या ऋद्धिधारी होते हैं – यह कैसे स्वीकार करें? क्योंकि अणु जितना शरीर बना लेना या मेरु से भी बड़ा शरीर बना लेना; छोटे से स्थान में असंख्य जीवों का निर्बाध बैठ जाना; निमित्तों से धन, मृत्यु आदि को जान लेना – इत्यादि कार्य वर्तमान में प्रत्यक्ष संभव नहीं लगते – इसलिए बुद्धि स्वीकार नहीं करती है। इसलिए ऋद्धि या ऋद्धिधारी का अस्तित्व कैसे स्वीकार करें?

उसका समाधान करते हुए श्री विद्यानन्द स्वामी लिखते हैं –

संभाव्यन्ते च ते हेतुर्विशेषवशवर्तिनः।
केचित्प्रकृष्यमाणात्मविशेषत्वात्प्रमाणवत्।।[2]

अर्थ – (ते) कितने ही आर्य, **(हेतुर्विशेषवशवर्तिनः)** अपने-अपने विशेष हेतुओं की अधीनता से वर्तते हुए, **(संभाव्यन्ते)** संभावित हो रहे हैं, **(केचित्प्रकृष्यमाणात्मविशेषत्वात्)** तारतम्य मुद्रा के अनुसार प्रकर्ष को प्राप्त हो रहे अपने-अपने विशेष स्वरूपों के धारक होने से, लंबाई, चौड़ाई, मोटाई रूप विशेषताओं को धारनेवाले परिणाम के समान, **(प्रमाणवत्)** प्रमाण ज्ञान के समान।

---

1. अष्टपाहुड़, भावबोधपाहुड़, गाथा-32 की संस्कृत टीका में उद्धृत
2. आचार्य विद्यानंदी, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय तीन, सूत्र संख्या-37, श्लोक संख्या-4

(12) चौंसठ ऋद्धियाँ

इस श्लोक में अनुमान प्रमाण का प्रयोग है, वह इसप्रकार है – ऋद्धिप्राप्त आर्य – **पक्ष** है; अपने-अपने हेतुओं की अधीनता से संभावित हो रहे हैं – **साध्य** है; तारतम्य मुद्रा के अनुसार प्रकर्ष को प्राप्त हो रहे अपने-अपने विशेष स्वरूपों के धारक होने से – **हेतु** है; लंबाई, चौड़ाई, मोटाई रूप विशेषताओं को धारणवाले परिणाम के समान – **अन्वयदृष्टांत** है; प्रमाण ज्ञान के समान – **दृष्टांत** है।

इसे विस्तार से जानते हैं – जैसे पर-पदार्थों की अपेक्षा न्यून होते-होते तथा आत्मविशुद्धि के बढ़ते-बढ़ते ज्ञान में प्रमाणता (वृद्धि) बढ़ती जाती है, उसीप्रकार जीवों में ऋद्धियाँ-शक्तियाँ भी बढ़ती जाती हैं।

ज्योतिषशास्त्र, भूशास्त्र, स्वरशास्त्र आदि को अल्प मात्रा में जाननेवाले आजकल भी पाये जाते हैं।

एक विद्यार्थी किसी ग्रंथ को पहली बार पढ़ता है तो उसे पहली बार यदि आठ माह लगते हैं तो दूसरी बार में वह उस ग्रंथ को एक माह में पढ़ लेता है, तीसरी बार में आठ दिन में पढ़ लेता है, चौथी बार में परिशीलन करता हुआ एक दिन में पूरा पढ़ लेता है, वही विद्यार्थी परीक्षाकाल में अन्तर्मुहूर्त में ही ग्रंथ के प्रमेय को जान लेता है। अभ्यास से इसप्रकार के कार्य संभव हैं। उदाहरण में अभ्यास को कारण बताया है, वैसे ऋद्धियों में बाह्य-कारणों में तपविशेष, कर्मों का क्षय या उपशम तथा अंतरंग कारण में आत्मा की विशुद्धि इत्यादि कारण हैं, जिनसे ऋद्धियाँ अवश्य प्रकट होती हैं।

कबूतर के, बिच्छू के मल-मूत्र में कितनी ही लाभदायक शक्तियाँ हैं। हर्ष अवस्था में या व्यायाम करने पर शरीर फूल जाता है; चिंता, शोक अवस्था में शरीर कृष हो जाता है, शारीरिक वायु को वशकर प्राणायाम द्वारा अनेक चमत्कार देखते जाते हैं, आकाश में या जल में मनुष्य का चलना बन सकता है।

वशीकरण मंत्रादि के द्वारा जीवों को वश में कर लेना कोई अशक्य

नहीं है। कई साधुओं की घोर तपस्या भी प्रसिद्ध है। मांत्रिक, तांत्रिक पुरुषों के द्वारा देखने मात्र से ही विष उतर जाते हैं। जब लोक में रागियों के द्वारा लौकिक चमत्कार-पूर्ण कार्य किए देखे जाते हैं, तब वीतरागी उत्कृष्ट तपस्या व विशुद्धिवाले तपस्वी मुनियों के उत्कृष्ट प्रकार की शक्तिरूप ऋद्धियाँ पाये जाने में कोई शंका नहीं होनी चाहिए।

जड़ परमाणु धीमी गति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक एक समय में जाता है, वही जड़ परमाणु एक समय में तीव्र गति से चौदह राजू तक गमन करता है। जब जड़ में ऐसी चमत्कारिक शक्ति पायी जाती है, तब अनन्त शक्ति-पुंज आत्मा में या ऋद्धियों में उक्त प्रकार की चमत्कारिक, अचिंत्य शक्ति सिद्ध होने में कोई परेशानी दिखाई नहीं देती।

पूर्वोक्त प्रत्यक्ष, अनुमानादि से बुद्धि की अतिशयरूप विशेष ऋद्धि या विक्रिया विशेष ऋद्धि, बल ऋद्धि आदि को धारण करनेवाले आर्य मनुष्य हो सकते हैं - यह सिद्ध होता है।

इसप्रकार से अनुमान प्रमाण से ऋद्धियों की सिद्धि होती है तथा वर्तमान में उपलब्ध सर्वज्ञ के आगम प्रमाण से भी ऋद्धियों की प्रसिद्धि है। अर्थात् ऋद्धियों के अस्तित्व की अनुपपत्ति नहीं है। वही कहा है -

वर्तमान काल के आचार्य कुन्दकुन्द की चारण ऋद्धि सुप्रसिद्ध है।

ऋद्धि या ऋद्धियों का अस्तित्व सिद्ध होने के बाद ऋद्धि शब्द का अर्थ, ऋद्धि किसे कहते हैं? ऋद्धि किस कारण से प्रकट होती है? ऋद्धि के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप चतुष्टय, ऋद्धि के नोकर्म अर्थात् आश्रयभूत पदार्थ, ऋद्धि के भेद-प्रभेदों अर्थात् ऋद्धियों की संख्या तथा स्वरूप पर भी विचार करना चाहिए; क्योंकि इन आधारों या द्वारों से बुद्धिरूपी महल में ऋद्धि ज्ञान पहुँच जायेगा। आचार्य विद्यानंदीजी के ऋद्धि-सिद्धि वचन निम्न हैं -

सर्वजघन्यज्ञानादिगुणर्द्धिविशेषादारभ्यर्द्धिविशेषः प्रकृष्य-माणस्वरूपं परमप्रकर्षपर्यन्तमाप्लवन्नन्तरालर्द्धिविशेषप्रकर्षं साधयतीति

संभाव्यन्ते सर्वे बुद्ध्यतिशयर्द्धिविशेषादयः परमागमप्रसिद्धाश्चेति न किंचिदनुपपन्नम्।[1]

।। ऋद्धि शब्द का अर्थ ।।

व्याकरणशास्त्र के अनुसार ऋध् धातु से भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय जोड़ने पर ऋद्धि शब्द का निर्माण होता है।

ऋध् धातु के विकास, वृद्धि, विस्तार, विभूति, अतिप्राकृतिक शक्ति, सफलता, सम्पन्नता, बहुतायत, सर्वोपरिता, समृद्ध होना, फलना-फूलना, तृप्त करना इत्यादि अनेक अर्थ हैं। यह धातु परस्मैपदी है। दिवादिगण तथा स्वादिगण में इसका परिगणन है। ऋध्यति, ऋध्नोति - ये दो इसके प्रारंभिक रूप हैं।

धन-सम्पत्ति आदि लौकिक वैभव को भी ऋद्धि कहते हैं; परन्तु जिस भाव या अर्थ की दृष्टि से इस अनुशीलन में ऋद्धि शब्द का प्रयोग किया है, उस भाव या अर्थ में यहाँ धन-सम्पत्ति आदि लौकिक वैभव का ग्रहण नहीं है; क्योंकि यहाँ -

कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम, क्षय तथा उदय से अपने आप प्रकट होने वाली आत्मा की अचिंत्य शक्ति तथा आत्मा के निमित्त से शरीर की अचिंत्य शक्ति जो कि मात्र संयमियों को ही प्रकट होती है, उसे ऋद्धि कहा गया है।

कार्य दो प्रकार के होते हैं - सामान्य कार्य और असामान्य कार्य। सामान्य कार्य को सभी रोजमर्रा की जिंदगी में देखते ही हैं। असामान्य कार्यों को शास्त्रों से जान सकते हैं या किसी के कहने से जानते हैं या प्रत्यक्ष देखने से जानते हैं। असामान्य कार्यों को कोई अतिशय कहते हैं, कोई चमत्कार कहते हैं; उन्हीं को यहाँ ऋद्धि शब्द से कहा गया है।

सामान्यतया जो कार्य देखे नहीं जाते, वैसे कार्यों को करने की शक्ति को ऋद्धि कहते हैं। जैसे बिना पढ़े ज्ञान होना देखा नहीं जाता, परंतु बुद्धि-

---

1. आ. विद्यानन्दि, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-37, खंड-5, पृ.373

ऋद्धि में बिना पढ़े ही ज्ञान होता देखा जाता है। न केवल ज्ञान होता है, अपितु कालान्तर में न भूलने की शक्ति, अनेक भाषाओं में एक ही ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति बिना अभ्यास के ही पायी जाती है।

लोक में बिना दवाई के रोग नष्ट होते नहीं देखे जाते, परंतु औषधि ऋद्धि में ऋद्धिधारी मुनिवर के शरीर से स्पर्शित हवा से ही रोग दूर हो जाते हैं।

शास्त्रों में मनुष्य के शरीर की ऊँचाई उत्कृष्टपने तीन कोस की बताई है। विक्रिया ऋद्धि में छोटे-से शरीर को या शरीर के किसी उंगली आदि एक अंग को सुमेरु पर्वत जितना अर्थात् एक लाख योजन जितना बड़ा बनाया जा सकता है। या विक्रिया ऋद्धि से बड़े शरीर को अणु जितना छोटा किया जा सकता है। जल पर भूमि की तरह चलना, पर्वत में से बिना बाधा के निकल जाना, इसप्रकार सामान्यतया जो कार्य देखे नहीं जाते, ऐसे कार्यों को कर सकने की शक्ति को यहाँ ऋद्धि कहा गया है।

।। ऋद्धि की प्रकटता के कारण ।।

उक्त प्रकार की शक्तियाँ या ऋद्धियाँ कैसे प्रकट होती हैं? ऐसी जिज्ञासा हो तो उसका समाधान यह है कि उक्त प्रकार की शक्तियाँ या ऋद्धियाँ मुनियों को भावों की विशेष विशुद्धि से ध्यान अवस्था में प्रकट होती हैं। जन्म-जन्मान्तर के या वर्तमान जन्म के भावों की विशेष विशुद्धि से अर्जित सातिशय पुण्य-कर्म के फलस्वरूप ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं।

पूर्वोपार्जित पुण्य-प्रकृतियों के विशिष्ट उदय, क्षयोपशम या क्षय से ऋद्धि या ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं। वही कहा है –

"विशुद्ध परिणामों के माहात्म्य से नाना प्रकार की ऋद्धियाँ स्फुरायमान होती हैं।"[1]

निमित्त की अपेक्षा ऋद्धियों की उत्पत्ति का कारण कर्मों का क्षय, क्षयोपशम तथा उदय है।

1. पंडित रायमल्लजी, चर्चा संग्रह, पृष्ठ-121

यहाँ इतना अवश्य जानना कि सातिशय-पुण्य का उदय किसी भी जीव के हो सकता है। जैसे इन्द्र के भी सातिशय पुण्य का उदय होता है। विशल्या के भी विशेष-पुण्य का योग था, जिसके शरीर से स्पर्शित हवा या जल से घातक शक्तियाँ या महामारी जैसे रोग भी नष्ट हो जाते थे, परंतु यहाँ इन्द्र, विशल्या आदि की ये विशेष प्रकार की शक्तियों को ऋद्धि नहीं कहा गया है; क्योंकि ऋद्धियाँ महासंयमियों के ही होती हैं। दूसरा तथ्य यह भी है कि इन्द्र, विशल्या आदि की शक्तियों से असंख्य गुणी शक्ति महामुनि की ऋद्धियों में होती है। इसलिए असंयमियों से असंख्यात गुणी अधिक शक्ति को ही ऋद्धि कहते हैं।

ऋद्धियों का चतुष्टय –

यहाँ **प्रश्न** – क्या ऋद्धियों का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप चतुष्टय होता है?

उसका **उत्तर** है कि हाँ, ऋद्धियों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होते हैं।

ऋद्धियों का द्रव्य तो कर्मभूमि के आर्यखण्ड का सकल संयमधारी विशेष तपस्वी भावलिंगी महामुनि है। ऋद्धियाँ असंयमी के नहीं होती हैं। प्रत्येक पूजन के प्रारंभ में भी परमर्षियों को ही अष्टद्रव्यमय अर्घ्य समर्पित किया जाता है तथा असंयमियों को नहीं।[1] इसलिए अणुव्रती ऋद्धियों का द्रव्य नहीं है, क्योंकि अणुव्रती के अष्ट द्रव्यमय पूज्यता की पात्रता नहीं होती। उसके ऋद्धियाँ नहीं हुआ करती हैं।

ऋद्धियों के क्षेत्र चार हैं – 1. जीव की सम्यग्ज्ञान पर्याय 2. मुनिराज का शरीर 3. मुनिराज के आहार का स्थान और 4. मुनिराज को आहार देने के बाद बचा हुआ आहार। अथवा व्यवहार से पैंतालीस लाख योजन जितना चौड़ा तथा सुमेरुक्षेत्र जितना ऊँचा मनुष्य क्षेत्र इन ऋद्धियों का क्षेत्र है।

सुखमा-सुखमा आदि छह कालों में दुखमा-सुखमा नामक चौथा काल मुख्यपने ऋद्धियों का काल है। चौथे काल में जन्मा महाव्रती पंचम काल में मुनि हो तो इस अपेक्षा गौणपने दुखमा नामक पंचम काल भी इन ऋद्धियों का काल है। पंचम काल में जन्मे मनुष्य सकलसंयम तो धारण कर

---

1. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ती, गाथा-1537

सकते हैं, परंतु उनके ऋद्धियाँ प्रकट नहीं होती हैं।[1] कहा भी है –

अतो चारणमुणिणो, देवा विज्जहरा य णायंति।
संजम गुणाहियाणं, मणुयाण विरामदोसण।।[2]

अर्थ – (इस दुषमा पंचमकाल में) संयम गुणों से हीन मनुष्यों के कारण चारण मुनि, (स्वर्गादि के) देव, विद्याधर नहीं आते हैं। न ही चारण ऋद्धिधारी मुनि आते हैं।

पंचम काल में शुक्लध्यान नहीं होता, देवों का आगमन नहीं होता, ऋद्धियाँ प्रायः प्रकट नहीं होतीं[3], मोक्ष नहीं होता, सातवें नरक में गमन भी नहीं होता। आत्मध्यान के काल में ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं। इसलिए आत्मध्यान का काल उत्पत्ति की अपेक्षा से ऋद्धियों का काल है।

भावलिंगी महाव्रती के परिणामों की विशेष विशुद्धि ही ऋद्धियों का भाव है। इसप्रकार ऋद्धियों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव जानना।

ऋद्धियों के गुणस्थान

ऋद्धियाँ छठे-सातवें आदि ऊपर के गुणस्थानों में प्रकट होती हैं। छठे से तेरहवें तक के गुणस्थान ऋद्धियों के गुणस्थान हैं।

ऋद्धिधारी को ही अर्घ्य का समर्पण क्यों? –

पूजन में ऋद्धिधारियों को अर्घ्य चढ़ाते हैं, सामान्य अर्थात् ऋद्धिरहित मुनियों को नहीं – ऐसा क्यों है?

---

1. कुन्दकुन्द आदि के चारण ऋद्धि प्राप्त थी। इससे यह जानना कि पंचम काल में अपवादरूप से किसी-किसी के ऋद्धि हो सकती है, सामान्यपने नहीं।
2. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ती, गाथा-1537
3. **जं दिट्ठइं रयणइं रयवहइं, तं मणिउलाइं मलसंगहइं।**
पंचमजुगि रिद्धिविवज्जियइं, होहोंति सइंदिय विवज्जियइं।।
अर्थ – जो धूल-धूसरित मणिरत्न देखे हैं, वे मल से सहित मुनिकुल हैं। पंचम काल में वे ऋद्धियों से रहित स्वेन्द्रिय चेतना (विद्या) वाले होंगे।
– आचार्य पुष्पदंत महापुराण, भाग-2 संधि 19, छंद-12, पृष्ठ-12

इसका उत्तर यह है कि पूजन में ऋद्धिधारियों को जब अर्घ्य समर्पित करते हैं, तब उसमें ऋद्धिरहित सामान्य मुनियों का ग्रहण हो ही जाता है, क्योंकि विशेष में सामान्य का अन्तर्भाव हुआ करता है। इसलिए ऋद्धिधारियों के अर्घ्य समर्पित करने में ऋद्धिरहित मुनि भी गर्भित जानना। असंयमी वंदनीय नहीं होता।[1] ऋद्धिधारी नियम से वंदनीय ही होते हैं।

तो फिर परमर्षि कहकर अर्घ्य क्यों समर्पित किया? इसका समाधान यह है कि –

सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।

अर्थ – सामान्य शास्त्र से विशेष बलवान् होता है।

यहाँ विशेष की बलवत्ता किसप्रकार है?

यहाँ ऋद्धियों को प्राप्त मुनियों की बलवत्ता इसप्रकार है –

पहली बात यह है कि भावों की विशेष विशुद्धि तथा तपस्या की विशेष अधिकता के कारण ऋद्धि प्रकट होती है। भाव-विशुद्धि तथा तपोबल विशेष के कारण ऋद्धिधारी मुनि सामान्य मुनि से विशेष होते हैं।

दूसरी बात यह है, ऋद्धिधारी मुनियों को अर्घ्य समर्पित करने की कि ऋद्धिधारी मुनि ही हमारे आदर्श हैं, क्योंकि वे मुनि ऐसी अचिंत्य-शक्ति के होने पर भी विरक्त भाव के कारण उनका प्रयोग नहीं करते हैं। यहाँ यह अवश्य समझना चाहिए कि संसार से विरक्त, वीतराग भाव का उपासक जो पूजक है, वह ऋद्धियों को देखकर उनको अर्घ्य समर्पित नहीं करता है, अपितु अचिंत्य-शक्ति होने पर भी उनकी विरक्ति रहती है, उस विरक्ति, वीतरागता को देखकर ऋद्धिधारियों को अर्घ्य समर्पित करता है।

ऋद्धिधारी मुनिराज अचिंत्य-शक्ति होने पर भी उसका **प्रयोग** नहीं

---

1. **असंजदं ण वंदे।** आचार्य कुन्दकुन्द, दर्शन पाहुड, गाथा-26 तथा अष्टपाहुड़, मोक्षपाहुड़ गाथा-93, पृष्ठ-331
2. आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, पर्व-73, पृष्ठ-435

करते, न ही ऋद्धि होने का **अभिमान** करते हैं, ''ऋद्धि प्रकट हुई है या नहीं'' – ऐसा **ज्ञान** भी नहीं करते हैं।

मुनि ऋद्धि का प्रयोग नहीं करते, क्योंकि ऋद्धियों के प्रयोग से मोक्षमार्ग की सिद्धि या मोक्षमार्ग की पूर्णता रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। ऋद्धि प्रकट होने पर उसका अभिमान नहीं करते, क्योंकि ऋद्धि का अभिमान करना मुनिधर्म नहीं है। ऋद्धि की प्राप्ति पुण्य का उदय अवश्य है। परंतु मुनि को पुण्य के उदय में रस नहीं होता है, ''मुझे ऋद्धि प्राप्त है या नहीं है'' – ऐसा ज्ञान भी नहीं करते, क्योंकि ऋद्धियाँ मोक्षमार्ग में अप्रयोजनभूत हैं। ऋद्धियाँ प्रकट करना मुनि-जीवन का लक्ष्य भी नहीं होता।

ऋद्धियों के लक्ष्य से ऋद्धियाँ तीन काल में प्रकट नहीं होती हैं। आत्मध्यान में विशेषरूप से लीन रहनेवाले मुनियों को ही ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं।

जिन मुनि भगवन्तों को ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं, वे ऋद्धि में या ऋद्धि के रस में रमण नहीं करते हैं, वे निश्चय से अतीन्द्रिय चैतन्य में तथा व्यवहार से चैतन्य के रस में ही रमण करते हैं। दूसरी बात यह भी है कि जैसे पुण्यफला अरहन्ता, वैसे ऋद्धियाँ पुण्यफला हैं अर्थात् पुण्य का फल हैं।

ऋद्धियाँ कौन-से पुण्य का फल हैं? ऐसा पूछने पर समाधान यह है कि जब मुनि अपने स्वरूप तथा स्वरूप के रस में डूबे रहते हैं, तब उस समय कषायों का रस बहुत ही मंद हो जाता है, उस समय का वह बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक शुभ परिणाम लोकोत्तर जाति का होता है, उस लोकोत्तर जाति के शुभ परिणाम रूप पुण्य के फल में ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं।

निरालक्ष्यी शुभपरिणाम सातिशयता का धनी होता है। अचिंत्य शक्तिवाला होता है। लोकोत्तर होता है। ध्यानकाल में शुभपरिणाम निरालक्ष्यी होता है। जब वह चरम विशुद्धिमय होता है, तब ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं।

ऋद्धियों में अचिंत्य-शक्ति होती है, परन्तु उस शक्ति में ऐसी शक्ति नहीं है कि उससे कर्मों की निर्जरा हो सके या ऐसी शक्ति भी नहीं होती कि

उसके आधार से आत्मध्यान किया जा सके। ऋद्धियों में मोक्षप्रदान करने की शक्ति नहीं होती, ऋद्धियाँ मोक्ष नहीं दिला सकतीं, निकट भविष्य में मोक्ष जानेवाले उग्र पुरुषार्थी मुनियों को ही प्रकट होती हैं – ऐसा नियम भी नहीं है; क्योंकि मुनि भरत चक्रवर्ती, मुनि शिवभूति इत्यादि अनेक मुनियों के उदाहरण हैं, जो मोक्ष गए, परन्तु उनके प्रत्यक्ष ऋद्धियाँ प्राप्त नहीं थीं।

मुनि ऋद्धि का प्रयोग करते हैं या नहीं –

यहाँ पुनः शंका होती है कि यह सही है कि सम्यग्दृष्टि जीव ऋद्धियों की इच्छा नहीं करते[1], परंतु यदि किसी मुनि को ऋद्धि प्रकट हो तो वे मुनि ऋद्धि का प्रयोग करते हैं या नहीं?

इस शंका का समाधान यह है कि पहले कहा था कि मुनि ऋद्धि का प्रयोग नहीं करते हैं – यह सत्य है, परंतु कदाचित् मुनि तीन प्रयोजनों से ऋद्धियों का प्रयोग करते भी देखे जाते हैं, यदि उसप्रकार का विकल्प हो तो। प्रथम प्रयोजन यह कि मुनि को तत्त्वविचार में किसीप्रकार की शंका हो, उसके निवारण के लिए ऋद्धि का प्रयोग करते हैं। जैसे कुन्दकुन्द तत्त्व को विशेषपने जानने के लिए विदेहक्षेत्र में चारण ऋद्धि के द्वारा गए थे।

अन्य मुनि के संयम या संयमियों की रक्षा – इस दूसरे प्रयोजन से ऋद्धि का प्रयोग करते देखे जाते हैं। जैसे विष्णुकुमार मुनि के द्वारा अकम्पनाचार्यादि की रक्षा के लिए विक्रिया-ऋद्धि का प्रयोग किया था।[2] यहाँ यह जान लेना चाहिए कि इस ऋद्धि के प्रयोग के समय मुनि विष्णुकुमार, मुनि नहीं थे[3], अपितु उनको मुनिपने का त्याग करके गृहस्थपना अपनाना पड़ा था। विशेष

---

1. भावपाहुड़, गाथा 130-131, पृ. 242-243
2. भूधरदास, चर्चा-समाधान, पृष्ठ-49 तथा आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण-सर्ग 20, पृष्ठ 298-303
3. जैसे विष्णुकुमार ने मुनियों का उपसर्ग दूर किया, वह धर्मानुराग से किया, परंतु मुनिपद छोड़ यह कार्य करना योग्य न था। – पंडित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-8, पृष्ठ-274

बात यह रही कि गृहस्थपने में भी उनकी ऋद्धि बनी रही। मुनि विष्णुकुमार का गृहस्थपना प्रमाद के कारण से नहीं था। किसी विशेष प्रयोजन के कारण था, जिसे हम वात्सल्यभाव या **न धर्मो धार्मिकैर्विना** का भाव भी कह सकते हैं। यदि मुनि विष्णुकुमार का गृहस्थपना प्रमाद के कारण से होता तो उनकी ऋद्धि भी चली जाती, क्योंकि ऋद्धि परिणामों की विशुद्धि का फल है। विशुद्धि नष्ट हो जाये तो कारण के नष्ट होने पर कार्य नष्ट होता है - इस नियम के अनुसार ऋद्धि भी नष्ट होती। इसका अर्थ यह हुआ कि भले ही किसी प्रयोजनविशेष से मुनिपना छोड़ना पड़े, परंतु ऋद्धिलायक विशुद्धि परिणामों में रहे तो गृहस्थपने में भी प्रयोजनपूर्ति काल तक ऋद्धि का अस्तित्व रह सकता है।[1] यद्यपि इसप्रकार का कार्य गृहस्थों के द्वारा किया जाना चाहिए था, गृहस्थों का यह कार्य था; इसलिए मुनि विष्णुकुमार के द्वारा मुनिपने में नहीं, अपितु गृहस्थपने में किया गया था। इस कार्य में विक्रिया ऋद्धि का प्रयोग हुआ था।

इस दूसरे प्रयोजन में यह ध्यातव्य है कि स्वयं पर कोई उपसर्ग हो रहा हो, तब मुनि उपसर्ग दूर करने के लिए ऋद्धि का प्रयोग नहीं करते हैं, अपितु उपसर्ग को परीषहजय चारित्र के द्वारा जीतते हैं।

तथा ऋद्धि का प्रयोग तीर्थंकर-वंदना, तीर्थ-वंदना, अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालय के दर्शन के भाव - इस तीसरे प्रयोजन से भी होता है।

उक्त प्रयोजनों की पूर्ति आहारक शरीर के द्वारा भी होती है। इसलिए यहाँ **शंका** होती है कि जिन मुनियों को आहारक शरीर प्राप्त हों और क्रिया आदि ऋद्धियाँ भी प्राप्त हों, उससमय उन मुनियों के द्वारा तत्त्वसंबंधी शंका-निवारण, विशेष तत्त्वजिज्ञासा, तीर्थंकर-वंदना, तीर्थ-वंदना के कार्य किए जाते हैं, वे कार्य आहारक शरीर से किए माने या विक्रिया ऋद्धि से किए माने?

उसका **समाधान** यह है कि जब मुनि का विकल्प मूल शरीर सहित

1. षट्खण्डागम, खण्ड-1, भाग-4, पुस्तक-4, पृष्ठ 44-45

जाकर उक्त कार्यों को करने का हो, तब वहाँ ऋद्धियों के प्रयोग के अलावा अन्य उपाय नहीं है अर्थात् वहाँ वे कार्य चारण ऋद्धि के आश्रय से ही संभव हैं। जब मुनि का विचार मूल शरीर सहित जाने का न हो, तब वहाँ वे कार्य आहारक शरीर के द्वारा संभव है। यह तो मुनि के विचार पर निर्भर होता है कि उनका विकल्प किसप्रकार का है। यदि दोनों अर्थात् आहारक शरीर की प्राप्ति तथा क्रिया ऋद्धि की भी प्राप्ति हो, वहाँ क्रिया ऋद्धि के द्वारा गमन में असंयम की संभावना है तथा आहारक शरीर की गति तो क्रिया ऋद्धि की गति से अधिक होती है, परंतु मुनि को तो आहारक शरीर से सिर्फ तपकल्याणक में ही जाने का विकल्प होता है।

दूसरी बात यह भी जानने योग्य है कि धवलाकार ने आहारक शरीर की शक्ति की प्राप्ति को आहार ऋद्धि कहा है –

संयमविशेषजनिताहारकशरीरोत्पादनशक्तिराहारर्द्धिरिति।[1]

अर्थ – संयम-विशेष से उत्पन्न आहारक शरीर को उत्पन्न करने की शक्ति को आहार-ऋद्धि कहते हैं।

इसप्रकार अर्थात् आहारक शरीर को आहार-ऋद्धि मानने पर उक्त कार्यों को ऋद्धियों से सम्पन्न कह सकते हैं।

उक्त कथनों का अंत में सारांश यह है कि 1. तत्त्व में शंका या तत्त्व को विशेष जानने की जिज्ञासा हो, 2. तीर्थंकर-वंदना, तीर्थ-वंदना का भाव हो 3. अन्य साधर्मी के संयम या संयमियों की रक्षा का भाव हो, (यद्यपि यह भाव मुनिपद के योग्य नहीं है) तो ऋद्धियों का प्रयोग मुनिराज के द्वारा किया जाता है। मुनि ऋद्धि का प्रयोग करने के बाद उसका प्रायश्चित्त भी करते हैं। जैसे विष्णुकुमार मुनि ने भी किया था।

यहाँ पुनः प्रश्न है कि ऋद्धियों का प्रयोग इच्छापूर्वक होता है या बिना इच्छा के?

---

1. धवला, पुस्तक-1, खण्ड-1, भाग-1, सूत्र-90, पृष्ठ-268

उसका उत्तर यह है कि मुनि उक्त तीनों प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए ऋद्धियों का प्रयोग इच्छापूर्वक ही करते हैं, क्योंकि इच्छा के अभाव में उक्त प्रकार के कार्यों की सिद्धि का अभाव है।

ऋद्धियों में से कुछ ऋद्धियों का प्रयोग इच्छापूर्वक ही होता है, जैसे बुद्धि-ऋद्धियों में अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, इन्द्रिय ज्ञान संबंधी दूरास्वादन आदि, महानिमित्तत्व, वादित्व ऋद्धियाँ; सभी क्रिया, विक्रिया ऋद्धियाँ, सभी बल ऋद्धियाँ, रस ऋद्धियों में दृष्टिविष और आस्यविष ऋद्धियाँ - ये ऐसी ऋद्धियाँ हैं, जिनका प्रयोग इच्छापूर्वक ही होता है। शेष ऋद्धियों का प्रयोग मुनि की इच्छा के बिना ही होता है।

शुभ ऋद्धियों का प्रयोग तो मुनि के इच्छा अथवा बिना इच्छा के होता है, परंतु अशुभ ऋद्धि का प्रयोग मुनि की इच्छा (भाव) से ही होता है।

दृष्टिविष तथा आस्यविष - इन दो अशुभ ऋद्धियों का प्रयोग मुनि के भीतर कषाय विशेष उत्पन्न होने पर ही होता है।

आशय यह है कि ऋद्धियाँ सातिशय पुण्य के उदय से अपने आप प्रकट होती हैं। इनका उपयोग अर्थात् प्रयोग तीन प्रकार से इच्छापूर्वक, कषायपूर्वक तथा अपने आप स्वयं ही होता है।

ऋद्धियाँ मुनियों के ही होती हैं -

यहाँ जिज्ञासा है कि ऋद्धियों में वर्णित शक्तियाँ अन्यत्र सर्वार्थसिद्धि के देवादिक के पुण्य में भी कही हैं। जैसे सर्वार्थसिद्धि के देवों में तीन लोक उठा लेने की सामर्थ्य है, प्रथम स्वर्ग के इन्द्र में जम्बूद्वीप पलटने की शक्ति है।[1] क्या इनमें कायबल ऋद्धि नहीं है? देवों में स्वभाव से ही अणिमादि शक्तियाँ पायी जाती हैं; क्या ये ऋद्धियाँ नहीं हैं? लौकिक में किसी स्त्री-पुरुष के सर्प-बिच्छू का विष चढ़ा हो तो वह मंत्र से उतर जाता है।[2] क्या उस मांत्रिक

---

1. पं. रायमल्लजी, चर्चा संग्रह, चर्चा-41, पृष्ठ-16
2. पं. रायमल्लजी, चर्चा संग्रह, चर्चा-108, पृष्ठ-43

में वचन-बल ऋद्धि नहीं है? विद्याधरों का विद्याओं का ज्ञान, भिन्न दशपूर्वी मुनि का शास्त्रज्ञान - क्या ये बुद्धि ऋद्धि नहीं है?

उक्त जिज्ञासा का सामान्य समाधान यह है कि जहाँ जिनत्व नहीं है, वहाँ ऋद्धियाँ नहीं होती हैं। वहाँ शक्तियाँ पुण्य के फल से हैं, वह ऋद्धियों का फल नहीं है।

प्रश्न - वहाँ जिनत्व क्यों नहीं है?

उत्तर - क्योंकि, वहाँ संयम का अभाव है। जहाँ संयम नहीं होता है, वहाँ जिनत्व भी नहीं होता है। वही लिखा है -

ण च देवाणं जिणत्तमत्थि तत्थ संजमाभावादो।[1]

अर्थ - स्वर्गादिक चार निकाय के देवों में जिनत्व नहीं है; क्योंकि उनमें संयम का अभाव है।

धवलाकार के अनुसार जिनको नमस्कार किया जाता है, उनमें जिनत्व होना चाहिए। जहाँ संयम नहीं है, वहाँ जिनत्व नहीं होता है। जहाँ जिनत्व नहीं है, वहाँ ऋद्धियों का अस्तित्व नहीं है।

ऐसा क्यों है?

क्योंकि ऋद्धियों में अचिंत्य-शक्ति होती है। वह अचिंत्य-शक्ति सकल निर्दोष संयम तथा विशेष-विशुद्धि के साथ ही रह सकती है। अचिंत्य-शक्ति का निवास निर्दोष संयम तथा विशेष-विशुद्धि में ही होता है। उस अचिंत्य-शक्ति को ही ऋद्धि कहा है। ऋद्धियों में ही अचिंत्य-शक्ति होती ही है।

ऋद्धियों की अचिंत्य-शक्ति -

सर्वार्थसिद्धि के देवों में तीनों लोक उठाने की शक्ति होती है। ऋद्धिधारी मुनि में तीनों लोक को उठाने की शक्ति से भी अनंत गुणी शक्ति होती है। वही लिखा है -

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-77

तीर्थंकर भगवान और बललब्धि ऋद्धिधारी मुनियों में तीन लोक उठा लेने की शक्ति से भी अनन्तगुणी शक्ति होती है।[1]

ऋद्धियों की अचिंत्य शक्ति को अणिमा ऋद्धि से भी जान सकते हैं– अणिमा से देवों के द्वारा शरीर अणु जितना ही बनाया जा सकता है। मुनि अणिमा ऋद्धि के द्वारा अणु प्रमाण छेद में शरीर सहित प्रवेश कर सकते हैं, न केवल प्रवेश कर सकते हैं, अपितु वहाँ प्रवेश करके बैठ करके उस अणु प्रमाण छेद में चक्रवर्ती की सेना की रचना कर सकते हैं, जो देवों के द्वारा असंभव है। वही लिखा है –

अणुतणुकरणं अणिमा अणुच्छिद्दे पविसिदूण तत्थेव।
विकरदि खंदावारं णिएसमवि चक्कवट्टिस्स।।[2]

तत्राणुशरीरविकरणमणिमा विसछिद्रमपि प्रविश्याऽऽसित्वा तत्र च चक्रवर्तिपरिवारविभूतिं सृजेत्।[3]

इसलिए विद्याधर, देवादिक की शक्ति से ऋद्धियों की शक्ति को अनंत गुणी जानना। देवादिक की शक्तियों व परिग्रहादिक को ऋद्धि कहा है, वह सामान्य से अधिक की अपेक्षा से उपचार से कहा है।

प्रस्तुत विषय में पूर्ण संयमी को प्राप्त अचिंत्य शक्ति को ही ऋद्धि कहा है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में ऋद्धि को भी निमित्त कहा है, वहाँ देवादिक की शक्ति व परिग्रहादि को ऋद्धि शब्द से जानना तथा यहाँ यह जानना भी जरूरी है कि देवादिक के पुण्य का कारण पूर्व में धर्म की आराधना जान कर, धर्म की महिमा होने पर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, देवों के परिग्रह मात्र को देखने से सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं होता है।

जिसके मंत्र से सर्प–बिच्छू का विष उतर जाता है, उस मांत्रिक में

---

1. चर्चासंग्रह, चर्चा–41, पृ.–16
2. तिलोयपण्णत्ति, भाग–2, श्लोक–1026
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36

वचन-बल ऋद्धि नहीं है। वह सिर्फ मांत्रिक तथा जिसका जहर उतर जाता है, उसके पुण्य का उदय है। वही लिखा है -

"जिसके पुण्य का उदय हो, उसके अज्ञानमय तपश्चरण से भी वचन चलता है तथा उसके नाम के प्रभाव से जिस बात का मंत्र वह जोड़ता है, वही सिद्ध होता है - ऐसा जानना। और जिनमत में भी ऐसे ही अनादिनिधन बीजाक्षर हैं, वे अक्षर आगे-पीछे रखने से जिस-जिस जाति का मंत्र हो, उस-उस कार्य की सिद्धि के लिए वे निमित्त कारण होते हैं और कार्य की सिद्धि होती है - ऐसा वस्तु-स्वरूप जानना।"[1]

विद्याधरों को जो विद्याओं की प्राप्ति तथा उनका ज्ञान है, वह भी बुद्धि ऋद्धि नहीं है, क्योंकि विद्याधरों में संयम नहीं होने से जिनत्व का अभाव है। जहाँ जिनत्व का अभाव होता है, वहाँ ऋद्धियाँ नहीं होती हैं। दूसरा तथ्य यह भी है कि विद्याधरों की विद्याओं को परिग्रह के अन्तर्गत माना है, क्योंकि विद्याधर जब दीक्षा लेते हैं, जब उन्हें विद्याओं का त्याग करना अनिवार्य है। विद्याओं का त्याग करके ही दीक्षा लेते हैं। ऋद्धियाँ अपने आप प्रकट होती हैं, जबकि विद्याएँ अपने आप प्रकट नहीं होती हैं, विद्याओं को मातृपक्ष से या पितृपक्ष से प्राप्त किया जाता है या उनके लिए साधना भी की जाती है।

यह अलग बात है कि विद्याधर मनुष्य विद्याओं का त्याग कर मुनि बना था तथा मुनि बनने के बाद उसे विद्याएँ प्रकट हों, मुनि अवस्था में प्रकट हुई विद्याएँ परिग्रह नहीं मानी हैं। अन्यथा मुनि भी परिग्रही कहलायेंगे।

इसीप्रकार भिन्न दशपूर्वी के भी संयमत्व का अभाव होने से जिनत्व नहीं है, इसलिए उसका ज्ञान भी बुद्धि-ऋद्धि नहीं है। इसीप्रकार अन्यत्र भी जानना।

यहाँ **प्रश्न** है कि भले ही देवादिक में संयम न हो, परंतु अन्य

---

1. चर्चासंग्रह, चर्चा-108, पृष्ठ-49

ज्ञानादिक तो समान हैं। इन्द्र भी ग्यारह अंग का पाठी है।[1] ज्ञान की समानता के कारण उसके बुद्धि-ऋद्धि कहनी चाहिए?

उसका **उत्तर** – यहाँ ऋद्धियों के प्रकरण में सिर्फ तुलना नहीं करनी है, क्योंकि ऋद्धियों की चर्चा पूजन के प्रसंग के कारण तथा नमस्कार के प्रकरण में है। ऋद्धिधारी को अर्घ्य समर्पित अर्घ्य समर्पित करते हैं, वह ज्ञानादिक देखकर नहीं, संयम को देखकर, उनके परिणामों की विशुद्धि देखकर करते हैं। शिवभूति मुनि को ज्ञान का क्षयोपशम विशेष नहीं था, उनको भी अर्घ्य समर्पित किया जाता है। वह उनके संयम के कारण से है, (अल्प) ज्ञान के कारण से नहीं। अभव्यसेन ग्यारह अंग का ज्ञाता था, परंतु संयम के अभाव में उसे अर्घ्य समर्पित नहीं करते हैं।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रादिक के ज्ञान में विस्तार है, विशुद्धि नहीं है। ऋद्धिधारी के ज्ञान में विस्तार भी है और विशुद्धि भी है। ज्ञान के विस्तार से कर्मों की निर्जरा नहीं होती है, ज्ञान की विशुद्धि से कर्मों की निर्जरा होती है तथा इन्द्रादिक भले ही द्वादशांग के पाठी कहे हों तो भी बुद्धि-ऋद्धि धारी के ज्ञान में जो अचिंत्यता है, वह इन्द्रादिक के ज्ञान में नहीं होती है। कैसे?

उसकी विस्तार से चर्चा बुद्धि-ऋद्धियों की चर्चा में करेंगे। तथा कहा भी है –

या सर्वसुखर्द्धिं विस्मयनीयाऽपि सानगारर्द्धेः।
नार्घति सहस्रभागं कोटिशतसहस्रगुणितामपि।।[2]

अर्थ – समस्त देवताओं में प्रधान इन्द्र आदि की जो ऋद्धि होती है, वह आश्चर्यकारी होती है, किंतु यदि उस आश्चर्यकारिणी ऋद्धि को एक लाख कोटि से गुणा किया जावे तो भी वह जो ऋद्धि मुनि को प्राप्त हुई है, उस ऋद्धि के एक हजारवें भाग के समान भी नहीं होती है।

ऋद्धियों की अचिंत्यता तथा उनकी पवित्रता इससे जाननी चाहिए कि

---

1. भक्तामर स्तोत्र, श्लोक-2 सकलवाङ्मयतत्त्वबोधादुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः। ध्यान रहे कि आचार्य मानतुंग ने इन्द्र को संपूर्ण जिनागम का पाठी नहीं कहा, अपितु संपूर्ण जिनागम के तत्त्व को जानने वाला कहा है।
2. प्रशमरति प्रकरण, श्लोक-257

ऋद्धिधारी जहाँ आहार लेते हैं, उस स्थान पर पंचाश्चर्य की वर्षा होती है।

ऋद्धियों की संख्या –

यहाँ जिज्ञासा है कि ऋद्धियाँ कितनी हैं?

उसका **समाधान –** मूल ऋद्धियाँ किन्हीं आचार्यों ने सात तो किन्हीं आचार्यों ने आठ कही हैं। आठ ऋद्धियों के नाम – 1. बुद्धि 2. क्रिया 3. विक्रिया 4. तप 5. बल 6. औषध 7. रस और 8. अक्षीण (क्षेत्र)। किन्हीं आचार्यों ने संख्या न बताकर अनेक बताई हैं। जिन आचार्यों ने सात बताई हैं, उन्होंने क्रिया और विक्रिया को एक माना है। जैसे धवला टीका में लिखते हैं–

लद्धीओ सत्त।[1]

अर्थ – लब्धियाँ अर्थात् ऋद्धियाँ सात हैं।

उनके अनुसार उन सात ऋद्धियों के नाम इसप्रकार हैं –

बुद्धि तवो वि य लद्धी विउव्वणलद्धी तहेव ओसहिया।
रस–बल–अक्खीणा वि य लद्धीओ सत्त पण्णत्ता।।18।।[2]

अर्थ – बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल और अक्षीण – इसप्रकार ऋद्धियाँ सात कही गई हैं।

उक्त ऋद्धियों के नामों में क्रिया ऋद्धि का नाम नहीं है। उन्होंने क्रिया और विक्रिया को एक ही माना है। (पुष्पदंत) भूतबलि आचार्य ने –

णमो चारणाणं।[3]

सूत्र लिखकर चारण ऋद्धिधारियों को नमस्कार किया और टीकाकार ने सूत्र की टीका में क्रिया ऋद्धि के अन्तर्गत आनेवाली जलचारण आदि ऋद्धियों का वर्णन किया है तथा षट्खण्डागमकार ने –

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–58
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–58 पर उद्धृत गाथा
3. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, सूत्र–17, पृष्ठ–78

णमो आगासगामीणं।[1]

सूत्र लिखकर आकाशगामी ऋद्धिधारियों को नमस्कार किया और टीकाकार ने सूत्र की टीका में क्रिया ऋद्धि के अन्तर्गत आनेवाली आकाशगामी ऋद्धि का वर्णन किया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि धवला ग्रंथ में ऋद्धियाँ सात कही हैं, वहाँ उन्होंने क्रिया ऋद्धि को विक्रिया के अन्तर्गत ही माना है।

यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि षट्खण्डागमकार ने 'वेदना' नामक चतुर्थ खण्ड के कृति अनुयोगद्वार की रचना प्रारंभ की, वहाँ मंगलाचरण किया, उस मंगलाचरण में "**णमो ओहिजिणाणं**" से "**णमो अक्खीणमहाणसीणं**" तक 41 सूत्रों में ऋद्धिधारियों को नमस्कार किया है।

आशय यह है कि धवलाकार के अनुसार ऋद्धिधारियों का स्मरण करके भी मंगलाचरण किया जाता है तथा क्रिया-ऋद्धि का अन्तर्भाव विक्रिया-ऋद्धि में होता है।

इसीप्रकार तिलोयपण्णत्तीकार आचार्य यतिवृषभ भी क्रिया को छोड़कर शेष सात ऋद्धियाँ मानते हैं तथा सुस्वरत्व आदि अन्य ऋद्धियाँ भी होती हैं - ऐसा भी कहते हैं।

उनकी मूल गाथा इसप्रकार है -

बुद्धि तव विउवणोसहि-रस-बल-अक्खीण-सुस्सरत्तादी।
ओहि मणपज्जवेहि य हवंति गणबालया सहिया।।[2]

अर्थ - गणधर देव बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, रस, बल, अक्षीण, सुस्वरत्व आदि ऋद्धियों से तथा अवधि व मनःपर्यय ज्ञानों से सहित होते हैं।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-19, पृष्ठ-88
2. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, भाग-2, गाथा-38

(30) चौंसठ ऋद्धियाँ

पद्मप्रभमलधारी देव नियमसार ग्रंथ की टीका में क्रिया को विक्रिया में शामिल कर ऋद्धियों की संख्या सात ही कहते हैं –

बुद्धितपोवैकुर्वणौषधरसबलाक्षीण।[1]

उक्त उद्धरण में वैकुर्वण शब्द से विक्रिया ऋद्धि जानना।

आचार्य विद्यानंदी भी ऋद्धियों के मूल भेद सात ही मानते हैं –

तत्र प्राप्तर्द्धयः सप्तविधर्धिमधिसंसृताः।
बुद्ध्यादिसप्तधा नाना विशेषास्तद्विशेषतः।।[2]

अर्थ – आर्यों में ऋद्धियों को प्राप्त हो चुके मनुष्य तो सात प्रकार की ऋद्धियों पर अधिकार करते हुए ऋद्धियों से संगत हो रहे हैं। अपने-अपने उन भेद-प्रभेदों से अनेक विकल्पों को धार रहीं, वे ऋद्धियाँ बुद्धि, तपादि सात प्रकार की हैं।

इस श्लोक की टीका में जो नाम दिये, उसमें क्रियाऋद्धि को विक्रिया में ही मानकर क्रियाऋद्धि का नाम नहीं दिया है –

बुद्धितपोविक्रियौषधरसबलाक्षीणर्द्धयः सप्त प्रज्ञापिताः।[3]

इसीप्रकार पूज्यपाद स्वामी भी सात ही ऋद्धियाँ मानते हैं –

ऋद्धिप्राप्तार्या सप्तविधाः बुद्धि-विक्रिया-तपो-बलौषध-रसाक्षीणभेदात्।[4]

---

1. नियमसार, गाथा-112 की टीका, पृष्ठ-223
2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पंचम खण्ड, अध्याय-3, सूत्र-36, श्लोक संख्या-3, पृष्ठ-37
3. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पंचम खण्ड, अध्याय-3, सूत्र-36, संस्कृत टीका, पृष्ठ-38
4. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-201

परंतु आचार्य अकलंक ऋद्धियों के मूलभेद आठ मानते हैं –

ऋद्धिप्राप्तार्या अष्टविधाः बुद्धि–क्रिया–विक्रिया–तपो–बलौषध–रसक्षेत्रभेदात्।[1]

अर्थ – बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस, क्षेत्र – इन आठ ऋद्धियों को प्राप्त आर्यों के भेद से ऋद्धिप्राप्त आर्य आठ प्रकार के हैं।

यहाँ क्रिया और विक्रिया को भिन्न–भिन्न माना है। अब तक अंतिम ऋद्धि का नाम अक्षीण पढ़ा था, यहाँ अक्षीण के स्थान पर क्षेत्र बताया है।

आचार्य माघनन्दी योगीन्द्र के अनुसार भी ऋद्धियों के मूल भेद आठ हैं –

अष्टौ ऋद्धयः।[2]

नामों में वे औषध ऋद्धि के स्थान पर भैषज ऋद्धि बताते हैं। भैषज और औषध पर्यायवाची नाम हैं। अन्तिम ऋद्धि अक्षीण ही बताते हैं। जैसे – भैषज और औषध पर्यायवाची शब्द हैं, वैसे अक्षीण और क्षेत्र पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। उन्होंने ऋद्धियों के नाम अन्य सूत्रों में लिखे हैं।

पूजन की एक पुस्तक में अर्घ्यावली में एक छन्द है, जिसमें ऋद्धियाँ आठ बतायी हैं। वह छन्द इसप्रकार है –

(भुजंगप्रयात छन्द)

कही आठ ऋद्धि धरे जे मुनीशं, कहा कार्यकारी बखानी गनीशं।
जल गंध आदि दे, जजो चर्न तेरे, लहों सुख सबेरे हरो दुक्ख मेरे।।[3]

---

1. आचार्य अकलंक, राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–20
2. शास्त्रसार समुच्चय, सूत्र–55
3. पूजन पाठ प्रदीप, श्री ऋषिमण्डल पूजा भाषा, पृष्ठ – 261

श्रुतसागर सूरि भी ऋद्धियों के मूल भेद आठ ही बताते हैं –

ऋद्धिप्राप्ता आर्या अष्टविधाः। के ते अष्टौ विधाः ? बुद्धिः क्रिया विक्रिया तपो बलमौषधं रसः क्षेत्रं चेति।[1]

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठकार भी संभवतः ऋद्धियों के मूलभेद आठ ही मानते प्रतीत होते हैं।

उक्त विवेचन में ऋद्धियों के सुप्रसिद्ध मूलभेद कहीं सात और कहीं आठ बताये हैं, परंतु वहाँ कोई मौलिक अंतर नहीं है, जिन आचार्यादि ने सात भेद बताये हैं, उन्होंने क्रिया ऋद्धि को विक्रिया ऋद्धि या विक्रिया को क्रिया ऋद्धि के अन्तर्गत माना है।

क्रिया ऋद्धि को विक्रिया ऋद्धि के अन्तर्गत मान कर ऋद्धियों के मूलभेद सात मानना चाहिए या फिर क्रिया और विक्रिया को भिन्न-भिन्न मानकर आठ भेद समझना चाहिए।

हाँ, यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए जब आचार्य यतिवृषभ तिलोयपण्णत्ती में सुस्वरत्व आदि अनेक ऋद्धियाँ गणधर देव की बताते हैं तथा अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को बुद्धि ऋद्धि से भिन्न बताते हैं, तब यह विषय विचारणीय हो जाता है कि सुस्वरत्वादि ऋद्धियों को पूर्वोक्त सात या आठ ऋद्धियों में गर्भित मानें या भिन्न मानें, उन्हीं में गर्भित मानें तो सुस्वरत्वादि को कौन-सी ऋद्धि में गर्भित मानें ? उक्त ऋद्धियों में गर्भित नहीं मानें तो ऋद्धियों के मूल भेदों की संख्या सात या आठ न रहकर अधिक हो जायेगी।

रही बात अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान की – ये दोनों ज्ञान बुद्धि ऋद्धियों[2]

---

1. तत्त्वार्थसूत्र की तत्त्वार्थवृत्ति टीका, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-312
2. **नित्याप्रकम्पाद्भुतकेवलौघाः स्फुरन्मनःपर्यय शुद्धबोधाः।**
   दिव्यावधिज्ञानबलप्रबोधाःस्वतिक्रियासुःपरमर्षयो नः।।1।।
   – परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ

में हैं। उन्हें यतिवृषभ भिन्न क्यों बता रहे हैं? क्या अवधिज्ञान और अवधिज्ञान ऋद्धि में अन्तर है? है तो क्या है? नहीं है तो क्यों नहीं है?

उक्त प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट रूप से शास्त्रों में नहीं मिला है, अपनी समझ से मिलान कर लेना। यहाँ अपनी बुद्धि के अनुसार लिखता हूँ –

जैसे केवलज्ञान ऋद्धि केवली भगवान की कही है। केवली के केवल यही एक केवलज्ञान ऋद्धि नहीं है, अपितु केवलज्ञान जैसी अनन्तानन्त भाव ऋद्धियाँ केवली भगवान के पायी जाती हैं। इसीप्रकार गणधरों के भी केवलज्ञान के अलावा शेष सुप्रसिद्ध चौंसठ में से त्रेसठ ऋद्धियाँ तो पायी जाती ही हैं, इनके अलावा यतिवृषभाचार्य के अनुसार गणधरों के सुस्वरत्वादि अनेक ऋद्धियाँ भी पायी जाती हैं। इसका अर्थ यह जानना कि मूल में ऋद्धियाँ जाति अपेक्षा सात या आठ हैं, परन्तु उत्तरभेदों की संख्या में और भी अनेक हो सकती हैं। जैसे इन ऋद्धियों में बुद्धि अर्थात् ज्ञान से संबंधित अठारह ऋद्धियाँ हैं, जबकि आत्मा में एक ही गुण नहीं, अपितु ज्ञानादि अनन्तानन्त गुण हैं, गणधरादि विशेष विशुद्धिवाले तद्भव मोक्षगामी जीवों के सभी गुणों में विशेष विशेषताएँ पायी जाती हैं, उन विशेषताओं को यहाँ ऋद्धि कहा है, इसीलिए ऋद्धियों की संख्या जाति अपेक्षा भी, व्यक्ति की अपेक्षा भी अनेक समझनी चाहिए।

तिलोयपण्णत्ती में वर्णित गणधरों के सुस्वरत्व ऋद्धि का अन्तर्भाव वचन से संबंधित होने से वचनबल ऋद्धि में हो सकता है, माधुर्य भी वचन का ही वैशिष्ट्य है, वचन का वैशिष्ट्य भी वचन का बल होता है। इसलिए सुस्वरत्व ऋद्धि को वचनबल ऋद्धि में मान सकते हैं। (अवधिज्ञान अवधिज्ञान ऋद्धि में एवं मनःपर्ययज्ञान मनःपर्ययज्ञान बुद्धि ऋद्धि में क्या अंतर है? इसका विचार बुद्धि ऋद्धियों में करेंगे।)

जैसे कर्मप्रकृति के मूल भेद ज्ञानादि आठ हैं, उत्तर भेद मतिज्ञान आदि एक सौ अड़तालीस (148) हैं। वैसे ऋद्धि के मूल भेद आठ जानना तथा

(34) चौंसठ ऋद्धियाँ

इनके उत्तर भेद अनेक हैं तथा उनमें 64 प्रसिद्ध हैं, जिनको चौंसठ ऋद्धियाँ कहा है। इन चौंसठ ऋद्धियों की प्रसिद्धि का विशेष कारण परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ है। परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ में दस छंदों में चौंसठ ऋद्धियों के चौंसठ नाम मात्र हैं।

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार चारण ऋद्धि ही असंख्यात प्रकार की है[1]। यही बात तत्त्वार्थराजवार्तिक में लिखी है[2] अर्थात् ऋद्धियों के उपभेद अनेक हैं। सबसे पहले मूल ऋद्धियों के क्रम को जानने का प्रयास करते हैं।

ऋद्धियों के मूलभेदों का क्रम –

प्रश्न – ऋद्धियों के मूलभेदों में क्रम है या नहीं है? यदि क्रम है तो उसका क्या आधार है?

उत्तर – वीरसेन स्वामी धवलाकार, यतिवृषभ तिलोयपण्णत्तीकार, पद्मप्रभमलधारी देव तात्पर्यवृत्तिकार, विद्यानन्दी तत्त्वार्थवार्तिककार – इन सबके अनुसार ऋद्धियों का क्रम समान है, सबने एक ही क्रम बताया है। वह इसप्रकार है – 1. बुद्धि 2. तप 3. विक्रिया 4. औषध 5. रस 6. बल और 7. अक्षीण।

पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धिकार के अनुसार क्रम इसप्रकार है –

1. बुद्धि 2. विक्रिया 3. तप 4. बल 5. औषध 6. रस और 7. अक्षीण।

आचार्य अकलंक तत्त्वार्थराजवार्तिककार के अनुसार क्रम इस प्रकार है –

1. बुद्धि 2. क्रिया 3. विक्रिया 4. बल 5. तप 6. औषध 7. रस और 8. क्षेत्र।

---

1. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, भाग-4, गाथा-1035
2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, श्लोक-3, पृष्ठ-37

परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ के अनुसार क्रम इसप्रकार है –

1. बुद्धि 2. क्रिया 3. विक्रिया 4. बल 5. तप 6. औषध 7. रस और 8. अक्षीण।

ऋद्धियों के उक्त क्रमों को देखें तो दो ऋद्धियों का क्रम नहीं बदला है। एक पहली बुद्धि ऋद्धि का और दूसरा अंतिम अक्षीण ऋद्धि का।

क्रिया, विक्रिया ऋद्धियाँ दूसरे या तीसरे क्रम से आगे नहीं बढ़ीं।

इसीप्रकार तप ऋद्धि दूसरे क्रम पर या तीसरे से आगे नहीं बढ़ी।

इसीप्रकार औषध ऋद्धि का क्रम क्रिया, विक्रिया, तप के बाद या कहीं बल ऋद्धि के बाद रहा है। रस ऋद्धि का क्रम प्रत्येक शास्त्र में औषध ऋद्धि के बाद ही रहा है।

ऋद्धियों में पहले क्रम पर बुद्धि ऋद्धि का ही वर्णन है, उसका कारण स्पष्ट है कि ऋद्धियों में जीव की पर्याय से सम्बन्धित बुद्धि ऋद्धि या बुद्धि ऋद्धियाँ हैं, शेष ऋद्धियाँ पुद्‌गल संबंधी पौद्‌गलिक हैं।

बुद्धि ऋद्धि के अठारह भेद हैं, बुद्धि ऋद्धियों को जीव विपाकी तथा अक्षीण महालय को क्षेत्र विपाकी कह सकते हैं। शेष ऋद्धियाँ पुद्‌गल विपाकी जानना।

ज्ञान को चक्षु कहा है। जैसे चक्षु के बिना यात्रा संभव नहीं है, वैसे सम्यग्ज्ञान के बिना आगे की ऋद्धियों की उत्पत्ति संभव नहीं है। अन्य ऋद्धियों से ज्ञान ऋद्धियाँ पूज्य हैं, मोक्षमार्ग में ज्ञान को पूज्य माना है, इसलिए पहले क्रमांक पर प्रथम पूज्य बुद्धिऋद्धि है। अन्य ऋद्धियों के क्रम का कोई आधार हो सकता है, परंतु शास्त्रों में उपलब्ध नहीं है।

बुद्धि ऋद्धि के अलावा शेष सात ऋद्धियों में से क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस – ये छह ऋद्धियाँ नोकर्म शरीररूप हैं तथा अंतिम अक्षीण ऋद्धि आहाररूप व आवासरूप है।

ऋद्धियों के उपभेद और उन उपभेदों के नाम –

1. बुद्धि, 2. क्रिया, 3. विक्रिया, 4. तप, 5. बल, 6. औषध, 7. रस, 8. अक्षीण – ये ऋद्धियों के मूल भेद हैं। इनके उत्तरभेद अनेक हैं।

1. बुद्धिऋद्धि के भेद, उपभेद और उनके नाम

बुद्धि ऋद्धि के उत्तरभेद अठारह हैं –

प्राय: सभी शास्त्रों के इसके अठारह ही भेद बताये हैं। आचार्य यतिवृषभ स्पष्ट कहते हैं कि बुद्धि ऋद्धि के अठारह भेद विख्यात हैं –

''एदासु बुद्धि रिद्धी, अट्ठारस भेद विक्खादा।''[1]

आचार्य अकलंक भी यही लिखते हैं –

''बुद्धिरवगमो ज्ञानं तद्विषया अष्टादशविधा: ऋद्धय:।''[2]

बुद्धि अर्थात् अवगम अर्थात् ज्ञान; इस ज्ञान से संबंधित अठारह प्रकार वाली ऋद्धियाँ हैं।

चामुण्डरायजी के भी इसी प्रकार के शब्द हैं, वे बुद्धि ऋद्धि को महाऋद्धि भी कहते हैं –

बुद्धिमहर्द्धि नाम बुद्धिरवगमो तद्विषया बुद्धिऋद्धिरष्टादश-विधा।[3]

परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ के पहले चार श्लोकों के अनुसार भी बुद्धिऋद्धि के अठारह भेद हैं।[4]

बुद्धिरष्टादशविधा।[5]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-977, दूसरी पंक्ति, पृष्ठ-295
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-558
3. श्रीमच्चामुण्डराय, पृष्ठ-95
4. परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक 1 से 4
5. श्री माघनन्दि योगीन्द्र विरचित शास्त्रसार समुच्चय, सूत्र-56

अठारह बुद्धिऋद्धियों के नाम –

1. केवलज्ञान बुद्धि ऋद्धि, 2. मन:पर्ययज्ञान बुद्धि ऋद्धि, 3. अवधिज्ञान बुद्धि ऋद्धि, 4. कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि, 5. बीज बुद्धि ऋद्धि, 6. पद बुद्धि ऋद्धि, 7. संभिन्नसंश्रोतृ बुद्धि ऋद्धि, 8. दूरात्स्पर्शनत्व बुद्धि ऋद्धि, 9. दूराच्छ्रवणत्व बुद्धि ऋद्धि, 10. दूराद् आस्वादनत्व बुद्धि ऋद्धि, 11. दूराद् घ्राणत्व बुद्धि ऋद्धि, 12. दूराद् दर्शनत्व बुद्धि ऋद्धि, 13. प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि, 14. प्रत्येक बुद्धत्व बुद्धि ऋद्धि, 15. (अभिन्न) दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि, 16. चतुर्दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि, 17. वादित्व बुद्धि ऋद्धि, 18. अष्टांग महानिमित्तत्व बुद्धि ऋद्धि।

बुद्धिऋद्धियों के उपभेद और उनके नाम –

उक्त बुद्धि ऋद्धियों में पदानुसारी बुद्धि ऋद्धि के तीन उपभेद हैं –

1. अनुसारिणी पदबुद्धि ऋद्धि, 2. प्रतिसारिणी पदबुद्धि ऋद्धि, 3. उभयानुसारिणी पदबुद्धि ऋद्धि।

दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि तो एक ही प्रकार की है, परन्तु दशपूर्वित्व के दो उपभेद हैं – 1. भिन्न दशपूर्वित्व और 2. अभिन्न दशपूर्वित्व।

इनमें अभिन्न दशपूर्वित्व को दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि मानी गयी है; चूँकि भिन्न दशपूर्वित्व के संयम का अभाव हो जाता है तथा वहाँ संयम के अभाव में ऋद्धि का भी अभाव है।

इसी प्रकार प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि के चार उपभेद हैं –

1. औत्पत्तिकी प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि, 2. वैनयिकी प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि, 3. पारिणामिकी प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि, 4. कर्मजा प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि।

इसी प्रकार अष्टांग महानिमित्तत्व बुद्धि ऋद्धि के भी आठ उपभेद हैं। ये आठ उपभेद इस ऋद्धि के नाम में अष्टांग शब्द से ही जान सकते हैं, अष्टांग का अर्थ है आठ अंग हैं जिसके, ऐसे महा अर्थात् बड़े निमित्त वह अष्टांग महानिमित्त, इनके ज्ञानवाली बुद्धि ऋद्धि वह अष्टांग महानिमित्तत्व

बुद्धि ऋद्धि है। वे आठ महानिमित्त ही इस ऋद्धि के उपभेद हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं – 1. अंतरिक्ष महानिमित्त, 2. भौम महानिमित्त, 3. अंग महानिमित्त, 4. स्वर महानिमित्त, 5. व्यंजन महानिमित्त, 6. लक्षण महानिमित्त, 7. चिह्न महानिमित्त, 8. स्वप्न महानिमित्त।

इनमें स्वप्न महानिमित्त के भी दो प्रभेद हैं – 1. छिन्न स्वप्न और 2. माला स्वप्न।

बुद्धि–ऋद्धि का चार्ट

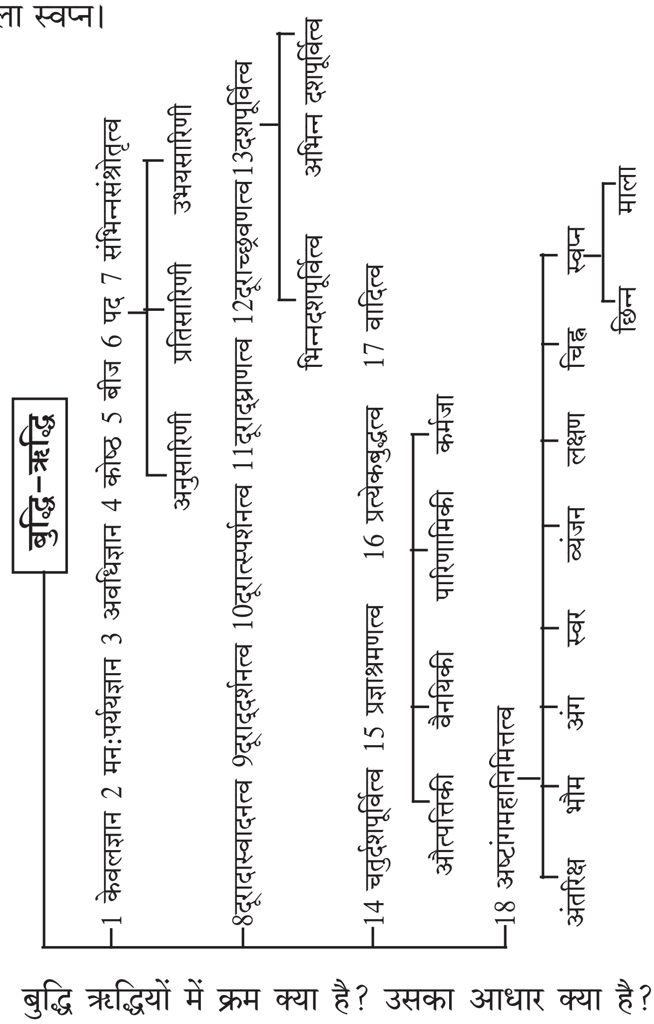

बुद्धि ऋद्धियों में क्रम क्या है? उसका आधार क्या है? इसका विचार उस–उस ऋद्धि के वर्णन में करेंगे।

2. क्रिया ऋद्धि के भेद, उपभेद और उनके नाम –

क्रिया ऋद्धि के मुख्य दो भेद हैं –

1. चारणत्व और 2. आकाशगामित्व।

दुविहा किरिया रिद्धी, णहयल–गामित्त चारणत्तेहिं।[1]

अर्थ – क्रिया ऋद्धि दो प्रकार की है – 1. नभस्तलगामित्व (आकाशगामित्व) और चारणत्व।

इनमें चारणत्व क्रिया ऋद्धि के परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ के अनुसार आठ भेद हैं – 1. जंघाचारणत्व, 2. वह्नि (अग्नि, अनल) चारणत्व, 3. श्रेणी चारणत्व, 4. फलचारणत्व, 5. अम्बु (जल) चारणत्व, 6. तन्तुचारणत्व, 7. प्रसून (पुष्प) चारणत्व, 8. बीजांकुर चारणत्व।

जंघावह्निश्रेणिफलाम्बुतन्तुप्रसूनबीजांकुरचारणाह्वाः।।[2]

धवलाकार के अनुसार भी चारण ऋद्धि के भेद आठ ही हैं, परन्तु उक्त वह्निचारणत्व के स्थान पर आकाशचारणत्व नाम है –

जल–जंघ–तंतु–फल–पुष्प–वीय–आगास–सेडीभेएण अट्ठविहा चारणा।[3]

अर्थ – जल, जंघा, तंतु, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणी के भेद से चारण ऋद्धि आठ प्रकार की है। **उत्तं च –**

जल जंघ तंतु फल पुष्प वीय आगास सेडिगइकुसला।
अट्ठविहचारणगणा पइरिक्कसुहं पविहरंति।।21।।[4]

अर्थ – जल, जंघा, तंतु, फल, पुष्प, बीज, आकाश और श्रेणी का अवलंबन लेकर गमन में कुशल ऐसे आठ प्रकार के चारण गण अत्यंत सुखपूर्वक विहार करते हैं।

1. तिलोयपण्णत्ति, खण्ड–2, गाथा–1042
2. परमर्षि स्वस्ति मंगल–पाठ श्लोक–56
3. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–78–79
4. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–78–79 पर उद्धृत गाथा

आचार्य यतिवृषभ चारणत्व ऋद्धि अनेक प्रकार की बताते हैं –

चारण रिद्धी बहुविहा वियप्प संदोह वित्थरिदा।[1]

अर्थ – चारण ऋद्धि अनेक प्रकार के विकल्प-समूह से विस्तार को प्राप्त है।

आचार्य यतिवृषभ चारणत्व, विकल्प-समूह से विस्तार को प्राप्त है। आचार्य यतिवृषभ चारणत्व ऋद्धि, नामों में जलचारणत्व, जंघाचारणत्व, पुष्पचारणत्व, फलचारणत्व, तंतुचारणत्व – ये पाँच नाम धवलाकार तथा परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ के अनुसार समान हैं।

परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ से भिन्न चारणत्व ऋद्धियों के अन्य नाम पत्रचारणत्व, धूमचारणत्व, मेघचारणत्व, धाराचारणत्व, ज्योतिश्-चारणत्व, मरुच्चारणत्व हैं। यहीं भेद समाप्त नहीं किए, इससे भी अधिक भेद हैं – यह कहा। क्रिया ऋद्धि के वर्णन के अन्त में वे लिखते हैं –

अण्णे विविहा भंगा, चारण रिद्धीए भासिदा भेदा।
ताणं सरूवं कहणे, उवएसो अम्हउच्छिण्णो।।[2]

अर्थ – विविध भंगों से युक्त चारण ऋद्धि के अन्य भेद भी भासित होते हैं, परन्तु उनके स्वरूप का कथन करनेवाला उपदेश हमारे लिए नष्ट हो चुका है।

आचार्य यतिवृषभ का आशय स्पष्ट है कि चारण ऋद्धि के अनेक भेद हैं, मात्र आठ ही नहीं हैं। इसी प्रकार आचार्य अकलंक भी चारण ऋद्धि के अनेक भेद कहते हैं –

चारणा अनेकविधाः जल-जंघा-तंतु-पत्र-श्रेण्यग्निशिखा-द्यालम्बनगमनाः।[3]

अर्थ – जल, जंघा, तंतु, श्रेणी, अग्निशिखा आदि का आलंबन लेकर गमन करने वाले चारण ऋद्धिधारी मुनि अनेक प्रकार के हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1043
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1057, पृष्ठ-314

अर्थ – जल, जंघा, तंतु, श्रेणी, अग्निशिखा आदि का अवलंबन लेकर गमन करने वाले चारण ऋद्धिधारी अनेक प्रकार के हैं।

चामुण्डराय चारित्रसार ग्रन्थ में हू-ब-हू तत्त्वार्थराजवार्तिककार आचार्य अकलंक के अनुसार वर्णन करते हैं।[1]

श्रुतसागर सूरि क्रिया ऋद्धि के दो भेद पूर्ववत् बताकर चारणत्व ऋद्धि के नौ भेद बताते हैं –

जंघादिचारणत्वं नवविधम्।[2]

अर्थ – चारणत्व ऋद्धि के जंघाचारणत्व आदि नौ भेद हैं। परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ के अनुसार ही नाम हैं, फर्क इतना-सा है कि वहाँ अग्नि चारणत्व नाम है। श्रुतसागरसूरि की तत्त्वार्थवृत्ति में अग्निशिखाचारणत्व नाम है, वहाँ बीजांकुरचारणत्व नाम है, यहाँ बीजचारणत्व नाम है तथा वहाँ पत्रचारणत्व नहीं हैं, यहाँ नौवीं पत्रचारणत्व चारण ऋद्धि बतायी है।

धवलाकार के अनुसार अन्य चारण ऋद्धियों का अन्तर्भाव (समावेश) इन्हीं आठ चारण ऋद्धियों में होता है –

धवलाकार वीरसेन स्वामी स्वयं प्रश्न उत्पन्न कर इस विषय को स्पष्ट करते हैं। उनके प्रश्नोत्तर इसप्रकार हैं –

कधं चारणाणं अट्ठसंखाणियमो?

ण, इदरेसिं चारणाणमेत्थंतब्भावादो। तं जहा चिक्खल-छार-गोवर-भुसादि-चारणाणं जंघचारणेसु अंतब्भावो, भूमीदो चिक्खलादीणं कधंचि भेदाभावादो।

कुंथुद्देही-मक्कुण-पिपीलियादि-चारणाणं फलचारणेसु अंतब्भावो, तसजीवपरिहरणकुसलत्तंपडि भेदाभावादो।

---

1. चारित्रसार, पृष्ठ-97
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-313

पत्तंकुर–त्तण–पवालादि चारणाणं पुप्फचारणेसु अंतब्भावो, हरिदकायपरिहरण–कुसलत्तेण साहम्मादो।

ओस–करवास–धूमरी–हिमादिचारणाणं जलचारणेसु अंतब्भावो, आउक्काइयजीवपरिहरणकुसलत्तं पडि साहम्मदंसणादो।

धूमग्गिवादमेहादिचारणाणं तंतु–सेडिचारणेसु अंतब्भावो, अणुलोम–विलोम–गमणेसु जीवपीडाअकरणसत्तिसंजुत्तादो।

एवमण्णेसिं पि चारणाणमेत्थेव अंतब्भावो दट्ठव्वो।[1]

अर्थ – प्रश्न – चारणों की आठ संख्या का नियम कैसे बनता है?

उत्तर – नहीं (ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि) अन्य चारणों का इन (पूर्व में कही आठ चारण ऋद्धियों) में अन्तर्भाव होने से उक्त (आठ) संख्या का नियम बन जाता है। वह इस प्रकार से –

कीचड़, भस्म, गोबर और भूस आदि पर से गमन करने वालों का जंघाचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि भूमि से कीचड़ आदि कथंचित् अभेद हैं।

कुंथु जीव, उद्देही जीव, मत्कुण और पिपीलिका आदि पर से संचार करने वालों का फलचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनमें त्रस जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।

पत्र, अंकुर, तृण और प्रवाल आदि पर से संचार करने वालों का पुष्प चारणों में अन्तर्भाव होता है; क्योंकि हरितकाय जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा इनमें समानता है।

ओस, ओला, कुहरा (कोहरा) और बर्फ आदि पर गमन करने

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-810

वाले चारणों का जलचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनमें जलकायिक जीवों के परिहार की कुशलता के प्रति समानता देखी जाती है।

धूम, अग्नि, वायु और मेघ आदि के आश्रय से चलने वाले चारणों का तन्तुश्रेणी चारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि वे अनुलोम और प्रतिलोम गमन करने में जीवों को पीड़ा न करने की शक्ति से संयुक्त हैं।

इस प्रकार अन्य चारणों का भी इनमें ही अन्तर्भाव समझना चाहिए।

धवलाकार वीरसेन स्वामी के अनुसार चारण ऋद्धि के आठ भेद ही समझने चाहिए।

आचार्य माघनंदी योगीन्द्र मूलभेद दो कहते हैं, उत्तरभेदों की चर्चा नहीं करते हैं। उनके अनुसार क्रिया ऋद्धि दो प्रकार की है –

''क्रिया द्विविधा।''[1]

''क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विविधा।''[2]

अर्थ – क्रिया ऋद्धि दो प्रकार की है।

चामुण्डराय चारित्रसार ग्रन्थ में हू-ब-हू तत्त्वार्थराजवार्तिककार आचार्य अकलंक के अनुसार विक्रिया ऋद्धि का वर्णन करते हैं।

उक्त अनेक कथनों का आशय यह है कि क्रिया ऋद्धि के मूल में दो भेद हैं – 1. चारणत्व और 2. आकाशगामित्व।

आकाशगामित्व क्रिया ऋद्धि के संबंध में न किसी का मतभेद है, न ही उसके भेद हैं। हाँ, चारणत्व क्रिया ऋद्धि की संख्याओं के संबंध में अनेक मतभेद सामने आये हैं, परन्तु धवलाकार के अनुसार उसके आठ भेद ही समझना चाहिए।

क्रिया ऋद्धियों में क्रम क्या है? उसका आधार क्या है? इसका विचार उस-उस ऋद्धि के वर्णन में करेंगे।

---

1. शास्त्रसार समुच्चय, चरणानुयोगवेदः, सूत्र-57, पृष्ठ-308
2. चारित्रसार, पृष्ठ-97

क्रिया-ऋद्धि

चारणत्व — आकाशगामित्व (आकाश चारण)

चारणत्व: जल जंघा तंतु पुष्प बीज (बीजांकुर) श्रेणी फल अग्निशिखा

तत्त्वार्थवृत्ति व तिलोयपण्णत्ती के अनुसार -

पत्र आदि तथा तिलोयपण्णती के अनुसार चारण ऋद्धि के और अन्य भेद - धूम, मेघ, धारा, ज्योति:, मरुत् हैं।

3. विक्रियाऋद्धि के भेद और उनके नाम -

विक्रिया दो प्रकार की होती है - 1. भिन्न विक्रिया और 2. अभिन्न विक्रिया। मूल शरीर से भिन्न अन्य आकारों को बनाना भिन्न विक्रिया कहलाती है तथा मूल शरीर को अनेक आकाररूप बनाना अभिन्न विक्रिया है। जैसे मूल शरीर से भिन्न सिंह आदि आकृतियाँ बनाना भिन्न विक्रिया है। तथा मूल शरीर को ही सिंह आदि आकृतिरूप बनाना अभिन्न विक्रिया है। ये दो विक्रिया के **प्रकार** हैं, विक्रिया के **भेद** नहीं हैं। विक्रिया ऋद्धि के परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ के अनुसार ग्यारह भेद हैं, उनके नाम-

1. अणिमा, 2. महिमा, 3. लघिमा, 4. गरिमा, 5. प्राप्ति, 6. प्राकाम्य, 7. ईशित्व, 8. वशित्व, 9. अप्रतिघात, 10. अन्तर्धान, 11. कामरूपित्व।

अणिम्निदक्षा: कुशलामहिम्नि लघिम्निशक्ता: कृतिनो गरिम्णि।।6।।
सकामरूपित्व-विशत्वमैश्यं प्राकाम्यमन्तर्द्धिमथाप्तिमाप्ता:।
तथाऽप्रतिघातगुणप्रधाना: स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न:।।7।।[1]

धवलाकार वीरसेन स्वामी के अनुसार विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार की है -

---

1. परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ, श्लोक-6

''अणिमा-महिमा-लघिमा-पत्ती-पागम्मं-ईसित्तं-वसित्तं कामरुवित्तमिदि विउव्वणमट्ठविहं।''[1]

अर्थ - 1. अणिमा, 2. महिमा, 3. लघिमा, 4. प्राप्ति, 5. प्राकाम्य, 6. ईशित्व, 7. वशित्व और 8. कामरूपित्व - इस प्रकार विक्रिया ऋद्धि आठ प्रकार की है।

परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ में उल्लिखित विक्रिया ऋद्धियों में से गरिमा, अप्रतिघात और अन्तर्धान - ये तीन विक्रिया ऋद्धियाँ आचार्य वीरसेन ने नहीं कही हैं।

आचार्य अकलंक विक्रिया ऋद्धि के वर्णन के प्रारम्भ में ग्यारह नाम विक्रिया ऋद्धि के गिनाकर इस ऋद्धि के भेद अनेक बताते हैं -

विक्रियागोचरा ऋद्धिरनेकविधा-अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वमप्रतिघातोऽन्तर्धानं काम-रूपित्वमित्येवमादिः।[2]

अर्थ - विक्रिया से संबंधित ऋद्धि अनेक प्रकार की है - अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान, कामरूपित्व इत्यादि।

आचार्य यतिवृषभ भी विक्रिया ऋद्धि के उक्त ग्यारह नाम गिनाकर विविध भेदवाली कहते हैं -

अणिमा महिमा लघिमा गरिमा पत्तीय तह अ पाकम्मं।
ईसत्त वसित्ताइं अप्पडिघादं तधाणा य।।1033।।
रिद्धी हु कामरूवा, एवं रूवेहि विविह-भेएहिं।
रिद्धि-विकिरिया णामा, समणाणं तव- विसेसेण।।1034।।[3]

---

1. षट्खण्डागम खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-75
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-202
3. तिलोयपण्णत्ती, भाग-2, गाथा-1033-1034, पृष्ठ-308

अर्थ – अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप-इस प्रकार के अनेक भेदों से युक्त विक्रिया नामक ऋद्धि तपो-विशेष से श्रमणों के हुआ करती है।

श्रुतसागर सूरि भी वर्णन तो ग्यारह विक्रिया ऋद्धियों का करते हैं, परन्तु भेद अनेक कहते हैं –

विक्रियार्द्धिः अणिमादिभेदैरनेकप्रकाराः।[1]

अर्थ – अणिमा आदि के भेद से विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकार की है।

आचार्य माघनंदी योगीन्द्र विक्रिया ऋद्धि के पूर्वोक्त ग्यारह भेद ही मानते हैं –

विक्रियैकादशविधा।[2]

अर्थ – विक्रिया ऋद्धि ग्यारह प्रकार की है।

चामुण्डराय चारित्रसार ग्रन्थ में आचार्य अकलंक के अनुसार शब्दशः वैसा ही वर्णन करते हैं, शब्दों में भी फेर नहीं है।

विक्रियागोचरा ऋद्धिरनेकविधा...।[3]

अर्थ – विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकार की है।

उक्त कथनों से इतना समझ में आता है कि विक्रिया ऋद्धि अनेक प्रकार की है, इसके ग्यारह भेद प्रसिद्ध हैं, परन्तु धवलाकार ने आठ ही भेद माने हैं। इनके उपभेद देखने में नहीं आये।

विक्रिया ऋद्धियों में क्रम क्या है? उसका आधार क्या है? इसका विचार उस-उस ऋद्धि के वर्णन में करेंगे।

---

1. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-313
2. शास्त्रसार समुच्चय, सूत्र-58, पृष्ठ-308
3. चारित्रसार, पृष्ठ-97

4. तपऋद्धि के भेद और उनके नाम –

षट्खंडागमकार आचार्य (पुष्पदन्त), भूतबलि ने निम्नलिखित सात सूत्रों के द्वारा तपऋद्धि धारकों को नमस्कार किया है –

णमो उग्गतवाणं।।22।।

अर्थ – उग्रतप ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।।22।।

णमो दित्ततवाणं।।23।।

अर्थ – दीप्ततप ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।।23।

णमो तत्ततवाणं।।24।।

अर्थ – तप्ततप ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।।24।।

णमो महातवाणं।।25।।

अर्थ – महातप ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।।25।।

णमो घोरतवाणं।।26।।

अर्थ – घोरतप ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।।26।।

णमो घोरपरक्कमाणं।।27।।

अर्थ – घोरपराक्रम ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।।27।।

णमोऽघोरगुणबंभचारीणं।।29।।[1]

अर्थ – अघोर गुणब्रह्मचारी जिनों को नमस्कार हो।।29।।

इन सूत्रों के मध्य में 28वें क्रम में **''णमो घोरगुणाणं''** सूत्र है। इस सूत्र में ब्रह्मचर्य के चौरासी लाख गुणों को घोर कह कर उनके धारकों को नमस्कार किया है।

उक्त सात सूत्रों पर विचार किया जाये तो तप ऋद्धियों के सात नाम इस प्रकार होंगे – 1. उग्रतप ऋद्धि, 2. दीप्ततप ऋद्धि, 3. तप्त

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र 22-29 पृष्ठ-87 से 94

तपऋद्धि, 4. महातप ऋद्धि, 5. घोरतप ऋद्धि, 6. घोरपराक्रमतप ऋद्धि और 7. अघोरगुणब्रह्मचारी।

हालाँकि अंतिम सूत्र में तप शब्द का प्रयोग नहीं किया है, परन्तु तिलोयपण्णतीकार आदि ने उसे तप ऋद्धि के अन्तर्गत माना है, इसलिए षट्खण्डागमकार भी इसे तप ऋद्धि में ही मानते होंगे, ऐसा अनुमान है।

आगे के उल्लेखों में तप ऋद्धियों में लगभग ये ही नाम हैं, अंतिम ऋद्धि के नाम में मामूली अंतर है, परन्तु अर्थ में अन्तर नहीं है।

परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ में तप ऋद्धि के सात भेद कहे हैं –

दीप्तं च तप्तं च तथा महोग्रं घोरं तपो घोर पराक्रमस्था:।
ब्रह्मापरं घोरगुणाश्चरन्त: स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न:।।[1]

अर्थ – 1. दीप्त, 2. तप्त, 3. महा, 4. उग्र, 5. घोर, 6. घोर पराक्रम, 7. (ब्रह्म शब्द है बाद में जिसके ऐसा घोरगुण अर्थात्) घोरब्रह्मगुण-तपों का आचरण करने वाले परम ऋषि हमारा मंगल करें।

आचार्य यतिवृषभ भी नामों के क्रम में स्थानपरिवर्तन तथा किंचित् अंतर के साथ इन्हीं सात भेदों को कहते हैं –

उग्गतवा दित्ततवा, तत्ततवा तह महातवा तुरिमा।
घोरतवा पंचमिया, घोर-परक्कम-तवा छट्ठी।।
तव-रिद्धीए कहिदं, सत्तम य अघोर-ब्रह्मचारित्तं।[2]

अर्थ – 1. उग्रतप, 2. दीप्ततप, 3. तप्ततप, 4. महातप, 5. घोरतप, 6. घोर पराक्रम तप, 7. अघोर ब्रह्मचारित्व – इसप्रकार तप ऋद्धि के सात भेद कहे गए हैं।

मंगलपाठकार के नामों में और आचार्य यतिवृषभ में अंतिम नाम में घोर तथा अघोर नामों में फर्क है, अर्थ में नहीं।

---

1. परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ, श्लोक-8
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1058-1059, पृष्ठ-314

दूसरी विशेष बात यह है कि पूर्व की छह ऋद्धियों में अंत में तप शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु सातवीं ऋद्धि में अंत में तप शब्द का प्रयोग नहीं है।

आचार्य अकलंक तपऋद्धि के स्थान पर **''तपोऽतिशयर्द्धि''** - ऐसा कहते हैं तथा एक नाम में मामूली अन्तर के साथ सात तपऋद्धियाँ कहते हैं -

''तपोऽतिशयर्द्धिः सप्तविधा - उग्र-दीप्त-तप्त-महा-घोर तपो वीरपराक्रम-घोरब्रह्मचर्यभेदात्।''[1]

अर्थ - तप अतिशय (तपातिशय) ऋद्धि सात प्रकार की है - 1. उग्र, 2. दीप्त, 3. तप्त, 4. महा, 5. घोरतप, 6. वीरपराक्रम और 7. घोरब्रह्मचर्य।

यहाँ तपातिशय शब्द सब नामों के साथ जोड़ लेना, जैसे - उग्र तपातिशय ऋद्धि, दीप्ततपातिशय ऋद्धि इस प्रकार से।

यहाँ सभी नाम पूर्व की तरह ही हैं, मात्र घोरपराक्रम तप के स्थान पर वीरपराक्रम तप ऐसा नाम है अर्थात् **घोर** के स्थान पर **वीर** नाम है, पर्यायवाची नाम होने से अर्थ में अंतर नहीं है।

श्रुतसागर सूरि तप ऋद्धियों के नामों में क्रमभेद के साथ नामभेद के मामूली अंतर के साथ तपऋद्धि के सात भेद ही बताते हैं -

''घोरतपो महातप उग्रतपो दीप्ततपस्तप्ततपो घोरगुणब्रह्म-चरिता घोरपराक्रमता चेति तपऋद्धिः सप्तधा।[2]

अर्थ - 1. घोर तप, 2. महातप, 3. उग्रतप, 4. दीप्त तप, 5. तप्त तप, 6. घोरगुणब्रह्मचारिता और 7. घोर पराक्रमता - ये तप ऋद्धि के सात प्रकार हैं।

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-203
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314

चामुण्डरायजी के अनुसार भी तप ऋद्धि के भेद सात ही हैं, उनके शब्द इस प्रकार हैं –

''तपोऽतिशयर्द्धिः सप्तविधा। उग्रदीप्ततप्तमहाघोरतपोघोर-पराक्रमाः घोरब्रह्मचर्यः अघोरगुणब्रह्मचारिण इति।''[1]

अर्थ – तपो अतिशय ऋद्धि सात प्रकार की है – 1. उग्र, 2. दीप्त, 3. तप्त, 4. महा, 5. घोरतप, 6. घोरपराक्रम, 7. घोरब्रह्मचर्य अथवा अघोरगुणब्रह्मचारित्व।

आचार्य माघनंदी योगीन्द्र तप ऋद्धि के साथ भेद ही कहते हैं –

''तपः सप्तविधम्।''[2]

अर्थ – तप (ऋद्धि) सात प्रकार का है।

उक्त सभी कथनों का आशय यह है कि तप ऋद्धि में मूल भेद सात हैं – 1. दीप्ततप ऋद्धि, 2. तप्ततप ऋद्धि, 3. उग्रतप ऋद्धि, 4. महातप ऋद्धि, 5. घोरतप ऋद्धि – ये पाँच नाम सभी में समान हैं। छठा नाम सभी में घोरपराक्रम है, सिर्फ आचार्य अकलंक ने घोर के स्थान पर वीर शब्द का प्रयोग कर वीर पराक्रम लिखा है, शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं है। सातवीं तपऋद्धि परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठकार घोरब्रह्मगुण, षट्खण्डागमकार अघोरगुणब्रह्मचारी, चामुण्डराय और आचार्य यतिवृषभ अघोरब्रह्मचारित्व, अकलंक घोरब्रह्मचर्य, श्रुतसागर घोर ब्रह्मचारिता बताते हैं। इन नामों में शब्दभेद मात्र है, अर्थभेद नहीं है; ऐसा प्रतीत होता है।

तप-ऋद्धियों के उत्तरभेद –

तप ऋद्धियों में मात्र उग्रतप ऋद्धि के ही दो उत्तर भेद हैं –

1. उग्रोग्रतप ऋद्धि और 2. अवस्थित उग्रतप ऋद्धि। यही धवलाकार वीरसेन स्वामी बता रहे हैं –

---

1. चारित्रसार, पृष्ठ-98
2. शास्त्रसार समुच्चय, सूत्र-59, पृष्ठ-309

उग्गतवा दुविहा उग्गुग्गतवा अवट्ठिदुग्गतवा चेदि।[1]

अर्थ – उग्रतप ऋद्धिधारक दो प्रकार के होते हैं – उग्रोग्रतप ऋद्धि धारक और अवस्थित उग्रतप ऋद्धिधारक।

यतिवृषभ भी उक्त दो उत्तर भेद मानते हैं –

उग्गतवा दो भेदा, उग्गोग्ग अवट्ठिदुग्गतव णामा।[2]

चामुण्डराय भी –

तत्रोग्रतपसो द्विविधाः उग्रोग्रतपसः, अवस्थितोग्रतपसश्चेति।[3]

आचार्य अकलंक, आचार्य माघनंदी, श्रुतसागर सूरि ने उक्त उपभेद नहीं किये हैं।

5. बलऋद्धि के भेद और उनके नाम

षट्खण्डागमकार आचार्य भूतबलि, पुष्पदन्त के अनुसार बलऋद्धि तीन प्रकार की है –

णमो मणबलीणं।।35।।

णमो वचिबलीणं।।36।।

णमो कायबलीणं।।37।।[4]

अर्थ – मन बल ऋद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो।।35।।

वचन बल ऋद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो।।36।।

काय बल ऋद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो।।37।।

षट्खण्डागम (अथवा) धवला के अनुसार बल ऋद्धि के तीन भेद हैं –

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-87
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1059, पृष्ठ-314
3. चारित्रसार, पृष्ठ-98
4. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, सूत्र 35-37, पृष्ठ-98,99

1. मन बल ऋद्धि, 2. वचन बल ऋद्धि और 3. काय बल ऋद्धि।

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार भी बल ऋद्धि के तीन प्रकार हैं –

बल रिद्धी ति वियप्पा, मण–वयण–सरीरयाण भेयेण।[1]

अर्थ – मन, वचन और काय के भेद से बल ऋद्धि तीन प्रकार की है।

सभी ने बल ऋद्धि के ये तीन ही भेद बताए हैं –

''बलालम्बना ऋद्धिस्त्रिविधा मनोवाक्कायभेदात्।''[2]

''बलर्द्धिस्त्रिप्रकारा।''[3]

''बलं त्रिविधम्।''[4]

''मनोवपुर्वाग्बलिनः।''[5]

इस प्रकार बल ऋद्धि के 1. मन बल ऋद्धि, 2. वचन बल ऋद्धि और 3. कायबल ऋद्धि – ये तीन भेद हैं। इनके उपभेदों का वर्णन कहीं देखने में नहीं आया।

6. औषधि–ऋद्धि के भेद और उनके नाम

औषधि–ऋद्धि के आठ भेद हैं – ऐसा यतिवृषभाचार्य कहते हैं –

आमरिस–खेल–जल्ला–मल–विड्–सव्वा ओसही पत्ता।
मुह–दिट्ठि–णिव्विसाओ, अट्ठ–विहा ओसही रिद्धी।।[6]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1072, पृष्ठ–318
2. आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–203
3. श्रुतसागरसूरि अध्याय–3, सूत्र 36, पृष्ठ–315
4. आचार्य माघनंदी, शास्त्रसार समुच्चय, सूत्र–60, पृष्ठ–309
5. परमर्षि स्वस्ति मंगल–पाठ, श्लोक–6
6. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1078, पृष्ठ–319

अर्थ – आमर्षौषधि, क्ष्वेलौषधि, जल्लौषधि, मलौषधि, विडौषधि, सर्वौषधि, मुखनिर्विष (वचन–निर्विष) और दृष्टिनिर्विष इस प्रकार औषधि ऋद्धि आठ प्रकार की है।

आचार्य अकलंक भी औषधि-ऋद्धि आठ प्रकार की ही कहते हैं –

"औषधर्द्धिरष्टविधा... आमर्शक्ष्वेलजल्लमलविट्सर्वौषधि–प्राप्तास्याविषदृष्ट्यविषविकल्पात्।"[1]

अर्थ – 1. आमर्ष, 2. क्ष्वेल, 3. जल्ल, 4. मल, 5. विट्, 6. सर्वौषधि, 7. प्राप्तास्याविष और 8. दृष्टि अविष के भेद से औषध ऋद्धि आठ प्रकार की है।

आचार्य यतिवृषभ और आचार्य अकलंक दोनों ने औषधि ऋद्धियाँ आठ ही मानी हैं, ऋद्धियों के नामों का क्रम भी वही है सिर्फ शब्दों में थोड़ा फर्क है। सातवीं ऋद्धि का नाम यतिवृषभ मुखनिर्विष कहते हैं, जबकि अकलंक प्राप्तास्याविष कहते हैं। यहाँ यह जानना कि मुख्य और आस्य पर्यायवाची शब्द हैं – इसलिए अर्थभेद नहीं है। आठवीं ऋद्धि का नाम यतिवृषभ दृष्टिनिर्विष कहते हैं, जबकि अकलंक दृष्टि अविष कहते हैं। यहाँ यह जानना कि निर्विष और अविष पर्यायवाची शब्द हैं – इसलिए अर्थभेद नहीं है।

चामुण्डरायजी आचार्य अकलंक के अनुसार ही शब्दशः वर्णन कर आठ ही भेद मानते हैं।[2] आचार्य माघनंदी योगीन्द्र भी इस ऋद्धि के आठ ही भेद कहते हैं –

"भेषजमष्टधा।।64।।"[3]

अर्थ – भेषज अर्थात् औषधि ऋद्धि आठ प्रकार की है।

---

1. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-565
2. चारित्रसार, पृष्ठ-99
3. शास्त्रसार समुच्चय, सूत्र-64, पृष्ठ-309 **भैषजमष्टविधम्** इति पाठान्तरम्।

श्रुतसागर सूरि औषधि ऋद्धि के भेद तो आठ ही बताये हैं, कुछ नाम तो समान है, परन्तु नामों में बहुत फेर है, उनके शब्दों से ही अर्थ समझने की कोशिश करते हैं –

''औषधर्द्धिरष्टप्रकारा–विड्विलेपनेन, एकदेशमलस्पर्शनेन, अपक्वाहारस्पर्शनेन, सर्वाङ्गमलस्पर्शनेन, निष्ठीवनस्पर्शनेन, दन्तकेशनखमूत्रपुरीषादिसर्वेण (दिस्पर्शनेन), कृपादृष्ट्यवलोकनेन, कृपादन्तपीडनेन येषां मुनीनां प्राणिरोगा: नश्यन्ति ते अष्टप्रकारा औषधर्द्धय:।''[1]

अर्थ – औषध ऋद्धि आठ प्रकार की है। जिन मुनियों की निम्न आठ बातों के द्वारा प्राणियों के रोग नष्ट हो जाते हैं; वे मुनि औषध ऋद्धि के धारक होते हैं – 1. विट् लेपन, 2. मल का एकदेश छूना, 3. अपक्व आहार का स्पर्श, 4. सम्पूर्ण अंगों के मल का स्पर्श, 5. निष्ठीवन का स्पर्श, 6. दन्त, केश, नख, मूत्र, विष्ठा आदि का स्पर्श, 7. कृपादृष्टि से अवलोकन, और 8. कृपा से दाँतों का दिखाना (मुस्कुराना)।

श्रुतसागर सूरि के अनुसार आठ औषध ऋद्धियों के नाम इस प्रकार होंगे – 1. विट्लेपन, 2. मलैकदेशस्पर्श, 3. अपक्वाहारस्पर्श, 4. सर्वांगमलस्पर्श, 5. निष्ठीवनस्पर्श, 6. दन्तकेशनखमूत्रपुरीषादिस्पर्श, 7. कृपादृष्ट्यवलोकन और 8. कृपादन्तपीडन।

श्रुतसागर सूरि के द्वारा बताये हुए औषध ऋद्धि के भेद अन्य शास्त्रकारों से भिन्न प्रकार के हैं, विट् औषधि को सभी शास्त्रकारों ने माना है। आचार्य यतिवृषभ विट् के अन्तर्गत मुनिराज का मूत्र एवं विष्ठा दोनों को मानते हैं।[2] जबकि श्रुतसागर छठी औषध ऋद्धि में मूत्र, विष्ठा आदि कहते हैं तथा विट् को अलग से ऋद्धि कहते हैं। इतना अंतर जरूर

1. तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–315
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1083, पृष्ठ–320

दिखता है कि विट् के साथ लेपन शब्द का प्रयोग है तथा मूत्र, पुरीष (विष्ठा) के साथ स्पर्श शब्द का प्रयोग किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुसार विट् का लेपन भी औषधि-ऋद्धि है तथा विट् का स्पर्श भी औषधि ऋद्धि है। परन्तु दोनों भिन्न-भिन्न ऋद्धि मानने का कारण समझने में नहीं आ रहा है; क्योंकि लेपन में स्पर्श का या स्पर्श में लेपन का अन्तर्भाव हो सकता है।

इसी प्रकार दूसरी औषध-ऋद्धि में मल का एकदेश स्पर्श को - तथा सम्पूर्ण अंगों के मल का स्पर्श-इस चौथी औषध-ऋद्धि को - भिन्न-भिन्न दो ऋद्धियाँ कही हैं। यहाँ एकदेश स्पर्श तथा स्पर्श इतना ही अंतर है।

जल्ल (पसीना) को शरीर का मल मानकर उक्त दोनों ऋद्धियों में अन्तर्भाव हो सकता है। इसी प्रकार अन्यशास्त्रकारों द्वारा वर्णित क्ष्वेलौषधि में निष्ठीवन-स्पर्श इस पाँचवीं ऋद्धि का अन्तर्भाव हो सकता है।

उनके द्वारा कथित कृपादृष्ट्यवलोकन नामक सातवीं ऋद्धि का अन्य शास्त्रकारों द्वारा कथित दृष्टिनिर्विष ऋद्धि में अन्तर्भाव हो जायेगा, क्योंकि दोनों नामों के शब्दों में ही अन्तर दिखता है, अर्थ में नहीं।

परन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित - 1. अपक्वाहारस्पर्श इस तीसरी ऋद्धि को तथा 2. कृपादन्तपीड़न आठवीं ऋद्धि को, जो ऋद्धि के रूप में बताया है, वह सर्वथा नवीन विषय है। इनमें कृपादन्तपीड़न ऋद्धि को आस्यनिर्विष ऋद्धि में किसी अपेक्षा से गर्भित कर सकते हैं; क्योंकि दन्त (दाँत) आस्य (मुँह) का एक अंग है। परन्तु अपक्वाहारस्पर्श ऋद्धि तो सर्वथा नवीन प्रकार की ऋद्धि है। शब्दश: अर्थ देखे तो अपक्व अर्थात् कच्चे, बिना पके आहार का स्पर्श वाली यह औषध ऋद्धि है। श्रुतसागर सूरि ने इन ऋद्धियों के मात्र नाम बताये हैं, उनका अर्थ नहीं खोला, इसलिए वे इस ऋद्धि के अन्तर्गत क्या कहना चाहते हैं? यह स्पष्ट नहीं हो पाया।

आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम में औषधि ऋद्धि से संबंधित पाँच सूत्र लिखे हैं –

णमो आमोसहिपत्ताणं।।30।।

णमो खेलासहिपत्ताणं।।31।।

णमो जल्लोसहिपत्ताण।।32।।

णमो विट्ठोसहिपत्ताणं।।33।।

णमो सव्वोसहिपत्ताणं।।34।।[1]

इनमें – 1. आमर्ष औषधि, 2. खेल औषधि, 3. जल्ल औषधि, 4. विष्ठा औषधि तथा 5. सर्वौषधि – इन पाँच औषध ऋद्धियों का वर्णन है।

यहाँ पूर्वोक्त आठ औषध ऋद्धियों में से 1. मल औषध ऋद्धि, 2. मुखनिर्विष, 3. दृष्टिनिर्विष – इन तीन औषध ऋद्धियों के नाम नहीं है। इनमें मलौषधि को धवलाटीकाकार ने विष्ठा औषधि में गर्भित कर लिया है, उनके अनुसार विष्ठा शब्द देशामर्शक है, इसलिए विष्ठा शब्द से मूत्र, मल और शुक्र का ग्रहण होता है –

विट्ठसद्दो जेण देसामासिओ जेण मुत्त–विट्ठा–सुक्काणं गहणं।।[2]

तथा मुखनिर्विष तथा दृष्टिनिर्विष ऋद्धियों का आमर्ष औषधि ऋद्धि में अन्तर्भाव हो सकता है, क्योंकि वचन का आमर्ष अर्थात् स्पर्श तथा दृष्टि का आमर्ष अर्थात् स्पर्श।

परमर्षि स्वस्ति मंगल–पाठ के नौवें श्लोक में औषध–ऋद्धियों का वर्णन है, वहाँ आठ औषध–ऋद्धियों का वर्णन है। श्लोक इसप्रकार है –

आमर्ष सर्वौषधयस्तथाशीर्विषं विषा दृष्टिविषं विषाश्च।
सखिल्लविड्जल्लमलौषधीशाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।9।।[3]

---

1. धवला खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, सूत्र 30–34, पृष्ठ–95,96,97
2. धवला खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–97
3. परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ, श्लोक–9

अब तक के विवेचन का सार यही है कि औषध ऋद्धि के आठ भेद हैं, उनके प्रसिद्ध नाम इस प्रकार हैं – 1. आमर्ष औषधि ऋद्धि, 2. क्ष्वेल औषधि ऋद्धि, 3. जल्ल औषधि ऋद्धि, 4. मल औषधि ऋद्धि, 5. विट् औषधि ऋद्धि, 6. सर्व औषधि ऋद्धि, 7. मुख निर्विष औषधि ऋद्धि, 8. दृष्टि निर्विष औषधि ऋद्धि।

औषध ऋद्धि के उपभेद पढ़ने में नहीं आये हैं। इनमें क्रम का कोई आधार भी दिखाई नहीं दिया है।

7. रस ऋद्धि के भेद और उनके नाम

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार रस ऋद्धि के छह भेद हैं –

छब्भेया रस रिद्धी, आसी–दिट्ठी–विसा य दो तेसुं।
खीर–महु–अमिय–सप्पीसविओ–चत्तारि होंति कमे।।[1]

अर्थ – आशीविष और दृष्टिविष – ऐसे दो तथा क्षीरस्रावी, मधुस्रावी, अमृतस्रावी एवं सर्पिस्रवी तथा चार क्रमशः रस–ऋद्धि के छह भेद हैं।

आचार्य यतिवृषभ ने पहली पंक्ति में दो तथा दूसरी पंक्ति में चार रस–ऋद्धियों का भिन्न–भिन्न वर्णन किया है। उसका कारण यह प्रतीत होता है कि वर्तमान लोकप्रसिद्ध 64 ऋद्धियों में से 62 शुभ ऋद्धियाँ कही गई हैं। आशीविष और दृष्टिविष अशुद्ध ऋद्धियाँ हैं। शेष सभी शुभ ऋद्धियाँ हैं। उनको भिन्न–भिन्न बताने के लिए भिन्न–भिन्न कहा हो।

आचार्य अकलंक भी इस ऋद्धि के छह भेद ही कहते हैं –

''रसर्द्धिप्राप्तार्याः षड्विधाः–आस्यविषाः दृष्टिविषाः क्षीरास्रविणः मध्वास्रविणः सर्पिरास्रविणः अमृतास्रविणश्चेति।[2]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1088, पृष्ठ–321
2. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र, 36, पृष्ठ–565

अर्थ – रस ऋद्धि प्राप्त आर्य छह प्रकार के हैं – 1. आस्यविष, 2. दृष्टिविष, 3. क्षीर (दूध) आस्रवी, 4. मधु आस्रवी, 5. सर्पि (घी) आस्रवी, 6. अमृत आस्रवी।

दोनों आचार्यों ने नाम तो एक-से ही बताये हैं, सिर्फ अंतिम दो ऋद्धियों में क्रम भेद हैं।

चामुण्डराय पूर्व आचार्यों के अनुसार रसऋद्धि के छह भेद कहते हैं, नाम भी वे ही हैं। उनका क्रम आचार्य अकलंक के अनुसार ही है।[1]

आचार्य माघनंदी योगीन्द्र भी इस ऋद्धि के छह भेद ही कहते हैं–

रसः षड्विधः।[2]

अर्थ – रस (ऋद्धि) के छह भेद हैं –

1. आस्यविषत्व, 2. दृष्टिविषत्व, 3. क्षीरस्रवित्व, 4. मधुस्रवित्व, 5. आज्य (घी) स्रवित्व और 6. अमृतस्रवित्व।

श्रुतसागर सूरि भी रस ऋद्धि के छह भेद तथा नाम भी वे ही कहते हैं –

रसर्द्धि षट्प्रकारा।[3]

आचार्य (पुष्पदंत) भूतबलि ने षट्खण्डागम के चौथे खण्ड में रसऋद्धिधारी जिनेन्द्रों को छह सूत्रों में नमस्कार किया है –

णमो आसीविसाणं।।20।।

णमो दिट्ठिविसाणं।।21।।

णमो खीरसवीणं।।38।।

णमो सप्पिसवीणं।।39।।

---

1. चारित्रसार, पृष्ठ-99
2. शास्त्रसार समुच्चय, सूत्र-65, पृष्ठ-310
3. तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय-3, सत्र-36, पृष्ठ-315

णमो महुसवीणं।।40।।

णमो अमडसवीणं।।41।।[1]

अर्थ – आशीर्विष जिनों को नमस्कार हो।।20।।

दृष्टिविष जिनों को नमस्कार हो।।21।।

क्षीरस्रवी जिनों को नमस्कार हो।।38।।

सर्पिस्रवी जिनों को नमस्कार हो।।39।।

मधुस्रवी जिनों को नमस्कार हो।।40।।

अमृतस्रवी जिनों को नमस्कार हो।।41।।

यहाँ व्याकरण शास्त्र के अनुरूप बहुव्रीहि समास का प्रयोग है, वह इस प्रकार से आशीः अर्थात् वचन, आशीः में विष है, जिनके वे आशीर्विष है।

परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ के नौवें श्लोक की पहली पंक्ति में दो तथा दसवें श्लोक की पहली पंक्ति में चार इस प्रकार छह रस-ऋद्धियों का वर्णन है –

आशीविषं दृष्टिविषं...................................।

क्षीरं स्रवन्तोऽत्र घृतं स्रवन्तो मधुस्रवन्तोऽप्यमृतं स्रवन्तः।।[2]

इस प्रकार से हम देखते हैं कि रस ऋद्धि के छह भेद प्रसिद्ध हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं – 1. आशीर्विष रस ऋद्धि, 2. दृष्टिविष रस ऋद्धि, 3. क्षीर स्राविणी रस ऋद्धि, 4. घृत स्राविणी रस ऋद्धि, 5. मधुस्राविणी रस ऋद्धि, 6. अमृतस्राविणी रस ऋद्धि।

इनके क्रम का कोई आधार न मिला है, न ही इनके उत्तरभेद हैं।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-85, 86, 99, 100, 101

2. परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ, श्लोक-9-10

8. क्षेत्र या अक्षीण ऋद्धि के भेद और उनके नाम –

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार इस अंतिम आठवीं ऋद्धि का नाम क्षेत्र ऋद्धि है। इसके दो भेद हैं –

तिहुवण विम्हयजणणा, दो भेदा होंति खेत रिद्धीए।
अक्खीण महाणसिया अक्खीण महालया च णामेण।।[1]

अर्थ – त्रिभुवन को विस्मित करने वाली क्षेत्र ऋद्धि के दो भेद हैं – अक्षीण महानसिक और अक्षीण महालय।

षट्खण्डागम में आचार्य (पुष्पदन्त) भूतबलि ने –

णमो अक्खीणमहाणसाणं।।42।।[2]

अर्थ – अक्षीण-महानस जिनों को नमस्कार हो।

सूत्र के द्वारा अक्षीण महानस एक ही क्षेत्र या अक्षीण ऋद्धि मानी है, परन्तु धवलाकार वीरसेन आचार्य ने अक्षीणमहानस शब्द को देशामर्शक मानकर उससे वसति (आलय) अक्षीण (महालय) का भी ग्रहण किया है–

एत्थ अक्खीणमहाणससद्दो जेण देसामासओ तेण वसहिअक्खीणाणं पि गहणं।[3]

अर्थ – यहाँ अक्षीण महानस शब्द देशामर्शक है, इसलिए उससे वसति अक्षीण (अक्षीण वसति) का भी ग्रहण होता है।

अर्थात् धवलाकार के अनुसार क्षेत्र या अक्षीण ऋद्धि के दो भेद हैं। उनके नाम अक्षीण महानस और अक्षीण महालय या अक्षीण वसति हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1099, पृष्ठ-324
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-42, पृष्ठ-101
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-101

आचार्य अकलंक के अनुसार भी क्षेत्र ऋद्धि दो प्रकार की है, नाम भी पूर्वोक्तानुसार ही हैं –

''क्षेत्रर्द्धिप्राप्तार्या द्वेधा – अक्षीणमहानसा अक्षीण-महालयाश्चेति।''[1]

अर्थ **–** क्षेत्र ऋद्धि प्राप्त आर्य दो प्रकार के हैं – अक्षीण महानस और अक्षीण महालय।

श्रुतसागर सूरि भी क्षेत्र ऋद्धि के दो प्रकार तथा नाम भी पूर्वोक्त ही कहते हैं।

क्षेत्रर्द्धिर्द्विप्रकारा अक्षीण महानसर्द्धिः अक्षीणालयर्द्धिश्च।[2]

आचार्य माघनंदी योगीन्द्र भी अक्षीण ऋद्धि के दो भेद ही कहते हैं –

अक्षीणर्द्धिर्द्विविधा।।66।।[3]

अर्थ **–** अक्षीण महानसत्व और अक्षीण महालयत्व – इस प्रकार अक्षीण ऋद्धि के दो भेद हैं।

चामुण्डराय भी क्षेत्र ऋद्धि दो प्रकार की ही तथा नाम भी पूर्वोक्त ही बताते हैं –

''क्षेत्रर्द्धिप्राप्ता द्वेधा अक्षीणमहानसाः अक्षीण-महालयाश्चेति।''[4]

परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ में दसवें श्लोक की दूसरी पंक्ति में इन अक्षीण या क्षेत्र ऋद्धियों का वर्णन है –

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-566
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-566
3. शास्त्रसारसमुच्चय, सूत्र-66
4. चारित्रसार, पृष्ठ-101

अक्षीण-संवास-महानसाश्च................................॥10॥[1]

अर्थ – अक्षीण संवास (आवास) और अक्षीण महानस (भोजन) – ये दो अक्षीण या क्षेत्र ऋद्धियाँ हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अक्षीण ऋद्धि कहो या अक्षीण क्षेत्र ऋद्धि कहो, दोनों का आशय एक ही है तथा इस ऋद्धि के सभी शास्त्रकारों ने दो भेद ही कहे हैं – अक्षीण महानस और अक्षीण महालय। महानस का यहाँ आहार अर्थ है तथा महालय का अर्थ आहार का स्थान है।

दूसरी अक्षीण ऋद्धि के शब्दों में फेर जरूर है, कहीं वसति शब्द लिखा है, कहीं आलय तो कहीं संवास; परंतु अर्थ में फेर नहीं है। इनके उपभेद पढ़ने में नहीं आये हैं।

इसप्रकार ऋद्धियों के भेदों एवं उपभेदों का वर्णन पूर्ण हुआ। यहाँ उन उपभेदों की संख्या, जो प्रसिद्ध है, वह चौंसठ है। इसलिए वर्तमान में चौंसठ ऋद्धि विधान[2] की रचना तथा उसका माँडना आदि देखे जा रहे हैं। उन चौंसठ ऋद्धियों की गणना इसप्रकार है –

18 (अठारह) बुद्धि ऋद्धियाँ,
9 (नौ) क्रिया ऋद्धियाँ,
11 (ग्यारह) विक्रिया ऋद्धियाँ,
7 (सात) तप ऋद्धियाँ,
3 (तीन) बल ऋद्धियाँ,
8 (आठ) औषध ऋद्धियाँ
6 (छह) रस ऋद्धियाँ
2 (दो) क्षेत्र या अक्षीण ऋद्धियाँ
कुल योग 64 (चौंसठ)।

---

1. परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ, श्लोक-10
2. कवि स्वरूपचंदजी तथा पंडित राजमलजी पवैया रचित

एक-साथ एक समय में एक जीव के ऋद्धियों की संख्या -

प्रश्न - एक मुनि के एक-साथ एक समय में कितनी ऋद्धियाँ हो सकती हैं?

उत्तर - आचार्य यतिवृषभ के अनुसार गणधर आठ ऋद्धि वाले होते हैं -

''एदे गणहर देवा सव्वे वि हू अट्ठ रिद्धि संपुण्णा।''[1]

अर्थ - सभी गणधर देव आठ ऋद्धियों से सम्पन्न (युक्त) होते हैं।

इसका आशय यह हुआ कि गणधर आदि मुनि के एक साथ जाति अपेक्षा सभी अर्थात् आठों ऋद्धियाँ एक समय में हो सकती हैं।

ऋद्धियों के उत्तरभेदों में कुछ ऋद्धियाँ परस्पर-विरोधी हैं - जैसे दृष्टिविष और दृष्टिनिर्विष, आस्यविष और अस्य अविष।

यहाँ यह प्रश्न जरूर उत्पन्न होता है कि उक्त परस्पर-विरोधी ऋद्धियाँ एकसाथ एक जीव में रह सकती हैं या नहीं?

उसका उत्तर-परस्पर विरोधी ऋद्धियों के एकसाथ एक समय में रहने में विरोध नहीं है, प्रयोग में विरोध है। क्योंकि परस्पर विरोधी ऋद्धियों में प्रयोग एक समय में एक ही ऋद्धि का हो सकता है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि ऋद्धियों में कुछ ऋद्धियों का प्रयोग बिना इच्छा के स्वत: ही होता है, जैसे औषध ऋद्धियों में सर्वौषधि ऋद्धि है, इस ऋद्धि को प्राप्त मुनिराज के शरीर को छूकर आने वाली हवा के द्वारा रोगी के रोग दूर हो जाते हैं। आमर्ष औषधि ऋद्धि में उनके शरीर के स्पर्श से रोग दूर हो जाते हैं। यहाँ मुनिराज की इच्छा हो अथवा न हो, इन

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-976, पृष्ठ-293

ऋद्धियों के द्वारा जैसी ऋद्धि है, उसके स्वरूप के अनुसार वैसा कार्य होता है।

यहाँ यह भी जानना कि शुभ ऋद्धियों का प्रयोग मुनिराज की इच्छा या बिना इच्छा के होता है। परन्तु अशुभ ऋद्धियों का प्रयोग मुनिराज की इच्छा के बिना नहीं होता है। यहाँ यह आधार है कि शुभ ऋद्धियों का प्रयोग बिना कषायभाव के या शुभराग से होता है तथा अशुभ ऋद्धियों का प्रयोग अशुभरागरूप कषायभावपूर्वक ही होता है। इस प्रकार का कषायभाव मुनि जीवन में नहीं होता है। अशुभ ऋद्धियों के प्रयोगवाली अशुभ कषाय मुनि जीवन में बिना इच्छा के संभव नहीं। उक्त प्रकार की अशुभ ऋद्धि के प्रयोग में मुनिराज गुणस्थान से पतित होते हैं अर्थात् मुनि के गुणस्थान छठे से ऊपर के होते हैं, वे उनसे नीचे गिर जाते हैं। कुछ शुभ ऋद्धियों के प्रयोग में भी इच्छा होती ही है – जैसे विष्णुकुमार मुनि के द्वारा विक्रिया ऋद्धि का प्रयोग किया था, वह बिना इच्छा के संभव नहीं है। सहज कार्य में इच्छा की आवश्यकता नहीं होती है। साधर्मी की रक्षा भाव मुनि जीवन का सहज कार्य नहीं है।

जैसे अट्ठाईस मूलगुणों के पालन का भाव सहज कार्य है, वैसे साधर्मी की रक्षा का भाव मुनिजीवन का कार्य नहीं है; क्योंकि अट्ठाईस मूलगुणों का पालन न करें तो मुनि नहीं होता है, वैसे साधर्मी की रक्षा न करें तो मुनि नहीं है – ऐसा नहीं है। हाँ, इतना जरूर है कि मुनि सभी जीवों का उपकार करते हैं। संज्ञी जीवों को असंज्ञी जीवों की रक्षा का उपदेश देकर संज्ञी और असंज्ञी दोनों का उपकार करते हैं।[1] यहाँ असंज्ञी की रक्षा का उपदेश देकर असंज्ञी जीवों का उपकार करते हैं संज्ञी जीवों को अहिंसा, वीतरागता का उपदेश देकर संज्ञी जीवों का उपकार करते हैं।[1] यह कार्य सिर्फ उपदेश देकर ही करते हैं। विक्रिया ऋद्धि आदि का

1. पंडित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-8, पृष्ठ-278

प्रयोग करके नहीं करते हैं, ऋद्धियों का उक्त प्रकार के लिए प्रयोग करना मुनिधर्म नहीं है।

ऋद्धियाँ उपलब्धिरूप या प्रकट शक्तिरूप हैं। उपलब्धियाँ या शक्तियाँ पुण्य के उदय के अनुपात में एक साथ अनेकों रह सकती हैं, हो सकती हैं, होने में विरोध नहीं है। प्रयोग एक साथ होने में विरोध है। परस्पर विरोधी शक्तियाँ हो तो, एक साथ प्रयोग नहीं हो सकता है। तथा प्रयोग भी भूमिका के अनुसार ही होता है। ऋद्धियों का प्रयोग करना न तो मुनि-जीवन है और न मुनिधर्म और मुनिजीवन की भूमिका है।

परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ में उक्त चौंसठ ऋद्धियों के नामों को श्लोकबद्ध किया है तथा उन ऋद्धिप्राप्त ऋषीश्वरों को अर्घ्य या पुष्पांजलि समर्पित की है। ऋद्धियों के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है तो परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ पर भी विचार करते हैं -

परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ में दस श्लोक हैं। इन श्लोकों में जाति अपेक्षा आठ तथा उपभेदों की अपेक्षा चौंसठ ऋद्धियों का वर्णन किया गया है।

जाति अपेक्षा से पहले चार श्लोकों में बुद्धि ऋद्धि का, पाँचवें श्लोक में क्रिया ऋद्धि का, छठे श्लोक की पहली पंक्ति में तथा सातवें श्लोक में विक्रिया ऋद्धि का आठवें श्लोक में तप ऋद्धि का, नौवें श्लोक में औषध ऋद्धि तथा दो रस ऋद्धि का, दसवें श्लोक की पहली पंक्ति में शेष रस ऋद्धि का तथा दूरी पंक्ति में क्षेत्र या अक्षीण ऋद्धि का नाम-वर्णन है।

पहले श्लोक में 3 (तीन), दूसरे श्लोक में4 (चार)
तीसरे श्लोक में 5 (पाँच), चौथे श्लोक में 6 (छह)
पाँचवें श्लोक में 9 (नौ), छठे श्लोक में 7 (सात)
सातवें श्लोक में 7 (सात), आठवें श्लोक में 7 (सात)

(66) चौंसठ ऋद्धियाँ

नौवें श्लोक में 10 (दस), दसवें श्लोक में 6 (छह) इस प्रकार 64 (चौंसठ) ऋद्धियों का वर्णन है।

पहले श्लोक में - 1. केवलज्ञान बुद्धि, 2. मन:पर्ययज्ञान बुद्धि, 3. अवधिज्ञान बुद्धि - इन तीन ऋद्धियों के,

दूसरे श्लोक में - 1. कोष्ठ बुद्धि, 2. बीज बुद्धि, 3. संभिन्न संश्रोतृ बुद्धि, 4. पद बुद्धि - इन चार ऋद्धियों के,

तीसरे श्लोक में - 1. दूरस्पर्शन बुद्धि, 2. दूरश्रवण बुद्धि, 3. दूरआस्वादन बुद्धि, 4. दूरघ्राण बुद्धि, 5. दूरविलोकन बुद्धि - इन पाँच ऋद्धियों के,

चौथे श्लोक में - 1. प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि, 2. प्रत्येक बुद्धत्व बुद्धि, 3. दशपूर्वीत्व बुद्धि, 4. चतुर्दशपूर्वीत्व बुद्धि, 5. वादित्व बुद्धि, 6. अष्टांग महानिमित्तत्व बुद्धि - इन छह ऋद्धियों के,

पाँचवें श्लोक में - 1. जंघाचारण, 2. वह्निचारण, 3. श्रेणीचारण, 4. फलचारण, 5. अम्बुचारण, 6. तन्तुचारण, 7. प्रसूनचारण, 8. बीजांकुरचारण, 9. आकाशगामी- इन नौ क्रिया ऋद्धियों के,

छठे श्लोक में - 1. अणिमा विक्रिया, 2. महिमा विक्रिया, 3. लघिमा विक्रिया, 4. गरिमा विक्रिया, 5. मन बल, 6.काय बल, 7. वचन बल - इन सात ऋद्धियों के,

सातवें श्लोक में - 1. कामरूपित्व विक्रिया, 2. वशित्व विक्रिया, 3. ईशत्व विक्रिया, 4. प्राकाम्य विक्रिया, 5. अन्तर्धान विक्रिया, 6. आप्ति विक्रिया, 7. अप्रतिघात विक्रिया - इन सात ऋद्धियों के,

आठवें श्लोक में - 1. दीप्त पत, 2. तप्त पत, 3. महा तप, 4. उग्रतप, 5. घोर तप, 6. घोर पराक्रम तप, 7. घोर ब्रह्मचर्य - इन सात ऋद्धियों के,

नौवें श्लोक में – 1. आमर्ष औषधि, 2. सर्व औषधि, 3. आशीर्विष रस, 4. आशी: अविष औषधि, 5. दृष्टिविष रस, 6. दृष्टि अविष औषधि, 7. क्ष्वेल औषधि, 8. विट्औषधि, 9. जल्ल औषधि, 10. मल औषधि – इन दस ऋद्धियों के,

दसवें श्लोक में –1 क्षीरस्रावी रस, 2. घृतस्रावी रस, 3. मधुस्रावी रस, 4. अमृतस्रावी रस, 5. अक्षीणसंवास क्षेत्र, 6. अक्षीणमहालय क्षेत्र– इन छह ऋद्धियों के नाम हैं। प्रत्येक नाम के आगे ऋद्धि शब्द जोड़ लेना।

''**स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न:**'' यह चतुर्थ चरण प्रत्येक श्लोक के अंत में समान है, उसका अर्थ – (परमर्षय:) परम ऋषि, (न:) हमारा, (स्वस्ति) मंगल, (क्रियासु:)[1] करें।

परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ – प्रत्येक पूजन के प्रारंभ में बोला जानेवाला पाठ है, इसके बिना पूजन अधूरी-सी है। इसके प्रत्येक श्लोक के बाद पुष्पक्षेपण करने की परंपरा है।

इस पाठ में दस छंद हैं। इन दस छंदों में आठ ऋद्धियों के चौंसठ प्रभेदों के नामों के साथ उन चौंसठ ऋद्धियों को प्राप्त चौंसठ प्रकार के ऋद्धिधारी तथा भाव की अपेक्षा, तीन लोक के अन्य सभी ऋद्धिधारियों को भावों में धारण कर पुष्पक्षेपणादि किया करते हैं। सम्पूर्ण पाठ इसप्रकार है –

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ

नित्याप्रकम्पाद्भुत–केवलौघाः स्फुरन्मनःपर्यय–शुद्धबोधाः।
दिव्यावधिज्ञान–बलप्रबोधाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।1।।
कोष्ठस्थ–धान्योपममेकबीजं संभिन्न–संश्रोतृ–पदानुसारि।
चतुर्विधं बुद्धिबलं दधानाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।2।।

---

1. **क्रियासु:** रूप तनादिगण की परस्मैपदी 'कृ करणे' धातु का आशीर्लिङ्लकार का प्रथमपुरुष बहुवचन का है।

संस्पर्शनं संश्रवणं च दूरादास्वादन–घ्राण–विलोकनानि।
दिव्यान्मतिज्ञान–बलाद्वहन्तः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।3।।

प्रज्ञाप्रधानाः श्रमणाः समृद्धाः प्रत्येकबुद्धा दशसर्वपूर्वे।
प्रवादिनोऽष्टाङ्गनिमित्तविज्ञाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।4।।

जङ्घावह्नि–श्रेणि–फलाम्बु–तन्तु–प्रसून–बीजांकुर–चारणाह्वाः।
नभोऽङ्गणस्वैर–विहारिणश्च स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।5।।

अणिम्निदक्षाः कुशलामहिम्नि लघिम्निशक्ताः कृतिनो गरिम्णि।
मनो–वपुर्वाग्बलिनश्च नित्यं स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।6।।

सकामरूपित्व–वशित्वमैश्यं प्राकाम्यमन्तर्द्धिमथाप्तिमाप्ताः।
तथाऽप्रतीघातगुणप्रधानाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।7।।

दीप्तं च तप्तं च तथा महोग्रं घोरं तपो घोरपराक्रमस्थाः।
ब्रह्मापरं घोर गुणाश्चरन्तः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।8।।

आमर्ष–सर्वौषधयस्तथाशीर्विषं–विषा दृष्टिविषं विषाश्च।
सखिल्ल–विड्जल्ल–मलौषधीशाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।9।।

क्षीरं स्रवन्तोऽत्र घृतं स्रवन्तो मधुस्रवन्तोऽप्यमृतं स्रवन्तः।
अक्षीणसंवास–महानसाश्च स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।10।।

इन छंदों में से पहले चार छंदों में बुद्धिऋद्धि का वर्णन किया गया है; बुद्धिऋद्धि के अठारह भेदों के नाम बताये हैं। उन अठारह बुद्धिऋद्धि प्राप्त ऋद्धिधर परम ऋषियों को अर्घ्य या पुष्पक्षेपण किया है।

पहले श्लोक में केवलज्ञान ऋद्धिधारी, मनःपर्ययज्ञान ऋद्धिधारी, अवधिज्ञान ऋद्धिधारी की अर्चना करके उनसे मंगल की कामना की है।

दूसरे श्लोक में गणधरों की विशिष्ट प्रकार की कोष्ठबुद्धि ऋद्धि, बीजबुद्धि ऋद्धि, संभिन्नसंश्रोतृत्वबुद्धि ऋद्धि और पदानुसारिबुद्धि ऋद्धि – ये

चार बुद्धि ऋद्धियाँ, तीसरे श्लोक में मतिज्ञान की दूरात् स्पर्शन, दूराद् श्रवण, दूराद् आस्वादन, दूराद् घ्राण और दूराद् विलोकन – ये पाँच बुद्धि ऋद्धियाँ कहीं, चौथे श्लोक में आचार्य, उपाध्याय, साधु की विशेषता की प्रज्ञाश्रमणत्व, प्रत्येकबुद्धत्व, दशपूर्वित्व, चतुर्दशपूर्वित्व, वादित्व और महानिमित्तत्व – ये छह बुद्धि ऋद्धियाँ कही हैं। इस प्रकार चार श्लोकों में अठारह ज्ञानऋद्धिधारियों के नाम हैं।

पाँचवें श्लोक में जंघाचारण, वह्निचारण, श्रेणिचारण, फलचारण, अम्बुचारण, तंतुचारण, प्रसूनचारण, बीजांकुरचारण और आकाशगामित्व – इन नौ क्रिया ऋद्धिधारियों के नाम हैं।

छठें श्लोक की पहली पंक्ति में अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा – इन चार विक्रिया ऋद्धियों का तथा दूसरी पंक्ति में मनोबल, कायबल और वचनबल – इन तीन बल ऋद्धिधारियों के नाम हैं।

सातवें श्लोक में कामरूपित्व, वशित्व, ईशित्व, प्राकाम्य, अन्तर्धानत्व, आप्तित्व और अप्रतिघातत्व – इन सात विक्रिया ऋद्धियों का वर्णन है।

आठवें श्लोक में आामर्ष, सर्वौषधि, आस्यानिर्विष, दृष्टिनिर्विष, खिल्ल (क्ष्वेल), विड्, जल्ल और मल – इन सात तप ऋद्धिधारियों के नाम हैं।

नौवें श्लोक में दीप्त, तप्त, महा, उग्र, घोर, घोर पराक्रम, घोर ब्रह्म और घोरगुण – इन आठ औषध ऋद्धियों का तथा दो रस ऋद्धिधारियों के नाम हैं।

दसवें श्लोक की पहली पंक्ति में क्षीरस्रावी, घृतस्रावी, मधुस्रावी और अमृतस्रावी – इन चार रस ऋद्धियों का तथा दूसरी पंक्ति में अक्षीणसंवास और अक्षीणमहानस – इन दो अक्षीण ऋद्धियों को प्राप्त परम ऋषियों से मंगल की कामना करके उनके लिए अर्घ्य समर्पण, पुष्प–क्षेपणादि किये हैं।

पहले श्लोक में तीन, दूसरे में चार, तीसरे में पाँच, चौथे में छह, पाँचवें में नौ, छठे में सात, सातवें में सात, नौवें में दस, दसवें में छह

(3+4+5+6+9+7+7+10+6 = 64) इस प्रकार दस श्लोकों में चौंसठ ऋद्धियों का वर्णन है। इनमें 18 बुद्धि ऋद्धियाँ, 9 क्रिया ऋद्धियाँ, 11 विक्रिया ऋद्धियाँ, 3 बल ऋद्धियाँ, 7 तप ऋद्धियाँ, 8 औषध ऋद्धियाँ, 6 रस ऋद्धियाँ, 2 अक्षीण ऋद्धियाँ (18+9+11+3+7+8+6+2 = 64) - इस प्रकार परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ में 64 (चौंसठ) ऋद्धियाँ कही हैं।

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ (भाषानुवाद)

(दोहा)

ऋद्धि मुनिवर के कही, वचनतीत प्रमाण।
संख्या चौंसठ भाखहि, स्वस्ति मंगल पाठ।।

(वीरछंद)

दिव्य अचल कैवल्य-कला का, जिनके है अनुपम संयोग।
मनपर्यय अर अवधीधर का रहे सदा ही मंगल योग।।
शुद्ध बोध से स्वयंबुद्ध तुम मुझमें आतम-रस भर दो।
हे परम ऋषि परमेष्ठी! तुम यह पूजन मंगलमय कर दो।।1।।

कोष्ठबुद्धि के धारी जिनवर, बुद्धि बीज अनुपम शोभित।
पदबुद्धि संभिन्नश्रोत्रि जिन, गणधर बोधि-बल राजित।।
चार प्रकारी शास्त्राधारी, तत्त्वज्ञानमय बल भर दो।
हे परम ऋषि परमेष्ठी! तुम यह पूजन मंगलमय कर दो।।2।।

दूर-स्पर्शी दूर-सुगन्धी, दूर-विलोकी दूर-श्रावणी।
दूरास्वादी मति के धारी, मोक्ष-महल के सोपानी।।
करणज्ञान के धारी ऋषिवर, अमल ज्ञान मम हिय भर दो।
हे परम ऋषि परमेष्ठी! तुम यह पूजन मंगलमय कर दो।।3।।

प्रज्ञाश्रमणि प्रत्येक बुद्ध जिन दस चउदस पूरब ज्ञानी।
वादी जिनवर सत् उपदेशी, महा निमित्तों के ज्ञानी।।

चलूँ आपके पथ पर स्वामी, आतम-बल मम सबल करो।
हे परम ऋषि परमेष्ठी! तुम यह पूजन मंगलमय कर दो।।4।।

जंघानल जल फूल श्रेणि पर, तंतु फल अंकुर विहार।
गगन-विहारी आतम-चारी, करते नित चैतन्य-विहार।।
क्रियाऋद्धि से भिन्न आतमा, मुझको अवलोकित कर दो।
हे परम ऋषि परमेष्ठी! तुम यह पूजन मंगलमय कर दो।।5।।

अणिमा अरु महिमामय ऋषिगण, लघिमा गरिमा जय जगदीश।
इच्छा अनुसारी बहुरूप धारी, सब वशकारी सर्व महेश।।
प्राकाम्यन अन्तर्धा आप्ति, अनघाती गुण जय कर दो।
हे परम ऋषि परमेष्ठी! तुम यह पूजन मंगलमय कर दो।।6।।

मन बल से जो द्वादश आगम, अंतर्मुहूर्त में पाठ करे।
अथक कंठ से वाचन करते, ऐसा वच बल रूप धरे।।
अंगुल अग्र जगत उठ जाये, कायबली! मम भरम हरो।
हे परम ऋषि परमेष्ठी! तुम यह पूजन मंगलमय कर दो।।7।।

दीप्त तप्त अरु महा उग्र जिन, घोर घोर परचम तपसी।
अघोर गुण तुम ब्रह्म-विहारी, अन्तःचेतनमय भासी।।
राग-त्याग कर बनूँ तपस्वी, ऐसी शक्ति उर भर दो।
हे परम ऋषि परमेष्ठी! तुम यह पूजन मंगलमय कर दो।।8।।

दूध घृतामृत मधु गुणकारी, भोजन जल जब कर-गत हो।
दृष्टि वच विष काम करे, पर दयानिधि दुख हरते हो।।
इंद्रिय-रस कल्पित सुखमय तुम, चेतन-रस मुझमें भर दो।
हे परम ऋषि परमेष्ठी! तुम यह पूजन मंगलमय कर दो।।9।।

कण नहीं हिलता शेष भोज का, मनुज पशु सब भोग करे।
चार हाथ की गुफा निराली, तीन लोक प्राणी विचरे।।
भोज अवासी शक्तिधारी, मुझको अपनी शरण करो।
हे परम ऋषि परमेष्ठी! तुम यह पूजन मंगलमय कर दो।।10।।

उक्त **ऋद्धियाँ कर्मों के क्षयोपशम, क्षय, उदय से प्रकट होती हैं। बुद्धि ऋद्धियाँ कर्मों के क्षय तथा क्षयोपशम से प्रकट होती हैं।** शेष सभी ऋद्धियाँ कर्मों के क्षयोपशम तथा उदय से प्रकट होती हैं। कैसे? इसकी चर्चा प्रत्येक ऋद्धि के वर्णन में की जायेगी।

यहाँ एक प्रश्न है कि कदाचित् किसी आचार्य को ऋद्धि प्रकट नहीं हुई हो तथा संघ के किसी मुनि को ऋद्धि प्रकट हुई हो तो क्या वह मुनि आचार्य को नमस्कार करेगा या नहीं करेगा?

उसका उत्तर यह है कि ऋद्धिधारी मुनि बिना ऋद्धिवाले अपने दीक्षादाता आचार्य को नमस्कार करेगा, अवश्य करेगा; क्योंकि **वैभव की तुलना में उपकार बड़ा होता है।** मुनि पर आचार्य का जो उपकार है, वह तीन लोक के वैभव से भी अधिक है। उस उपकार की तुलना में ऋद्धि तो बहुत नगण्य है, तुच्छ है। लोक में निर्धन पिता को धनवान होने पर भी पुत्र नमस्कार ही करता है। यहाँ तो मोक्षमार्ग का प्रकरण है। ऋद्धियाँ मोक्षमार्ग में ही प्रकट होती हैं। मोक्षमार्ग–मोक्षमार्गी को ही प्रकट होती हैं, परंतु मोक्षमार्ग में ऋद्धियों का योगदान नहीं है, मोक्षमार्ग और मोक्ष में आचार्य का योगदान अवश्य है, इसलिए बिना ऋद्धिवाले आचार्य को ऋद्धिधारी मुनि नमस्कार करेगा ही।

मुनिराजों को ऋद्धि आदि की इच्छा नहीं होती, ऋद्धि मुनिजीवन का लक्ष्य नहीं होता। ऋद्धि के कारण से मुनि अपने को बड़ा माने तो वह मानी, मानकषायी हुआ, मोक्षमार्गी नहीं रहा। सच्चे मुनि को ऋद्धि प्रकट हो तो मान नहीं होता है तथा ऋद्धि प्रकट न हो तो दीनता नहीं होती। अन्य मुनि को ऋद्धि प्रकट हो तो उनसे ईर्ष्या नहीं होती। इसप्रकार ऋद्धियों के प्रति मुनियों की उदासीनता ही होती है।

एक और **प्रश्न** – क्या सभी ऋद्धियाँ शुभ कार्यों को ही साधती हैं?

उसका **उत्तर** – नहीं, ऐसा नहीं है। जैसे तैजस शरीर शुभ होता है और अशुभ भी होता है। इसलिए उसके दो प्रकार हैं – 1. शुभ तैजस तथा

2. अशुभ तैजस। शुभ तैजस तीर्थवंदना, सुभिक्षादि शुभ कार्य साधता है तथा अशुभ तैजस दहनादि अशुभ कार्यों को साधता है।

इसीप्रकार ऋद्धियाँ भी दो प्रकार की होती हैं – 1. शुभ ऋद्धियाँ व 2. अशुभ ऋद्धियाँ। शुभ ऋद्धियाँ श्रेष्ठ कार्यों को साधती हैं, अशुभ ऋद्धियाँ अशुभ कार्यों को साधती हैं। जैसे दृष्टि अविष ऋद्धि ही प्रत्यक्ष व्यक्ति के रोगादिक को देखने मात्र से दूर करती है, दृष्टिविष ऋद्धि प्रत्यक्ष व्यक्ति का देखने मात्र से ही रोगादिक उत्पन्न कराकर नाश करती है।

ऋद्धियों के प्रभेदों में दृष्टिविष व आस्यविष – ये दो ऋद्धियाँ अशुभ कार्यों को साधती हैं, शेष सभी ऋद्धियाँ शुभ कार्यों को साधती हैं।

यहाँ **प्रश्न – ऋद्धियाँ कौन-से नय का विषय हैं?**

उसका **उत्तर –** ऋद्धियाँ व्यवहार नय की पर्यायार्थिकनय की विषय हैं तथा अभेद विवक्षा से द्रव्यार्थिकनय की विषय हैं। सभी ऋद्धियाँ पर्यायरूप हैं। द्रव्य में अनादि-अनंत रहनेवाली शक्ति का विशेष परिणमन ही ऋद्धियाँ हैं, इसलिए मुख्यरूप से ऋद्धियाँ पर्यायार्थिक अर्थात् व्यवहार नय का विषय हैं। सवा पाँच सौ (525) धनुष प्रमाण शरीर अणुप्रमाण बनना तथा साढ़े तीन (3.5) हाथ प्रमाण शरीर मेरु समान बड़ा बनना – यह पुद्गल की शक्ति है। लोक में भी देखते हैं, छोटे-से रबर को खींचकर बड़ा करते हैं, जबकि परमाणु उतने ही रहते हैं, रूई भीगकर छोटे आकार में परिणमित होती है, जबकि परमाणु उतने ही रहते हैं। शक्ति तो द्रव्य की ही होती है, व्यक्त होने पर विशेष हो तो ऋद्धि कहलाती है।

ऋद्धियों के स्वरूप को जानने से लाभ –

ऋद्धियों को जानने से अनेक लाभ हैं। जैसे –

''सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्''

सामान्य शास्त्र से विशेष शास्त्र बलवान् होता है। इस न्याय से ऋद्धियों का प्रकरण विशेष ज्ञानमय होने से ऋद्धियों के ज्ञान से विशेष ज्ञान का लाभ होता है।

(74) चौंसठ ऋद्धियाँ

पूजन के प्रारंभ में परमर्षियों का स्मरण करना परिपाटी है। पूजन श्रावक के षट् आवश्यकों में से एक महत्त्वपूर्ण आवश्यक है। श्रावक के कर्तव्यों से संबंधित होने से ऋद्धियों के स्वरूप को जानना भी श्रावक का कर्तव्य है।

इसके स्वाध्याय से स्वाध्याय संबंधी सभी परिलाभ प्राप्त होते हैं। ज्ञानार्जन को ध्यान के बाद सर्वश्रेष्ठ तप भी कहा है।

इनको जानने के काल में परिग्रहादिक के विकल्प नष्ट होते हैं। इसलिए तत्संबंधी आकुलता भी नष्ट होती है। इनके अध्ययन के काल में कषायों की मंदता होती है। विषयभोगरूप पापभावों से दूर रहते हैं। लोक में ज्ञानविशेष से आदर मिलता है। मोक्ष के कारण बने रहते हैं। भविष्य में भी देव-शास्त्र-गुरु का संयोग बना रहे - ऐसी पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है। परंपरा मोक्ष का कारण भी है। मुनिराजों को ऋद्धियाँ हैं, परंतु उनका मान, ज्ञान, प्रयोग नहीं करते हैं अर्थात् वे ऋद्धियों के प्रति उदासीन रहते हैं, यह उनके भीतर के वैराग्य भाव को दर्शाता है। वे मुनि वैराग्योपासक होने से मोक्षमार्गी हैं। मैं भी मोक्षमार्गी बनूँ - इसलिए मुझे वैराग्य अंगीकार करना चाहिए - इसप्रकार की सीख ऋद्धियों के ज्ञान से मिलती है।

ऋद्धियों के ज्ञान से और भी अनेक लाभ होते हैं - जैसे अति चंचल मन एकाग्र होता है, आत्मा और उसके आश्रय से उत्पन्न वीतरागभाव की महिमा आती है।

ऋद्धियों का ज्ञान हेय है - ऐसा कहकर अनादर करना, शास्त्र की अविनय है। इससे बचना चाहिए। 'ऋद्धियाँ अपने-आप प्रकट होती हैं' - ऐसा जानकर इनको जानकर इनका लक्ष्य नहीं रखें। इनको जानकर विस्मित भी न हों, क्योंकि इनका मूल आधार तो निज-चैतन्य की आराधना, उपासना, ध्यान है - यह जान निज-चैतन्य की आराधना, उपासना, ध्यान करें।

ऋद्धियों के ज्ञान से इतना जरूर समझ में आता है कि **अलौकिक चमत्कार वीतरागियों के पास ही होते हैं।**

****

अध्याय-2

1. बुद्धि-ऋद्धियाँ

शास्त्रों में ऋद्धियों के वर्णन में सबसे पहले बुद्धि-ऋद्धियों का वर्णन किया है। उसके दो कारण हैं - एक कारण यह कि ज्ञान पूज्य है, दूसरा कारण यह है कि बुद्धि ऋद्धियों के अलावा शेष ऋद्धियाँ पुद्‌गल से संबंधित हैं, उन पौद्‌गलिक ऋद्धियों का ज्ञान, ज्ञान से ही होता है।

यहाँ बुद्धि शब्द का अर्थ ज्ञान है।

यही अकलंक आचार्य कहते हैं-

बुद्धिरवगमो ज्ञानं तद्‌विषया अष्टादशविधा ऋद्धयः।[1]

अर्थ - बुद्धि नाम अवगम या ज्ञान का है, उसे विषय करने वाली 18 (अठारह) ऋद्धियाँ हैं।

ज्ञान के अर्थ में बुद्धि शब्द का प्रयोग परम्परा से चला आया है। ज्ञान का विशेष उघाड़ जो जीव के विशुद्धि के बल से स्वयं होता है, उसे बुद्धि-ऋद्धि कहा गया है।

यहाँ ज्ञान के सामान्य क्षयोपशम को या गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान को या असंयमियों के ज्ञान को या स्वयं अध्ययन करके प्राप्त ज्ञान को बुद्धि ऋद्धि नहीं कहा है। अपितु उस विशेष ज्ञान को बुद्धि ऋद्धि कहा है, जो विशेष क्षयोपशमरूप है, गुरुमुख के बिना प्राप्त है, संयमियों को प्राप्त विशेष ज्ञानरूप है, बिना अध्ययन के स्वतः प्रकट है। संयम और ऋद्धि का अविनाभावी संबंध है।

संयम के बिना ऋद्धियाँ नहीं होती हैं। इसलिए असंयमी देव,

---

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-558

नारकी, अपूर्ण संयमी मनुष्य, तिर्यंचों को अवधिज्ञान का लाभ होने पर भी अवधिज्ञान ऋद्धि नहीं कहा है, बल्कि पूर्ण संयमी मुनिराजों के अवधिज्ञान को ही अवधिज्ञान बुद्धि ऋद्धि कहा है।

बुद्धि ऋद्धियाँ ज्ञानावरण कर्म के क्षय या विशिष्ट क्षयोपशम तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या विशिष्ट क्षयोपशम तथा नामकर्म के उदय से प्रकट होती हैं। बुद्धि ऋद्धियों की संख्या अठारह है। इनमें से पहली केवलज्ञान बुद्धि-ऋद्धि ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से प्रकट होती है, शेष सत्रह (17) ऋद्धियाँ ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होती हैं अर्थात् इन अठारह बुद्धि-ऋद्धियों में एक बुद्धि-ऋद्धि क्षायिक भावरूप है तथा शेष बुद्धि-ऋद्धियाँ क्षयोपशम भावरूप हैं। ये सभी बुद्धि-ऋद्धियाँ जीव के ज्ञानगुण की पर्यायें हैं।

इन ऋद्धियों सहावस्थान विरोध भी है। जैसे केवलज्ञान ऋद्धि होगी, तब शेष ज्ञान ऋद्धियाँ नहीं होती हैं। शेष 17 में से कोई हो, तब केवलज्ञान ऋद्धि नहीं होती है। इसी प्रकार जिन्हें चतुर्दश पूर्वी ऋद्धि प्राप्त है, उनकी उस ऋद्धि में दशपूर्वी का अन्तर्भाव हो जाता है।

इनमें केवलज्ञान बुद्धि-ऋद्धि, केवलज्ञान की पर्यायरूप है। मन:पर्ययज्ञान बुद्धि-ऋद्धि, मन:पर्ययज्ञान की पर्यायरूप है। अवधिज्ञानबुद्धि-ऋद्धि, अवधिज्ञान की पर्यायरूप है। शेष पंद्रह ऋद्धियाँ मति-श्रुत ज्ञानों की पर्यायरूप हैं।

इनमें कोष्ठ, बीज, पद, संभिन्न संश्रोतृ - ये चार ऋद्धियाँ विशेषरूप से शास्त्र रचना से संबंधित हैं, इनके अभाव में गणधर द्वादशांग शास्त्रों की रचना नहीं कर सकते हैं तथा ये मतिज्ञानरूप हैं।

दूरस्पर्शन, दूर आस्वादन, दूर घ्राण, दूर अवलोकन, दूर श्रवण - ये पाँच ऋद्धियाँ इन्द्रियजन्य मतिज्ञान से संबंधित हैं।

प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येक बुद्ध, दशपूर्वी, चतुर्दशपूर्वी - ये चार बुद्धि-ऋद्धियाँ श्रुतज्ञान से संबंधित हैं, द्वादशांग ज्ञान से संबंधित हैं।

वादित्व बुद्धि-ऋद्धि मति-श्रुतज्ञानरूप है। अष्टांग महानिमितत्त्व बुद्धि-ऋद्धि मतिज्ञान से संबंधित है।

परमर्षि स्वास्ति मंगल पाठ के प्रारंभ के चार श्लोकों में इन बुद्धि-ऋद्धियों का वर्णन है। परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ के ये चार श्लोक निम्न प्रकार से हैं -

नित्याप्रकम्पाद्भुतकेवलौघा[1]:, स्फुरन्मन:पर्यय[2]-शुद्धबोधा:।
दिव्यावधिज्ञान[3]बलप्रबोधा:, स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न:।।1।।
कोष्ठस्थ[4]धान्योपममेकबीजं[5], संभिन्नसंश्रोतृ[6]पदानुसारी[7]।
चतुर्विधं बुद्धिबलं दधाना:, स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न:।।2।।
संस्पर्शनं[8] संश्रवणं[9] च दूरादास्वादन[10]घ्राण[11]विलोकनानि[12]।
दिव्यान्मतिज्ञानबलाद्वहन्त:, स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न:।।3।।
प्रज्ञा[13]प्रधाना-श्रमणा समृद्धा प्रत्येकबुद्धा[14] दश[15]सर्व[16]पूर्वै:।
प्रवादिनो[17]ऽष्टांगनिमित्तविज्ञा[18], स्वस्ति क्रियासु: परमर्षयो न:।।4।।

अब प्रत्येक बुद्धिऋद्धि के स्वरूप पर विचार करते हैं, उनमें प्रथम -

1. केवलज्ञान-बुद्धि-ऋद्धि

18 बुद्धि-ऋद्धियों में पहली बुद्धि-ऋद्धि केवलज्ञान बुद्धि-ऋद्धि है।

केवलज्ञान को ही केवलज्ञान बुद्धि-ऋद्धि कहा गया है। यह अठारह बुद्धि-ऋद्धियों में पहली है। यहाँ शंका है कि अब तक यह पढ़ते आये हैं कि ऋद्धियाँ मुनिराजों के होती हैं, केवलज्ञान अरहंत और सिद्धों के पाया जाता है, वे दोनों भगवान कहलाते हैं, मुनि नहीं, फिर यह कथन कि ''ऋद्धियाँ मुनिराजों के होती हैं'' कैसे संभव है?

उसका समाधान - यह बात सही है कि केवलज्ञान अरहंत और सिद्धों के पाया जाता है, यह भी सही है कि वे दोनों भगवान कहलाते हैं,

परन्तु अरहंतों को परमगुरु[1], परमर्षि आदि[1] संज्ञाओं से भी सम्बोधित किया जाता है। यहाँ मुख्यपने अरहंतों के केवलज्ञान को ही केवलज्ञान ऋद्धि कहा गया है। सिद्धों के शरीर का संयोग नहीं, लोकाग्र में विराजमान हैं, लौकिक ऋद्धियों से प्रयोजन नहीं हैं, अनन्तानन्त गुणों की अनन्तानन्त आत्मिक ऋद्धियाँ प्रकट हुई हैं। अरहंतों के परमगुरु संज्ञा होने से उक्त कथन में विरोध नहीं है।

''नित्याप्रकम्पाद्भुतकेवलौघाः।''

अर्थ – नित्य, अप्रकम्प, अद्भुत केवलज्ञानधारी परम ऋषिगण (हमारा मंगल करें)।

केवलज्ञान शब्द में केवल शब्द असहायवाची है। इसलिए असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।[3] इसे इंद्रियों की, पदार्थों की या अन्य किसी की न अपेक्षा है, न आवश्यकता है, यह नष्ट या अनुत्पन्न को भी जानता है।[4]

''सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।''[5]

अर्थ – जो विश्व के सभी पदार्थों को, उनकी तीन कालवर्ती पर्यायों को एक समय में जान लेता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। ज्ञानों में सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। इस ज्ञान को प्राप्त जीव नियम से उसी जन्म में मोक्ष जाता है।

यह ऋद्धि क्षायिक भावरूप है। केवलज्ञान क्षायिकभाव है। ज्ञानावरण कर्म के क्षय के साथ ही उत्पन्न होता है।

यहाँ प्रश्न है – केवलज्ञान को ऋद्धि क्यों कहा है?

उसका उत्तर – जो किसी लक्ष्य से नहीं, अपितु आत्मध्यानी

---

1. **''परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो।''**
   पंडित द्यानतराय, सोलहकारण पूजन
2. मुनयस्त्रिविधाः। आचार्य माघनन्दी केवली को मुनि संज्ञा से संबोधते हैं।
3. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-1, सूत्र-9, पृष्ठ-68
4. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, गाथा-39, पृष्ठ-69
5. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-1, सूत्र-29

ध्यानमग्न संयमी को स्वत: प्रकट हो, उसे ऋद्धि कहते हैं। केवलज्ञान, केवलज्ञान के लक्ष्य से नहीं, अपितु आत्मध्यानी ध्यानमग्न संयमी को स्वत: प्रकट होता है, इसलिए उसे ऋद्धि कहा गया है।

उक्त प्रकार के केवलज्ञान को केवलज्ञान नामक बुद्धि-ऋद्धि जानना तथा केवलज्ञान की प्राप्ति को ही केवलज्ञान बुद्धि-ऋद्धि की प्राप्ति जानना। यह ज्ञानवरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होती है। अतः यह आख्येय 64 ऋद्धियों में एकमात्र क्षायिक ऋद्धि है। अनुबद्ध केवलियों में जम्बूस्वामी नाम के अंतिम अनुबद्ध केवली मथुरा (चौरासी) से मोक्ष गए तथा अनुबद्ध केवलियों में श्रीधर नाम के अंतिम केवली कुंडलगिरि से मोक्ष गए -

कुंडलगिरिम्मि चरिमो, केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।[1]

2. मन:पर्ययज्ञान-बुद्धि-ऋद्धि

जैसे केवलज्ञान कहो या केवलज्ञान बुद्धि-ऋद्धि कहो, दोनों का भाव एक ही है; वैसे ही मन:पर्ययज्ञान बुद्धि-ऋद्धि कहो, या मन:पर्ययज्ञान कहो दोनों का एक ही भाव है।

मन का साहचर्य होने से दूसरों के मन में स्थित अर्थ (पदार्थ) को भी मन कहते हैं, मन के पर्ययण अर्थात् परिणमन अथवा परिज्ञानात्मक ज्ञान को मन:पर्यय ज्ञान कहते हैं -

''परकीय-मनसि स्थितोऽर्थ: साहचर्यात् मन इत्युच्यते। तस्य पर्ययणं परिणमनं परिज्ञानं मन:पर्यय:।''[2]

''परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिणमनं मन:पर्यय:।''[3]

यह ज्ञान वीर्यान्तराय व मन:पर्यय ज्ञानावरण - इन दो कर्मों के

1. तिलोयपण्णत्ती, गाथा-1491
2. श्रुतसागर सूरि, तत्त्वार्थवृत्ति:, अध्याय-1, सूत्र-9, पृष्ठ-119
3. पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, अध्याय-1, सूत्र-9, पृष्ठ-67-68

क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के आलम्बन (उदय) से उत्पन्न होता है।

इस ज्ञान में मन शब्द का प्रयोग देखकर मन से उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं है। मन शब्द का प्रयोग तो इसलिए किया है, क्योंकि इस ज्ञान को मन की अपेक्षा मात्र है, उसे मन की सहायता नहीं चाहिए।

''मन:पर्ययज्ञान मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है; देव, नारकी और तिर्यंचों में नहीं; मनुष्यों में गर्भज मनुष्यों के होता है, सम्मूर्च्छन मनुष्यों के नहीं; गर्भजों में कर्मभूमि के मनुष्यों के होता है, भोगभूमि के मनुष्यों के नहीं; कर्मभूमिजों में पर्याप्तकों के होता है, अपर्याप्तकों के नहीं; पर्याप्तकों में सम्यग्दृष्टियों के ही होता है, मिथ्यादृष्टियों को नहीं; सम्यग्दृष्टियों में भी संयतों के होता है, असंयतों के नहीं; संयतों में भी छठे से बारहवें गुणस्थानवर्तियों के होता है, उनमें भी प्रवर्द्धमान चारित्रवालों के ही होता है; हीयमान चारित्रवालों के नहीं; प्रवर्द्धमान चारित्रवालों में भी सात प्रकार की ऋद्धियों में से किसी एक ऋद्धिधारी के ही होता है, अनृद्धिधारी के नहीं; ऋद्धिधारियों में किसी-किसी के ही होता है, सभी के नहीं।''[1]

उक्त कथन का आशय यह है कि मन:पर्ययज्ञान प्रवर्द्धमान चारित्र वाले, ऋद्धिधारी मुनि को ही प्रकट होता है। यह ईहा मतिज्ञान के आधार से संयमी मुनि के प्रकट होता है।

इसके दो भेद हैं- ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञान और विपुलमति मन:पर्ययज्ञान।[2] इनमें से ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान दूसरे के मन में स्थिर सरल अर्थ को जानता है। विपुलमति मन:पर्ययज्ञान सरल, असरल दोनों अर्थों को जानता है। ऋजुमति का काल जघन्यपने दो-तीन भवों (जन्मों) की गति-आगति का निरूपण करता है, उत्कृष्टपने सात-आठ भवों की गति-आगति का निरूपण करता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्यपने कोस पृथक्त्व[3]

1. श्रुतसागर सूरि, तत्त्वार्थवृत्तिः, अध्याय-1, सूत्र-25, पृष्ठ 157-158
2. उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-1, सूत्र-23
3. तीन से नौ तक की संख्या को पृथक्त्व कहते हैं।

क्षेत्र के भीतर के अर्थों को जानता है, उत्कृष्टपने योजन पृथक्त्व के भीतर के अर्थों को जानता है, यह उत्पन्न होकर छूट भी जाता है। यह सर्वावधिज्ञान का विषय, जो कार्माण द्रव्य है, उसके अनन्त भाग करने पर, उस अनन्तवें भाग को भी जानता है।

विपुलमति मन:पर्ययज्ञान काल की अपेक्षा जघन्यपने सात-आठ भवों की गति-आगति का निरूपण करता है। उत्कृष्टपने असंख्यात भवों की गति-आगति का निरूपण करता है। क्षेत्र की अपेक्षा जघन्यपने योजन पृथक्त्व क्षेत्र के भीतर के अर्थों को जानता है, उत्कृष्टपने मानुषोत्तर पर्वत (45 लाख योजन, ढाई द्वीप क्षेत्र) के भीतर के अर्थों को जानता है। यह उत्पन्न होने के बाद छूटता नहीं है।

यह ज्ञान ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान का विषय जो कार्माण द्रव्य का अनन्तवाँ भाग तथा उसके भी अनन्त भाग करने पर उस अनन्तवें भाग को भी जानता है। विपुलमति उसी के उत्पन्न होता है, जो उसी भव से मोक्ष जानेवाला हो। ऋजुमति उसी भव से मोक्ष जानेवाले के हो सकता है, परन्तु नियम नहीं है कि ऋजुमतिवाला उसी जन्म से मोक्ष जावे ही जावे। विपुलमति क्षपकश्रेणी चढ़नेवाले के ही होता है, ऋजुमति क्षपक श्रेणी चढ़नेवाले के हो सकता है, उपशमश्रेणी चढ़नेवाले के भी हो सकता है या जो श्रेणी नहीं चढ़ता, उसके भी हो सकता है।

उक्त विवेचन को पढ़ने के बाद **शंका** होती है मन:पर्ययज्ञान ऋद्धि कौन-से मन:पर्ययज्ञान को ऋजुमति या विपुलमति को कहा गया है या दोनों प्रकार के मनःपर्ययज्ञानों को कहा गया है?

उसका **समाधान** – यह है कि कोई भी मन:पर्ययज्ञान हो, चाहे वह ऋजुमति हो या विपुलमति हो, दोनों मन:पर्ययज्ञानों का मन:पर्ययज्ञान ऋद्धि में ग्रहण हो जाता है; क्योंकि ये दोनों ज्ञान मुनि के परिणामों की विशुद्धि के कारण से स्वतः प्रकट होते हैं, विशेष क्षयोपशमरूप हैं। इसीलिए दोनों ही

मनःपर्ययज्ञान ऋद्धिरूप समझना चाहिए तथा ऋजुमति या विपुलमति मन:पर्ययज्ञान प्राप्त मुनि को मन:पर्ययज्ञान ऋद्धिधारी मुनि जानना।

मन:पर्ययज्ञान ऋद्धिधारी मुनि सामान्यतया जघन्यपने दो-तीन जन्मों की, उत्कृष्टपने असंख्यात जन्मों की गति-आगति को जानते हैं, क्षेत्र की अपेक्षा जघन्यपने कोस पृथक्त्व क्षेत्र के भीतर के अन्य जीव के मन में स्थित विषय को तथा उत्कृष्टपने मानुषोत्तर पर्वत (45 लाख योजन, ढाई द्वीप क्षेत्र) के भीतर के अन्य जीव के मन में स्थित विषय को जानते हैं तथा जघन्यपने कार्माणद्रव्य के अनन्तवें भाग को तथा उत्कृष्टपने कार्माणद्रव्य के अनन्तवें के भी अनन्तवें (अनन्तानन्तवें) भाग को जानते हैं।

मनुष्यलोक मानुषोत्तर पर्वताकार प्रमाण गोलाकार है, परन्तु विशेष इतना जानना कि यह मन:पर्ययज्ञान चौकोर मनुष्यलोक में स्थित पदार्थों को विषय करता है -

चिंतियमचिंतियं वा, अद्धं चिंतियमणेय-भेद-गयं।
जं जाणइ णर-लोए, तं चिय मणपज्जवं णादं।।982।।[1]

अर्थ - मनुष्य लोक में स्थित, अनेक भेदरूप चिंतित, अचिंतित या अर्धचिंतित पदार्थों को जो ज्ञान जानता है, वह मन:पर्ययज्ञान है।

इसलिए मनःपर्यय बुद्धि ऋद्धि का क्षेत्र अपेक्षा 45 लाख तथा स्वरूप अपेक्षा चिंतित, अचिंत, अर्द्धचिंतित पदार्थ को जानना है।

इसलिए मनुष्यलोक (45 लाख योजन) क्षेत्र के चिंतित, अचिंतित या अर्धचिंतित पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को मन:पर्ययज्ञान बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं। ध्यान रहे - केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और अन्य ऋद्धियाँ ध्यान के काल में प्रकट होती हैं।

मनःपर्ययज्ञान बुद्धि-ऋद्धि मनःपर्ययज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, गाथा-982

3. अवधिज्ञान-बुद्धि-ऋद्धि

सबसे पहले अवधिज्ञान के स्वरूप का विचार करते हैं -

अवधि शब्द के दो अर्थ हैं - एक नीचे की ओर और दूसरा सीमित।

इसलिए अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान नीचे की ओर का विषय अधिक जानता हो तथा सीमित अर्थात् मात्र पुद्गल द्रव्य को ही विषय करता हो, उसे अवधिज्ञान कहते हैं -

''अवाग्धानाद्वधिः अथवा अधोगौरवधर्मत्वात्पुद्गलः अवाङ् नाम तं दधाति परिच्छिनत्तीति अवधिः, अवधिरेव ज्ञानं अवधिज्ञानं अथवा अवधिर्मर्यादा अवधिना सह वर्तमानज्ञान-मवधिज्ञानम्।''[1]

''अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने सति अवाग् धीयते अवाग्दधाति अवाग्धानमात्रं वाऽवधिः।''[2]

''अवाग्धानमविधः। अधस्ताद् बहुतरविषयग्रहणादवधि-रुच्यते। ... रूपिलक्षणविवक्षितविषयत्वादवधिः।[3]

''अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः।''[4]

अवधिज्ञान रूपी (पुद्गल) द्रव्यों को ही जानता है -

''रूपिष्ववधेः।''[5]

---

1. धवला, प्र.अ. 4,865
2. अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय-1, सूत्र-9, पृष्ठ-120
3. श्रुतसागर, तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय-1, सूत्र-9, पृष्ठ-119
4. पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि अध्याय-1, सूत्र-9, पृष्ठ-67
5. उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-1, सूत्र-27

अवधिज्ञान के उत्पत्ति की अपेक्षा से दो भेद हैं –

भवप्रत्यय अवधिज्ञान और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान।

जिस अवधिज्ञान के उत्पन्न होने में भव (जन्म) निमित्त हो, उस अवधिज्ञान को भवनिमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं।

यद्यपि इस अवधिज्ञान में भी अंतरंग कारण तो अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही है। यदि भव ही कारण होता तो जिनके भी भवनिमित्तक अवधिज्ञान है, उन सबका अवधिज्ञान समान ही होता, परन्तु ऐसा नहीं होने से अंतरंग कारण तत्संबंधी क्षयोपशम है, भव की मुख्यता के कारण से उसे भवनिमित्तक कहा है। यह देव, नारकी के पाया जाता है।[1]

तीर्थंकरों के भी जन्म से ही अवधिज्ञान पाया जाता है, वह भी भवप्रत्यय अवधिज्ञान है।

तिर्यंच और मनुष्यों को सम्यक्त्व आदि गुणों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला अवधिज्ञान क्षयोपशम निमित्तक या गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है। इसके अनुगामी–अननुगामी आदि छह भेद हैं।[2] क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान का दूसरा नाम गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।

अन्य प्रकार से क्षयोपशमनिमित्तक या गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के तीन भेद हैं – देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। अवधिज्ञान दिशाओं की अपेक्षा से तीन प्रकार से है – ऊपर, नीचे और तिर्यक् (तिरछा)। वह ऊपर के पदार्थों को कम जानता है, नीचे के पदार्थों को ज्यादा जानता है, तिरछा यथायोग्य जानता है; परन्तु ऊपर की अपेक्षा बहुत नीचे और तिर्यक् दिशा में अधिक जानता है।

देवों में अवधिज्ञान का ऊपर का जानने का जघन्य क्षेत्र अपने विमान का ऊपरि भाग तथा उत्कृष्टपने क्षेत्र कुछ अधिक एक लाख योजन

---

1. भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्/तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय–1, सूत्र–21
2. क्षयोपशनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।

है। नीचे जघन्यपने 25 योजन तथा उत्कृष्टपने त्रसनाली है तथा तिरछा क्षेत्र जघन्यपने 25 योजन, उत्कृष्टपने एक राजू है। नारकियों में जघन्य क्षेत्र नीचे एक कोस है, उत्कृष्टपने एक योजन है तथा ऊपर अपने बिल के उपरि भाग तक तिरछा असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है।

अवधिज्ञान का जितना क्षेत्र होता है, उस क्षेत्र में जितने आकाश के प्रदेश होते हैं, उतने आकाश प्रदेश प्रमाण उसका काल और द्रव्य, उस-उस अवधिज्ञान के होते हैं अथवा उतने समय प्रमाण अतीत या अनागत का ज्ञान होता है और उतने भेदवाले अनंत प्रदेशी पुद्गल स्कंधों में और सकर्मक जीवों में अवधिज्ञान की प्रवृत्ति होती है।

भाव की दृष्टि से अपने विषयभूत पुद्गल स्कंधों के रूपादि विकल्पों (गुणों) को और जीव के औदयिक, औपशमिक और क्षायिक आदि भावों को अवधिज्ञान जानता है।

दूसरे प्रकार से भवप्रत्यय तथा क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान के जो तीन भेद हैं - देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। इनमें भवप्रत्यय अवधिज्ञान भी मात्र देशावधिरूप ही होता है। क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान देशावधि आदि तीनों प्रकार का होता है। इनमें देशावधि का जघन्य क्षेत्र उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है तथा उत्कृष्ट क्षेत्र सर्वलोक है। परमावधि का जघन्यक्षेत्र एक प्रदेश अधिक सर्वलोक प्रमाण है और उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्येय लोक प्रमाण है। सर्वावधि का क्षेत्र परमावधि के उत्कृष्टक्षेत्र से बाहर असंख्यात लोकप्रमाण है।

देशावधि का जघन्य काल आवलि का असंख्येय भाग और द्रव्य अंगुल के असंख्यातवें भाग, क्षेत्र प्रदेश प्रमाण है। अर्थात् उतने क्षेत्र प्रमाणस्थित असंख्यात और अनंत स्कन्ध प्रदेशों में इस ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। स्वविषयक स्कन्धगत अनंत वर्ण, रस आदि भाव को जानना इस ज्ञान का भाव है।

देशावधि संयमी तथा असंयमी दोनों के होता है, परन्तु परमावधि व सर्वावधि – ये दोनों नियम से संयमी के ही होते हैं, संयमी में भी चरमशरीरी अर्थात् उसी जन्म से मोक्ष जाने वाले के होते हैं, मोक्ष जाने वालों में भी उत्कृष्ट आचरणवाले संयमी के ही होते हैं, सभी के नहीं।

1. अनुगामी, 2. अननुगामी, 3. वर्द्धमान, 4. हीयमान, 5. अवस्थित, 6. अनवस्थित, 7. सप्रतिपाति, 8. अप्रतिपाति – कुल आठ भेद भी गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के ही माने गये हैं। ये आठों भेद देशावधि में घटित होते हैं। हीयमान और सप्रतिपाति को छोड़कर शेष छह भेद परमावधि में घटित होते हैं। अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित और अप्रतिपाती – ये चार भेद सर्वावधि में घटित होते हैं।

देव, नारकी, छद्मस्थ दशावाले तीर्थंकर – इन तीनों के जो भवप्रत्यय अवधिज्ञान पाया जाता है, वह सर्वांग से व्यक्त होता है। अर्थात् भवप्रत्यय अवधिज्ञान का क्षयोपशम सर्वात्मप्रदेशों में पाया जाता है तथा गुणप्रत्यय अवधिज्ञान का क्षयोपशम मनुष्य और तिर्यंचों के शरीर के नाभि के ऊपर ही होता है, उसमें भी वह नाभि के ऊपर शंख, चक्र, वज्र, स्वास्तिक, मीन, कलश आदि शुभ चिह्नों से व्यक्त होता है।

ये चिह्न उस उपयोग के बाह्य उपकरण हैं। नाभि के ऊपर ये चिह्न संख्या में एक होता है या अनेक भी होते हैं।

देशावधि अवधिज्ञान उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें देव और नारकियों के मध्यम देशावधि ज्ञान होता है। असंयमी मनुष्यों और तिर्यंचों के जघन्य और मध्यम देशावधिज्ञान होते हैं। उत्कृष्ट देशावधिज्ञान अचरमशरीरी संयमी मुनि के भी होता है, चरमशरीरी के भी होता है, परमावधि और सर्वावधिज्ञान नियम से चरमशरीरी के ही होते हैं।

अवधिज्ञान से संबंधित चार्ट

नाम	द्रव्य	क्षेत्र	काल	भाव
1. जघन्य देशावधि	घनांगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र का औदारिक शरीर का द्रव्य	सूक्ष्म निगोदिया जीव के जन्म से तीसरे समय के शरीर की अवगाहना घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग	आवली का असंख्यातवाँ भाग	आवली के असंख्यातवें भाग की व्यंजनपर्यायें अर्थ पर्यायें
2. उत्कृष्ट देशावधि	कार्माण वर्गणा को एकबार ध्रुवहार का भाग देने पर उतने परमाणुओं का स्कंध	संपूर्ण लोक	एक समय कम एक पल्य	असंख्यात लोक प्रमाण पर्यायें
3. जघन्य परमावधि	एक प्रदेश अधिक लोकप्रमाण पुद्गल द्रव्य	एक प्रदेश अधिक संपूर्ण लोक	असंख्यात वर्ष	एक प्रदेश अधिक लोकप्रमाण पुद्गल द्रव्य को जानना
4. उत्कृष्ट परमावधि	असंख्यात लोकप्रमाण पुद्गल द्रव्य	असंख्यात लोकप्रमाण क्षेत्र	असंख्यात वर्ष एक सागर प्रमाण	असंख्यात लोकप्रमाण पुद्गलद्रव्य के रूपादि को जानना
5. सर्वावधि	परमावधि के द्रव्य से बाहर असंख्यात लोकप्रमाण पुद्गल द्रव्य	परमावधि से बाहर असंख्यात लोकप्रमाण	परमावधि के काल से बाहर असंख्यात वर्ष प्रमाण	परमावधि से बाहर असंख्यात लोकप्रमाण पुद्गलद्रव्य के रूपादि को जानना

यहाँ काल का अर्थ इतना-सा है कि उतने काल में जो कार्य हो चुका है या होनेवाला है, उसे अवधिज्ञान जानता है।

तिर्यंचों के जो जघन्य और मध्यम प्रकार का देशावधि अवधिज्ञान पाया जाता है, उसके तीन भेद किए हैं - उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। तिर्यंचों के उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। उसका काल असंख्यात वर्ष है। उसका द्रव्य तेजः शरीर प्रमाण है। भाव स्वविषयक द्रव्य स्कन्ध के अनेक रूपादि को जानना है।

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार अवधिज्ञान की परिभाषा इस प्रकार है -

अंतिम खंदंताइं, परमाणुप्पहुदि मुत्तिदव्वाइं।
जं पच्चक्खं जाणई, तमोहिणाणं ति णादव्वं।।981।।[1]

अर्थ - जो अंतिम स्कन्धपर्यन्त परमाणु आदिक मूर्त द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानता है, उस ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।

णमो ओहिजिणाणं।।2।।
णमो परमोहिजिणाणं।।3।।
णमो सव्वोहिजिणाणं।।4।।
णमो अणंतोहिजिणाणं।।5।।[2]

अर्थ - अवधि (ज्ञान प्राप्त) जिनों को नमस्कार हो।
परमावधि (ज्ञान प्राप्त) जिनों को नमस्कार हो।
सर्वावधि (ज्ञान प्राप्त) जिनों को नमस्कार हो।
अनंतावधि (ज्ञान प्राप्त) जिनों को नमस्कार हो।

इस प्रकार (पुष्पदन्त) भूतबलि ने अवधि (देशावधि), परमावधि, सर्वावधि तथा अनंतावधि- चार प्रकार के अवधिज्ञान प्राप्त जिन को

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-981, पृष्ठ-295
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-51

नमस्कार किया है। यहाँ ''अनंतावधि जिन'' यह नया विषय दिखाई दिया। क्योंकि देशावधि, परमावधि, सर्वावधि - ये अवधिज्ञान के तीन प्रकार श्रुत-परिचित हैं, परन्तु अनंतावधि न श्रुत था, न परिचित।

धवलाकार ने **शंका** प्रकट की कि एक तरफ अवधि (सीमा) कह रहे हैं और साथ में अनंत - ये दोनों तो विरोधाभासी हुए।

उसका **समाधान** करते हुए लिखते हैं कि उत्कृष्ट अनंत को उपचार से अवधि मानने में कोई विरोध नहीं है।

ओहि व ओहि त्ति उवयारेण उक्कस्साणंस्स ओहित्त-विरोहाभावादो।[1]

अर्थ - जो अवधि के समान है, वह अवधि है, इस प्रकार उपचार से उत्कृष्ट अनंत को अवधि मानने में विरोध का अभाव है।

अन्त और अवधि जिसके नहीं है, वह अनन्तावधि है अर्थात् यहाँ केवलज्ञानी को ही अनन्तावधि जिन कहा है। अर्थात् धवलाकार के अनुसार केवलज्ञान को ही उपचार से अनन्तावधि ज्ञान जानना चाहिए।

यहाँ ऋद्धि के प्रकरण में जघन्य तथा मध्यम देशावधिज्ञान का ग्रहण नहीं है, क्योंकि ये देव, नारकी, तिर्यंच और असंयमी मनुष्यों के पाये जाते हैं। यहाँ उत्कृष्ट देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ज्ञानों को ही अवधिज्ञान बुद्धि ऋद्धि के अन्तर्गत ग्रहण करना चाहिए।

यह ऋद्धिवाला ज्ञान मुनि के नाभि के ऊपर स्थित शंख, चक्र आदि शुभ चिह्नों से व्यक्त होता है। यह अवधिज्ञान बुद्धि-ऋद्धि वीर्यान्तराय, अवधिज्ञानावरण, इन दो कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से प्रकट होती है।

जो उत्कृष्ट देशावधि, परमावधि और सर्वावधि नाम के अवधिज्ञान जीव के परिणामों की विशुद्धि से स्वत: प्रकट होते हैं, उन्हें अवधिज्ञान बुद्धि ऋद्धि कहा है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9

यहाँ प्रश्न – अवधिज्ञान और अवधिज्ञान बुद्धि–ऋद्धि में क्या अन्तर है?

उसका उत्तर – जो ऋद्धि रूप है, वह भी अवधिज्ञान ही है और जो ऋद्धिरूप नहीं है, वह भी अवधिज्ञान है। दोनों में अन्तर यह है कि अवधिज्ञान चारों गति के जीवों के पाया जाता है, जबकि अवधिज्ञान बुद्धि–ऋद्धि मनुष्यगति में ही पायी जाती है। मनुष्यगति में भी भोगभूमि या म्लेच्छखण्ड के मनुष्यों को नहीं, कर्मभूमि के मनुष्यों को ही, कर्मभूमि के पर्याप्तकों के ही, अपर्याप्तकों के नहीं, अपर्याप्तकों में संयमी को ही, असंयमियों के नहीं, संयमियों में भी छठे से आगे के गुणस्थानों में ही, नीचे के संयमियों के प्रकट नहीं होती है।

इसप्रकार आशय यह है कि महामुनि को वीर्यान्तराय, अवधिज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय इन बहिरंग कारणों तथा भावविशुद्धिरूप अंतरंग कारण से जो अवधिज्ञान स्वत: प्रकट हो, उसे अवधिज्ञान बुद्धि–ऋद्धि जानना, शेष अवधिज्ञान, अवधिज्ञान है, अवधिज्ञान बुद्धि–ऋद्धि नहीं है।

अवधिज्ञानियों में अंतिम अवधिज्ञानी मुनि 'श्री' नाम के मुनि हुए।[1]

.... ओहिणाणीसु।

चरिमो सिरि णामो सुद विणय सुसीलादि संपण्णो।।[1]

अर्थ – अवधिज्ञानियों में अंतिम अवधिज्ञानी मुनि, श्रुत–विनय–सुशील संपन्न 'श्री' नाम के मुनि हुए। इसके अलावा प्रत्येक कल्कि के काल में एक मुनि को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है –

एकक्किं पडि एक्केक्के दुस्सम–साहुस्स ओहिणाणं पि।[2]

अर्थ – प्रत्येक कल्कि के काल में एक मुनि को दुषमा काल में अवधिज्ञान होता है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, गाथा–1492
2. तिलोयपण्णत्ती, गाथा–1529, पृष्ठ–442

4. कोष्ठ-बुद्धि-ऋद्धि

णमो कोट्ठबुद्धीणं।।[1]

अर्थ – कोष्ठ बुद्धि (ऋद्धि) धारी जिनों को नमस्कार हो।

धारणा ज्ञान की ऋद्धि को कोष्ठबुद्धि ऋद्धि कहते हैं। जिस ऋद्धि के कारण प्राप्त ज्ञान नियत काल तक टिका रहता है, नष्ट नहीं होता है, उस ऋद्धि को कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि कहते हैं।

कोष्ठ आदि नाम उपमा नाम हैं। जैसे कोष्ठ (कोठ्यार, स्टोरेज) में रखे पदार्थ एक-दूसरे में मिलने नहीं, घटते-बढ़ते नहीं, सड़ते-गलते नहीं, ज्यों-के-त्यों रहते हैं; वैसे जिस बुद्धि में पदार्थों का ज्ञान एक दूसरे ज्ञान से मिश्रित होता नहीं, घटता-बढ़ता नहीं, धूँधला या नष्ट होता नहीं, ज्यों-का-त्यों रहता है, इसप्रकार की बुद्धि कोष्ठ-बुद्धि है। ऐसी बुद्धि की प्राप्ति कोष्ठबुद्धि-ऋद्धि है।

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार कोष्ठबुद्धि का स्वरूप इसप्रकार है –

उक्कस्स धारणाए, जुत्तो पुरिसो गुरुवदेसेण।
णाणाविह-गंथेसु, वित्थारे लिंग-सद्द-बीजाणि।।987।।
गहिऊण णिय-मदीए, मिस्सेण विणा धरेदि मदि-कोट्ठे।
जो होदि तस्स बुद्धी, णिद्दिट्ठा कोट्ठबुद्धि त्ति।।988।।[2]

अर्थ – उत्कृष्ट धारणा से युक्त कोई पुरुष (ऋषि) गुरु के उपदेश से नाना प्रकार के ग्रन्थों में से विस्तारपूर्वक, लिंग सहित शब्दरूप बीजों को अपनी बुद्धि से ग्रहण कर, उन्हें मिश्रण के बिना बुद्धिरूपी कोठे में धारण करता है, उसकी बुद्धि कोष्ठ-बुद्धि कही गई है।

धवलाकार के अनुसार श्रुतज्ञान संबंधी समस्त द्रव्य व पर्यायों को

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-6, पृष्ठ-53
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-987-988, पृष्ठ 297

धारण करने रूप गुण से कोष्ठ के समान होने से, उस बुद्धि को भी कोष्ठ कहा जाता है। कोष्ठ रूप बुद्धि, वह कोष्ठबुद्धि है –

''सुदाससदव्व–पज्जायधारणगुणेण कोट्ठसमाणा बुद्धी कोट्ठा, कोट्ठा च सा बुद्धी च कोट्ठाबुद्धी।''[1]

अर्थ –श्रुतज्ञान संबंधी समस्त द्रव्य और पर्यायों को धारण करने रूप गुण से कोष्ठ के समान होने से उक्त बुद्धि को भी कोष्ठ कहा जाता है। कोष्ठरूप जो बुद्धि वह कोष्ठबुद्धि है।

आचार्य अकलंक के अनुसार परोपदेश से अवधारित बहुत से पदार्थ, ग्रन्थ, बीज बुद्धि रूपी कोठे में भिन्न–भिन्न सुविचारित रहते हैं, वह कोष्ठबुद्धि है, ये पदार्थ ग्रन्थ, बीज बुद्धि में वैसे ही सुरक्षित रहते हैं, जैसे भण्डारी के द्वारा भण्डार में रखे गए पदार्थ सुरक्षित रहते हैं –

''कोष्ठागारिकस्थापितानामसंकीर्णानामविनष्टानां भूयसां धान्यबीजानां यथा कोष्ठेऽवस्थानं तथा परोपदेशादवधारितानाम् अर्थग्रन्थबीजानां भूयसामव्यतिकीर्णानां बुद्धावसन्ति कोष्ठबुद्धिः।''[2]

श्रुतसागर के अनुसार धान्यागार में संगृहीत विविध धान्यों की तरह जिस बुद्धि में सुने हुए वर्ण आदि का बहुत काल तक विनाश नहीं होता है, वह कोष्ठबुद्धि है –

''कोष्ठागारे संगृहीतविविधाकारधान्यवत् यस्यां बुद्धौ वर्णादीनि श्रुतानि बहुककालेऽपि न विनश्यन्ति सा कोष्ठबुद्धिः।''[3]

''यस्यामवगतानेकग्रन्थार्थानाममवस्थितिः।
अविनष्टाप्रकीर्णानां कोष्ठे संभृतधान्यवत्।।36।।
कोष्ठबुद्धिर्मलाशेषविशेषार्थावभासिनी....।।37।।[4]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग, पुस्तक–9, पृष्ठ–53
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–559
3. तात्पर्यवृत्ति अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–312
4. आचार्य नरेन्द्रसेन, सिद्धांतसार, अध्याय–2, श्लोक–36–37, पृष्ठ–24

अर्थ – जिस बुद्धि में प्राप्त अनेक ग्रंथों के अर्थों की अवस्थिति का अविनाश (नाश नहीं होता) तथा उन अर्थों में अनिश्चयपना नहीं होता है अर्थात् अर्थ परस्पर मिलते नहीं, ऐसी बुद्धि को कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि कहते हैं।

इन सब कथनों का आशय यही है कि प्राप्त ज्ञान ज्यों-का-त्यों रहे, कालान्तर में भी विस्मृत न हो, ऐसी बुद्धि ही कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि कहलाती है।

धवलाकार के अनुसार बुद्धि में पदार्थों को धारण करने का काल जघन्यपने संख्यात वर्ष है और उत्कृष्टपने असंख्यात वर्ष है–

''एदि से अत्थधारणकालो जहण्णेण संखेज्जाणि उक्कस्सेण असंखेज्जाणि वासाणि।''[1]

यहाँ प्रश्न है कि यह ऋद्धि संयमी मुनियों के ही होती है तथा मनुष्यों की आयु संख्यात वर्षों की अर्थात् अधिकतम एक करोड़ पूर्व वर्षों की होती है। तब यहाँ असंख्यात वर्षों की धारणा कैसे कही?

उसका उत्तर धवलाकार का सूत्र है कि –

''कालमसंखं संखं च धारणा।''[2]

अर्थ – धारणा का काल संख्यात और असंख्यात (वर्ष) है।

तथा यहाँ धारणा ज्ञान की शक्ति बताई है कि यदि किसी मुनि की असंख्यात वर्ष की आयु होती तो वह असंख्यात वर्ष तक रहती। यहाँ मनुष्यों की आयु नहीं बतानी है। यहाँ तो धारणा ज्ञान की शक्ति बताई है।

प्रश्न – कोष्ठबुद्धि कैसे प्रकट होती है?

उत्तर – धारणावरणीय कर्म के तीव्र क्षयोपशम से प्रकट होती है।

''धारणावरणीयस्स कम्मस्स तिव्वखओवसमादो।''[3]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-53-54
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-54
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-54

प्रश्न – गणधरों की चार निर्मल बुद्धियाँ - कोष्ठ, बीज, पद और संभिन्नसंश्रोतृत्व बताया है, उनमें सबसे पहले कोष्ठ बुद्धि क्यों बतायी?

उत्तर – धारणा के बिना प्राप्त सम्पूर्ण ज्ञान नष्ट हो जाता है। अवस्थान (आधार) के बिना उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान के नाश का प्रसंग आयेगा। इसीलिए कोष्ठ (धारणावाली) बुद्धि ऋद्धि को चार बुद्धि ऋद्धियों में सबसे पहले बताया है। जैसे दूध आदि पदार्थ पात्र के बिना नष्ट होता है, वैसे धारणा के बिना ज्ञान भी नष्ट होता है।

''कोट्ठबुद्धीए अभावो, उप्पण्णसुदणाणस्स अवट्ठाणेण विणा विणासप्पसंगादो''[1]

अर्थ - कोष्ठ बुद्धि के अभाव में उत्पन्न श्रुतज्ञान का अवस्थान (धारणा) के बिना विनाश का प्रसंग आयेगा।

बीजबुद्धि आदि की अपेक्षा धारणा का गुण-गौरव अधिक पाया जाता है। उसका कारण यह है कि धारणा के बिना बीजबुद्धि आदि की विफलता देखी जाती है, यही धवलाकार ने लिखा है -

धारणाए गुणगरिमुवलंभादो, धारणाए विणा बीजबुद्धिआदीणं विहलत्तुवलंभादो।''[2]

इसलिए बीज आदि से पहले कोष्ठ बुद्धि को कहा है।

सारांश यह है कि जिसके कारण गुरुमुख आदि से प्राप्त ज्ञान कालान्तर तक नष्ट नहीं होता है, बुद्धि में ज्यों-का-त्यों रहता है, न आपस में मिलता है, उसे कोष्ठबुद्धि ऋद्धि कहते हैं। ज्ञान की धारणा असंख्यात काल तक की होती है तथा धारणा के अभाव में ज्ञान का विनाश है, इसलिए उसे बीजबुद्धि से पहले कहा।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-58
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-55

5. बीज-बुद्धि-ऋद्धि

णमो बीजबुद्धीणं।।[1]

अर्थ – बीज-बुद्धि-ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।

यह बुद्धि -ऋद्धि धारणावरणीय मतिज्ञानावरण व वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होती है।

जैसे वृक्ष के उद्‌गम का आधार बीज होता है, वैसे द्वादशांग श्रुत के उद्‌गम का आधार बीजभूत पद होते हैं। उन बीज पदों का तथा उन बीजपदों में स्थित अर्थ का ज्ञान जिस ऋद्धि के द्वारा होता है, उस ऋद्धि को बीज-बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि के द्वारा गुरुमुख से लिंगसहित एक ही बीज पद को ग्रहण कर उसके आश्रय से सम्पूर्ण श्रुत का विचार किया जाता है। यही आचार्य यतिवृषभ कहते हैं –

संखेज्ज सरुवाणं सद्दाणं तत्थ लिंग-संजुत्तं।
एक्कं चिय बीजपदं, लद्धूण गुरुवदेसेण।।985।।
तम्मि पदे आहारे, सयल-सुदं चिंतिऊण गण्हेदि।
कस्स वि महेसिणो जा, बुद्धी सा बीज-बुद्धि ति।।986।।[2]

अर्थ – किसी भी महर्षि की जो बुद्धि संख्यात-स्वरूप शब्दों के मध्य में से लिंग सहित एक ही बीजभूत पद को गुरु के उपदेश से प्राप्त कर उस पद के आश्रय से सम्पूर्ण श्रुत को विचार कर ग्रहण करती है, वह बीजबुद्धि है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-7, पृष्ठ-55

2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-985-86, पृष्ठ 279

आचार्य नरेन्द्रसेन के अनुसार जैसे एक बीज अनेक हजारों धान्य की समृद्धि का सम्पादक होता है, वैसे जो बुद्धि एक बीज पद से अनेक अर्थों का संग्रह करानेवाली हो, उसे बीजबुद्धि कहते हैं –

''भव्यक्षेत्रे यथा बीजमुप्तं कालादियोगतः।
अनेकधा भवेद्वृद्धमृद्धिसम्पादकं नृणाम्।।38।।
तथैकबीजभूतार्थसंग्रहार्थदर्शिनी।
अनेकधा मता सेयं बीजबुद्धिर्महात्मनाम्।।39।।''[1]

इस बुद्धि को बीज नाम क्यों दिया? इसका समाधान करते हुए वीरसेन स्वामी कहते हैं कि जिसप्रकार बीज है; वह मूल, अंकुर, पत्र, पोर, स्कन्ध, प्रसव, तुष, कुसुम, क्षीर और तंदुल आदि का आधार है, उसी प्रकार बारह अंगों के अर्थ का आधारभूत जो पद है, वह बीज तुल्य होने से बीज है। बीज पदविषयक मतिज्ञान भी कार्य में कारण के उपचार से बीज है।

तथा संख्यात शब्दों द्वारा अनंत अर्थों से संबद्ध अनंत लिंगों के साथ बीज पद को जाननेवाली बीज-बुद्धि है। इस विषय में धवलाकार के शब्द इसप्रकार हैं –

''जहा बीजं मूलंकुर-पत्र पोर-कंद-पसव-तुस-कुसुम-खीरतंदुलादीणमाहारं, तहा दुवालसंगत्थाहारं जं पदं तं बीजतुल्लातादो बीजं। बीजपदविसयमतिणाणं पि बीजं, कज्जे कारणोवयारादो।

संखेज्जसद्दअणंतत्थपडिबद्धअणंतलिंगेहि सह बीजपदं जाणंती बीजबुद्धि त्ति भणिदं होदि।''[2]

यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि बीजबुद्धि क्षायोपशमिक ज्ञान रूप है, वह अनंत लिंगवाले बीजपद को कैसे जानेगी, क्योंकि अनंत को जानना क्षयोपशम ज्ञान की सीमा से बाहर है।

---

1. आचार्य नरेन्द्रसेन, सिद्धान्तसार, अध्याय-2, श्लोक-38-39, पृष्ठ-24
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-56

उक्त शंका का समाधान करते हुए वीरसेन कहते हैं कि मतिज्ञान के द्वारा भी सामान्य रूप से अनंत अर्थों को ग्रहण किया जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं है –

''ण, खओवसमिएण परोक्खेण केवलणाणविसईकयाणं–तत्थाणं जहा परिच्छेदो कीरदे परोक्खसरूवेण, तहा मदिणाणेण वि अणंतपरिच्छेदो सामण्णरुवेण कीरदे, विरोहाभावादो।[1]

अर्थ – नहीं, यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि जैसे क्षायोपशमिक परोक्ष श्रुतज्ञान के द्वारा केवलज्ञान विषयक अनंत अर्थों को परोक्षरूप से जाना जाता है, वैसे परोक्ष मतिज्ञान के द्वारा भी अनंत अर्थों को परोक्ष रूप से जाना जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

यहाँ पुन: **प्रश्न** है कि यदि श्रुतज्ञान के द्वारा अनंत अर्थों को जाननेवाला कहोगे तो चौदह पूर्वी के ज्ञान का विषय उत्कृष्ट संख्यात ही कहा है, वह कैसे घटित होगा?

उसका **उत्तर –** ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, श्रुतज्ञान उत्कृष्ट संख्यात को ही जानता है, ऐसा कोई नियम नहीं है अर्थात् श्रुतज्ञान परोक्षरूप से सामान्यपने अनंत को जानता है।

जदि सुदणाणिस्स विसओ अणंतसंखा होदि तो जमुक्कस्स–संखेज्ज विसओ चोद्दस्सपुव्विसे त्ति परियम्मे उत्तं तं कधं घडदे?

ण एस दोसो, उक्कस्ससंखेज्जं चेव जाणदि त्ति तत्थ णियमाभावादो।[2]

अर्थ – शंका – यदि श्रुतज्ञान का विषय अनंत संख्या है तो चौदह पूर्वी का विषय उत्कृष्ट संख्यात है – ऐसा जो परिकर्म में कहा है, वह कैसे घटित होगा?

1-2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-56

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, श्रुतज्ञान उत्कृष्ट संख्यात को ही जानता है – ऐसा कोई नियम नहीं है।

राजवार्तिककार बहुत ही सरल तथा संक्षिप्त भाषा में कहते हैं कि जैसे सारभूत, भलीप्रकार कर्षित, सुमथीकृत खेत में कालादि की सहायता की अपेक्षा रखनेवाला बोया हुआ एक भी बीज, जिसप्रकार अनेक बीजों का उत्पादक होता है, उसी प्रकार एक बीजपद के ग्रहण करने मात्र से ही अनेक पदार्थों का ज्ञान हो जाना बीजबुद्धि ऋद्धि है –

सुकृष्टसुमथीकृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्षं बीज-मेकमुप्तं यथा अनेकबीजकोटिप्रदं भवति तथा .... एक बीजपद ग्रहणादनेकपदार्थप्रतिपत्तिर्बीजबुद्धिः।''[1]

श्रुतसागर सूरि के अनुसार भी यही अर्थ बताया है कि इस बुद्धि से एक बीजाक्षर के ज्ञान से समस्त शास्त्र का ज्ञान हो जाता है, उसे ही बीजबुद्धि कहते हैं –

''एकबीजाक्षरात् शेषशास्त्रज्ञानं बीजबुद्धिः।''[2]

प्रश्न – बीजबुद्धि ऋद्धि कैसे उत्पन्न होती है?

उत्तर – आचार्य यतिवृषभ और आचार्य अकलंक के अनुसार, नोइंद्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय – इन तीन प्रकार की प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से बीजबुद्धि ऋद्धि उत्पन्न होती है –

णोइंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरअंतरायाए।
तिविहाणं पयडीणं, उक्कस्स-खओवसम-विसुद्धस्स।।[3]

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-559
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-312
3. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-984, पृष्ठ-296

"नोइंद्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति।"[1]

आचार्य वीरसेन के अनुसार विशिष्ट अवग्रहावरणीय के क्षयोपशम से बीज-बुद्धि (ऋद्धि) उत्पन्न होती है -

"एसा कुदो होदि?

विसिट्ठोग्गहावरणीयक्खओवसमादो"[2]

अर्थ - शंका - यह बीजबुद्धि कैसे उत्पन्न होती है?

समाधान - वह विशिष्ट अवग्रहावरणीय के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है।

वे बीजपद, अक्षर तथा अनक्षररूप होते हैं-

"तित्थयर-वयण-विणिग्गय-अक्खराणखरप्पय-बहु-लिंगालिंगियबीजपदाणं।"[3]

अर्थ - तीर्थंकर से निकले हुए अक्षर-अनक्षररूप बहुत लिंगालिंगिक बीजपदों का ज्ञान जिस ऋद्धि से होता है, उसे बीजबुद्धि ऋद्धि कहते हैं। अर्थात् बीजपद अक्षर-अनक्षर रूप तथा लिंगिक, अलिंगिक होते हैं।

धवला के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बीज पद अक्षररूप तथा अनक्षर रूप होते हैं; साथ ही वे बहु लिंगिक, बहु अलिंगिक भी होते हैं।

प्रश्न - बीजपद किसे कहते हैं?

उत्तर - जो अक्षररूप या अनक्षररूप पद, जिनमें अनेक अर्थ छिपे (गूढ़, गर्भित) हो, तथा जो बहुलिंगिक (अनेक संकेतों को धारण करने वाले) हो, इसप्रकार के पदों को बीजपद कहते हैं। जैसे ॐ इस नाद रूप

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-559
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-59
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-59

अनक्षर पद में पंचपरमेष्ठी तथा उनका सुविस्तृत अर्थ छिपा है। ह्रीँ इस अक्षर रूप पद में चौबीस तीर्थंकर तथा उनका सुविशाल अर्थ संगृहीत है।

उक्त प्रकार के बीजपदों में स्थित अर्थों को जाननेवाली बुद्धि को बीजबुद्धि ऋद्धि कहते हैं।

जिनागम में दस प्रकार के सम्यक्त्व के बाह्यकारणों के आधार पर सम्यक्त्व के जो दस[1] भेद बताये हैं, उनमें एक बीजसम्यग्दर्शन है। वह बीजसम्यग्दर्शन इसी बीजबुद्धि से संबंधित है।

उसका स्वरूप इसप्रकार बताया है – बीजपदों के ग्रहणपूर्वक सूक्ष्मार्थ को सुनकर जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है, उसे बीजसम्यग्दर्शन कहते हैं तथा ऐसे आर्यपुरुष को दर्शनार्य कहते हैं –

''बीजपदग्रहणपूर्वकसूक्ष्मार्थतत्त्वार्थश्रद्धाना बीजरुचय:।''[2]

सारांश यह है कि जिस बुद्धि के कारण तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से निकले बीजपदों का तथा उसमें स्थित अर्थों का ज्ञान होता है, उसे बीजपद बुद्धि या बीज बुद्धि कहते हैं। ऐसे बीजपदों का और उसमें स्थित अर्थों का ज्ञान करानेवाली बुद्धि की प्राप्ति को बीजबुद्धि ऋद्धि कहते हैं।

स्वयं बीजपद, बीजपद के अर्थ जाने तो बीजबुद्धिधारक कहलाता है। बीजबुद्धिधारक नियम से पूर्व से ही सम्यग्दृष्टि तथा ऋद्धि प्राप्त होता है। जिनागम में उत्कृष्ट कथन किया जाता है। सामान्यरूप से किंचित् बीज पदों का ज्ञान सामान्यजनों को भी हो सकता है।

यहाँ **प्रश्न** – बीजबुद्धि ऋद्धि संयमी सम्यग्दृष्टियों के होती है। ऋद्धिधारी पहले से सम्यग्दृष्टि होता है। पहले बीजपदों को सुने फिर उनका

---

1. 1. आज्ञा, 2. मार्ग, 3. उपदेश, 4. सूत्र, 5. बीज, 6. संक्षेप, 7. विस्तार, 8. अर्थ, 9. अवगाढ़, 10. परमावगाढ़ – आचार्य अकलंक तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ 558
2. वहीं, पृष्ठ 558

अर्थ धारण कर उसके बाद सम्यग्दर्शन हो – यह कैसे सम्भव है?

उत्तर – बीजबुद्धि ऋद्धि और बीज सम्यग्दर्शन दोनों भिन्न-भिन्न हैं। गुरुमुख से बीजपद को विस्तार से जाने, उसके अर्थ को जाने, उसके बाद सम्यग्दर्शन हो उसे बीजसम्यग्दर्शन कहते हैं। बीज बुद्धि ऋद्धि पूर्व से ही जो सम्यग्दृष्टि, पूर्ण संयमी हो, उसके होती है।

सार यह है कि नोइंद्रियावरण, श्रुतावरण, वीर्यान्तराय, अवग्रहावरणीय के क्षयोपशम रूप बहिरंग कारणों तथा भावविशिद्धिरूप अंतरंग कारण से तीर्थंकर या आचार्य के उपदेश से एक बीजपद ग्रहण करके उसके आधार से संबंधित सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का स्वत: होना, उसे बीजबुद्धि ऋद्धि कहते हैं।

6. पदानुसारिणी-बुद्धि-ऋद्धि

णमो पदाणुसारीणं।।[1]

अर्थ – पदानुसारिणी बुद्धि ऋद्धि धारक जिनों को नमस्कार हो।

''पदमनुसरति अनुकुरुते इति पदानुसारी बुद्धिः।''[2]

अर्थ – (बीज) पद का अनुसरण अर्थात् अनुकरण करनेवाली बुद्धि पदानुसारी बुद्धि है।

जैसे बीज से निकले मूल, अंकुर, पत्र, तना, पुष्प, फल आदि को, यहाँ मूल होता है, यहाँ अंकुर होता है, इत्यादि को तथा मूल इसप्रकार का, इस वर्ण का होता है – इत्यादि को जाना जाता है। वैसे बीज पद से निकले हुए अक्षर, पदादि को तथा यहाँ इस पद का यह लिंग होता है या यहाँ इस इस अक्षर का यह लिंग होता है। इस प्रकार जानने वाली बुद्धि को पदबुद्धि कहते हैं।

बीजपद में अनेक अर्थ छिपे होते हैं, अथवा जिसमें अनेक अर्थ

1-2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-8, पृष्ठ-59

छिपे होते हैं, उसे बीजपद कहते हैं। उसमें अक्षर भी और पद भी गूढ़ होते हैं। बीज पद में अर्थ, अक्षर और पद गूढ़ रूप में होते हैं, शक्तिरूप होते हैं। बीजपद में स्थित अक्षर और पदों को उनके लिंग सहित व्यक्तरूप जानना पदबुद्धि का कार्य है। बीजपद में शक्तिरूप से जानना- यह बीजपदबुद्धि का कार्य है। बीजपद का अनुसरण करके व्यक्तरूप से विस्तार से जानना यह पदबुद्धि का कार्य है।

जैसे राशिरूप गेहूँ को फैलाकर एक-एक गेहूँ को जाना जाता है, वैसे ज्ञानराशिरूप बीज पद में स्थित पद और अर्थों को भिन्न-भिन्न कर एक-एक पद और अर्थ ज्ञान करानेवाली बुद्धि को पदानुसारिणी बुद्धि कहते हैं। बीज में अंकुर, मूल, पत्रादि को जानना बीजज्ञान है, वैसे बीजपद में पदादि को जानना बीजबुद्धि है।

साथ ही बीजबुद्धि से ज्ञात अक्षरों और पदों का लिंग निर्धारण का कार्य पदबुद्धि का है। जैसे बीजबुद्धि से ज्ञात मित्र शब्द है, यदि इसका प्रयोग पुलिंग में करेंगे 'मित्र:' इस प्रकार तो उसका अर्थ सूर्य होता है, और यदि उसका प्रयोग नपुंसकलिंग में करेंगे तो 'मित्रम्' इसप्रकार तो उसका अर्थ मित्र (दोस्त) होता है। इस प्रकार व्याकरणवत् नयादि प्रयोगों में भी जानना।

उन-उन अक्षर और पदों के निर्धारण होने के बाद उससे संबंधित पूर्ण विषय को जाननेवाली बुद्धि पदानुसारी बुद्धि है।

अर्थात् पदानुसारी बुद्धि के तीन काम-बीजपद के आधार से 1. बीजपद में स्थित अक्षर और पदों को जानना 2. उनके लिंग आदि का निर्धारण करना, 3. उस अक्षर या पद से संबंधित सम्पूर्ण विषय, अर्थ या ग्रन्थ को जानना। ग्रंथ रचने का भाव हो तो उस ग्रन्थ की रचना करना।

इसे ऐसा भी समझ सकते हैं कि मोतियों का ज्ञान बीजबुद्धि का कार्य है, और मोतियों से बनने वाली मालाओं का ज्ञान पदबुद्धि का कार्य है।

बीजबुद्धि से पदों का निर्धारण कर ग्रहण करना, उससे वाक्य-रचना

करना, ग्रन्थ-निर्माण करना ये सब पदबुद्धि के कार्य हैं।

आचार्य वीरसेन के शब्दों में इस बुद्धि का स्वरूप इसप्रकार है –

''बीजपदमवगंतूण एत्थ इदं एदेसिमक्खराणं लिंग होदि ण होदि त्ति ईहिदूण सयलसुदक्खर-पदाइमवगच्छंती पदाणुसारी।।''[1]

अर्थ – बीजबुद्धि से बीजपद को जानकर यहाँ यह इन अक्षरों का लिंग होता है और इनका लिंग नहीं होता। इसप्रकार विचार कर समस्त श्रुत के अक्षर और पदों को जाननेवाली पदानुसारी बुद्धि है।

आचार्य अकलंक के अनुसार इसकी परिभाषा इसप्रकार है –

''एकपदस्यार्थं परत उपश्रुत्यादौ अन्ते च मध्ये वा शेष-ग्रन्थार्थावधारणं पदानुसारित्वम्।''[2]

अर्थ – आदि, मध्य अथवा अन्त के किसी एक पद के उच्चारण करने पर उसे सुनकर सम्पूर्ण ग्रन्थ के अर्थ का अवधारण कर लेना या ज्ञान कर लेना, वह पदानुसारित्व (बुद्धि ऋद्धि) है।

बीजपद का अनुसरण करने के कारण से पदबुद्धि को बीजपद का अनुसरनेवाली पदानुसारी बुद्धि कहते हैं। पदानुसारी पदबुद्धि के तीन भेद भी हैं –

बुद्धी वियक्ख-णाणं, पदाणुसारी हवेदि तिवियप्पा।
अणुसारी पडिसारी, जहत्थ-णामा उभयसारी।।[3]

अर्थ – विशिष्ट ज्ञान को पदानुसारणी बुद्धि कहते हैं। उसके तीन भेद हैं – अनुसारणी, प्रतिसारणी और उभयसारणी। ये तीनों बुद्धियाँ यथार्थ नाम वाली हैं।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-60
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-559
3. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-989, पृष्ठ-297

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार बीजबुद्धि में सामान्य ज्ञान है, सबका ज्ञान है, पदानुसारणी में बुद्धि में विशेष ज्ञान है, विशिष्ट ग्रन्थ का ज्ञान है।

''पदानुसारित्वं त्रेधा-अनुस्रोत: प्रतिस्रोत: उभयथा चेति।''[1]

अर्थ – अनुस्रोत, प्रतिस्रोत और उभय (अनुस्रोत-प्रतिस्रोत) रूप भेद से पदानुसारित्व बुद्धि तीन प्रकार की है।

आचार्य यतिवृषभ और आचार्य अकलंक के शब्दों में फेर है, परन्तु भाव एक ही है।

आचार्य वीरसेन, आचार्य यतिवृषभ के अनुसार तीन ही भेद बताते हैं –

''सा च पदाणुसारी अणु-पदि-तदुभयसारिभेदेण तिविहो।''[2]

अर्थ – वह पदानुसारी बुद्धि अनुसारी, प्रतिसारी और तदुभयसारि के भेद से तीन प्रकार की है।

पदानुसारिणी बुद्धि के तीन भेदों में पहला भेद-अनुसारिणी पदबुद्धि है। अनुसारिणी पदबुद्धि वह है, जो बुद्धि गुरुमुख से आदि, मध्य या अन्त के किसी एक बीजपद को ग्रहण करके उस पद के आधार से उस पद में स्थित उपरिम (ऊपर के) ग्रन्थ को ग्रहण करती है, उसे अनुसारिणी पदबुद्धि कहते हैं। आचार्य यतिवृषभ का यही भाव है –

आदि-अवसाण-मज्झे, गुरुवदेसेण एक्क-बीज-पदं।
गेण्हिय उवरिम-गंथं, जा गिण्हदि सा मदीहु अणुसारी।।[3]

अर्थ – जो बुद्धि गुरु के उपदेश से आदि, मध्य या अन्त में से किसी एक बीजपद को ग्रहण करके उपरिम ग्रन्थ को ग्रहण करती है, वह अनुसारणी बुद्धि कहलाती है।

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-559
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-60
3. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-990, पृष्ठ-298

आचार्य वीरसेन के अनुसार –

बीपदादो .... बीजपदट्ठियलिंगेण उवरिमाणि चेव जाणंती अणुसारी णाम।[1]

अर्थ – (जो) बीजपद से बीजपदस्थित लिंग से उपरिम पदों को ही जानती है, वह अनुसारी बुद्धि है।

पदबुद्धि का दूसरा भेद प्रतिसारिणी बुद्धि है। प्रतिसारिणी पदबुद्धि वह है, जो बुद्धि गुरुमुख से आदि, मध्य या अन्त के किसी एक बीजपद को ग्रहण करके उस पद के आधार से उस पद में स्थित अधस्तन (नीचे के) ग्रन्थ को ग्रहण करती है, उसे प्रतिसारिणी पद बुद्धि कहते हैं। आचार्य यतिवृषभ का भी यही भाव है–

आदि–अवसाण–मज्झे, गुरुवदेसेण एक्क–बीज–पदं।
गेण्हिय हेट्ठिम–गंथं, बुज्झदि जा सा च पडिसारी।।''[2]

अर्थ – जो गुरु के उपदेश से आदि, मध्य या अन्त के किसी एक बीजपद को ग्रहण करके अधस्तन ग्रन्थ को ग्रहण करती है, वह प्रतिसारणी बुद्धि कहलाती है।

आचार्य वीरसेन के अनुसार –

बीजपदादोहेट्ठिमपदाइंचेव बीजपदट्ठियलिंगेण जाणंती पदिसारी णाम।[3]

अर्थ – (जो) बीजपद से बीजपद में स्थित लिंग से अधस्तन पदों को ही जानती है, वह प्रतिसारी बुद्धि है।

पदबुद्धि का तीसरा भेद उभयसारिणी बुद्धि है। उभयसारिणी पदबुद्धि

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-60
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-991, पृष्ठ-298
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-3, पृष्ठ-60

वह है, जो बुद्धि गुरुमुख से आदि, मध्य या अन्त के किसी एक बीजपद को ग्रहण करके उस पद के आधार से उस पद में स्थित ऊपर के तथा नीचे के दोनों ही सभी अर्थों को नियम से अथवा अनियम से जानती है, उसे उभयसारिणी पदबुद्धि कहते हैं। यहाँ नियम अर्थात् क्रम तथा अनियम अर्थात् अक्रम ऐसा अर्थ प्रतीत होता है।

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार इस बुद्धि का स्वरूप-

णियमेण अणियमेण य, जुगवं एगस्स बीज-सद्दस्स।
उवरिम-हेट्ठिम-गंथं, जा बुज्झइ उभयसारी सा।।[1]

अर्थ **–** नियम से अथवा अनियम से एक बीजपद के (ग्रहण करने पर) उपरिम और अधस्तन ग्रन्थ को एकसाथ जानती है, वह उभयसारणी बुद्धि है।

आचार्य वीरसेन के अनुसार -

''बीजपदादो.... बीजपदट्ठियलिंगेण दोपासट्ठियपदाइं णियमेण विणा णियमेण वा जाणंती उभयसारी णाम।''[2]

अर्थ **–** (जो) बीजपद से बीजपदस्थित लिंग से दोनों पार्श्वस्थ पदों को नियम से अथवा अनियम से भी जानती है, वह उभयसारी बुद्धि है।

उभयसारिणी बुद्धि बीजपद में स्थित ऊपर, नीचे दोनों ओर के अर्थों को जानती है।

यहाँ **प्रश्न** पहले ऊपर के अर्थों को जानती है या नीचे के अर्थों को जानती है?

उसका उत्तर – उभयसारिणी बुद्धि बीजपद में स्थित दोनों ओर के अर्थों को जानती है, वहाँ यह नियम नहीं है कि वह ऊपर के अर्थों को पहले

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-992, पृष्ठ-298
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-61

जानती है या नीचे के अर्थों को पहले जानती है। न हि कोई अनियम है। परन्तु वह दोनों ओर के अर्थों को एक साथ जानती है। जानने में विरोध नहीं हैं, अपितु ऋद्धि (अतिशय) है, एक साथ कथन में विरोध है।

वह क्रमश: भी जाने या अक्रमश: जाने, ऊपर के अर्थों को जाने या नीचे के अर्थों को जाने– कोई न नियम है, न अनियम है।

पदानुसारिणी बुद्धि के सम्बन्ध में विचारणीय बिन्दु इसप्रकार हैं कि

1. यह बीजपद के आधार से होती है।

2. बीजपद में स्थित अर्थों को ही जानती है।

3. इसके तीन प्रकार हैं।

आचार्य नरेन्द्रसेन के अनुसार पदानुसारिणी बुद्धि ऋद्धि दो प्रकार की है – 1. सामान्य पदानुसारिणी 2. विशेष पदानुसारिणी। इसका आशय इतना ही जान पड़ता है कि इस ऋद्धि से एक पद के द्वारा सम्पूर्ण ग्रंथ का अर्थ जान लिया जाता है, वह सामान्यपने भी और विशेषपने भी जानने में आता है –

एकस्यापि पदस्यादावन्ते ग्रन्थस्य बोधतः।
यस्यां ग्रन्थावबोधोऽसौ बुद्धिः पादानुसारिणी।।40।।

यत्सामान्यविशेषात्माभेदो भवति चानयोः।
अत एवेदमत्युद्रघं बुद्धिद्वयमुदाहृतम्।।41।।[1]

अर्थ – ग्रंथ के आदि अथवा अन्त के एक भी पद के ज्ञान से सम्पूर्ण ग्रंथ का ज्ञान जिस ऋद्धि के द्वारा बुद्धि में प्रकट होता है, उसे पदानुसारी ऋद्धि कहते हैं। जो यह ऋद्धि है, वह सामान्य एवं विशेषात्मक है। इसलिए इसके दो कहे हैं। (अर्थात् पदों का सामान्य तथा विशेष अर्थ जाननेवाली है।)

---

1. सिद्धान्तसार, अध्याय–2, पृष्ठ–24

प्रश्न – पदबुद्धि कैसे प्रकट होती है?

उत्तर – ईहावरणीय और अवायावरणीय कर्मों के तीव्र क्षयोपशम से प्रकट होती है। जैसा कि धवलाकार इसीप्रकार उक्त प्रकार का प्रश्न उत्पन्न करके समाधान करते हैं –

कुदो एदं होदि?

ईहावायावरणीयं तिव्वक्खओवसमेण।[1]

अर्थ – यह (पदबुद्धि) किससे (उत्पन्न) होती है।

ईहा, अवाय आवरणीय कर्मों के तीव्र क्षयोपशम से (उत्पन्न) होती है। इस बुद्धि ऋद्धि के अनेक नाम हैं – पदबुद्धि, पदानुसारिणी, पदानुसरणी, पदानुसारी आदि।

सामान्य कथन में यह बुद्धि ऋद्धि मतिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती है।

7. संभिन्न-संश्रोतृत्व-बुद्धि-ऋद्धि

णमो संभिण्णसोदाराणं।।[2]

अर्थ – संभिन्न श्रोता जिनों को नमस्कार हो।

युगपत् होनेवाले अक्षर-अनक्षर स्वरूप अनेक शब्दों को सुन सकने की शक्ति जिनके पायी जाती है, ऐसे श्रोता को संभिन्न श्रोता कहते हैं। ऐसे संभिन्न श्रोता को (पुष्पदन्त) भूतबलि आचार्य ने नमस्कार किया है। श्रोता को नमस्कार करने का यह पहला प्रसंग प्रतीत होता है। क्योंकि अब तक वक्ता को ही नमस्कार करने या देखने में आया है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-61
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-9, पृष्ठ-61

जिस श्रोता को आचार्य के द्वारा नमस्कार किया है, वह श्रोता कैसा होगा? आचार्य से श्रेष्ठ होगा – इतना तो तय है। आचार्य से बड़ा श्रोता गणधर ही हो सकता है, अत: संभिन्न श्रोता अर्थात् संभिन्न श्रोतृत्व शक्तिधारी गणधर ही हैं।

आचार्य सामान्यतया गणधरों को नमस्कार करते हैं ही, यहाँ आचार्यों ने गणधरों की संभिन्न–श्रोतृत्व शक्ति स्मरण करके नमस्कार किया है।

प्रश्न – संभिन्नश्रोतृत्व बुद्धि (ऋद्धि) किसे कहते हैं?

उत्तर – युगपत् होने वाले अक्षर–अनक्षर स्वरूप अनेक शब्दों को सुनने तथा सुनकर उनका ज्ञान होने की तथा उस ज्ञान की अभिव्यक्त करने की शक्ति को संभिन्न–श्रोतृत्व बुद्धि कहते हैं।

पुन: **प्रश्न –** युगपत् होनेवाले अक्षर–अनक्षर स्वरूप अनेक शब्दों को सुनने तथा सुनकर उनको जानने की शक्ति संभिन्न–श्रोतृत्व बुद्धि है, यह तो जाना, परन्तु यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है कि वे अक्षर–अनक्षर रूप शब्द कौन–से हैं? कितने हैं? कितने दूर के क्षेत्र तक के सुनने की शक्ति गणधर भगवंतों को होती है?

उसका **उत्तर –** तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि में युगपत् अक्षर–अनक्षर स्वरूप अनेक शब्द होते हैं। भगवान की दिव्यध्वनि एक साथ 18 (अठारह) महाभाषाओं में तथा 700 (सात सौ) लघुभाषाओं में खिरती (निकलती) है, यह तो गिनती की भाषाएँ हैं, और भी असंख्यात प्रकार की भाषाओं में खिरती है। वे अक्षर और अनक्षर रूप शब्द बीजाक्षर, पदाक्षर दिव्यध्वनि के होते हैं। असंख्यात होते हैं।

एक योजन तक क्षेत्र दिव्यध्वनि का क्षेत्र होता है, परन्तु गणधरों की सुनने की इससे भी अधिक दूर दसों दिशाओं में संख्यात योजन क्षेत्रों तक की होती है। भगवान की दिव्यध्वनि मात्र अठारह महाभाषाओं, सात सौ लघुभाषाओं में ही नहीं खिरती, अपितु इनसे संख्यात गुणी भाषाओं में

खिरती है, उसे ग्रहण करने की सामर्थ्य संभिन्न श्रोता की होती है, वही धवलाकार बताते हैं –

''एदिहिंतो संखेज्जगुणभासासंभरिदतित्थयरवयण-विणिग्गयज्झुणिसमूहक्कमेण गहणक्खमम्मि संभिण्णसोदारेण चेदमच्छरयं।''[1]

अर्थ – इनसे संख्यात गुणी भाषाओं से भरी हुई तीर्थंकर के मुख से निकली हुई ध्वनि के समूह को युगपत् ग्रहण करने में समर्थ ऐसे संभिन्न श्रोता के विषय में यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

धवलाकार **''एदिहिंतो''** इनसे, यहाँ उनका (इनसे) शब्द से आशय क्या है?

उसका समाधान – यहाँ धवलाकार प्रथम (एक) अक्षौहिणी सेना का स्वरूप बताते हैं कि एक अक्षौहिणी सेना में नौ हजार हाथी, नौ लाख रथ, नौ करोड़ घोड़े तथा नौ अरब मनुष्य होते हैं-

नवनागसहस्राणि नागे नागे शतं रथाः।
रथे रथे शतं तुर्गाः तुर्गे तुर्गे शतं नराः।।19।।[2]

अर्थ – (एक अक्षौहिणी में) नौ हजार हाथी (नाग), एक-एक हाथी के आश्रित सौ (अर्थात् नौ लाख) रथ, एक-एक रथ के आश्रित सौ (अर्थात् नौ करोड़) घोड़े और एक-एक घोड़े के आश्रित सौ (अर्थात् नौ अरब) मनुष्य (सैनिक) होते हैं।

ऐसी चार अक्षौहिणी[3] सेनाएँ अक्षर-अनक्षर स्वरूप अपनी-अपनी भाषाओं से यदि युगपत् बोले तो भी संभिन्न श्रोता युगपत् सब भाषाओं को ग्रहण करके उनका प्रतिपादन करता है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-62
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-61
3. छत्तीस हजार हाथी, छत्तीस लाख रथ, छत्तीस करोड़ घोड़े, छत्तीस अरब मनुष्य की सेना को एक अक्षौहिणी सेना कहते हैं।

इनसे संख्यात गुणी भाषाओं से भरी हुई भगवान की दिव्यध्वनि होती है। यही इनसे शब्द का आशय धवलाकार का है।

मनुष्यों के शब्द अक्षररूप होते हैं, तिर्यंचों की अनक्षररूप होते हैं। समवशरण में तिर्यंच भी होते है। तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि उनके लिए उनकी अनक्षरी भाषा में खिरती है। इसप्रकार एकप्रकार से अक्षर, अनक्षरी शब्द होते हैं। दूसरे प्रकार से बीजाक्षर अक्षर, अनक्षररूप होते हैं। दोनों प्रकार के कुल शब्द असंख्यात होते हैं। संख्यात योजनों तक के शब्दों को गणधर सुन सकते हैं।

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार संभिन्नश्रोतृत्व का स्वरूप इस प्रकार है –

सोदुक्कस्स–खिदीदो, बाहिं संखेज्ज–जोयण–पएसे।
संठिय–णर–तिरियाणं, बहुविह–सद्दे समुत्थंते।।994।।

अक्खर–अणक्खरमए, सोदूणं दस–दिसासु पत्तेक्कं।
जं दिज्जदि पडिवयणं, तं चिय संभिण्ण–सोदित्तं।।995।।[1]

अर्थ – श्रोत्र इन्द्रिय के क्षेत्र (बारह योजन) से बाहर दसों दिशाओं में संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्य एवं तिर्यंचों के अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक बहुत प्रकार के उठने वाले शब्दों को सुनकर जिसके आधार प्रत्युत्तर पूछे गए प्रश्नों के दिए जाए, वह संभिन्न–श्रोतृत्व नामक बुद्धि (ऋद्धि) कहलाती है।

आचार्य यतिवृषभ का आशय इतना–सा ही है कि दसों दिशाओं में संख्यात योजन क्षेत्र में स्थित मनुष्य और तिर्यंचों के अक्षरात्मक एवं अनक्षरात्म शब्दों को (एक साथ) सुनकर प्रत्युत्तर दे सकने की बुद्धि संभिन्न संश्रोतृत्व बुद्धि है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–994–995, पृष्ठ–299

मनुष्यों के शब्द अक्षरात्मक होते हैं तथा तिर्यंचों के अनक्षरात्मक होते हैं। आचार्य अकलंक उन शब्दों के क्षेत्र का परिसीमन करते हुए कहते हैं कि -

''द्वादशयोजनायामे नवयोजनविस्तारे चक्रधरस्कन्धावारे गजवाजिखरोष्ट्रमनुष्यादीनाम् अक्षरानक्षररूपाणां नानाविधशब्दानां युगपदुत्पन्नानां तपोविशेषबललाभापादितसर्वजीवप्रदेशश्रोत्रेन्द्रिय-परिणामात् सर्वेषामेककालग्रहणं संभिन्नश्रोतृत्वम्।''[1]

अर्थ – बारह योजन लम्बे और नौ योजन चौड़े चक्रवर्ती के कटक (सेना) में हाथी, घोड़े, गधे, ऊँट, मनुष्य आदि के एक साथ उत्पन्न अनक्षरात्मक-अक्षरात्मक अनेक प्रकार के शब्दों को सुनकर तपोविशेष के बल के लाभ से प्राप्त श्रोत्रेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से सर्वजीव प्रदेशों में उत्पन्न परिणाम से एक साथ सर्व शब्दों को पृथक्-पृथक् रूप से ग्रहण कर लेना, वह संभिन्न-श्रोतृत्व नाम की बुद्धि (ऋद्धि) का कार्य है या संभिन्न-श्रोतृत्व बुद्धि ऋद्धि है।

आचार्य अकलंक के वर्णन में एक तो इस बुद्धि ऋद्धि के क्षेत्र की सीमा मात्र 12 योजन लम्बी तथा 9 योजन चौड़ी बताई है। दूसरी बात यह तिर्यक् सीमा है। तीसरी बात इसे चक्रवर्ती की सेना से जोड़ा है, चौथी बात उन्होंने प्रत्युत्तर की बात नहीं लिखी, पाँचवीं बात चक्रवर्ती की सेना में गधे और ऊँट का समावेश किया है। ये पाँचों बातें पूर्वाचार्यों के इस ऋद्धि के वर्णन में नहीं थीं, परंतु यहाँ आशय पूर्ववत् ही जानना।

आचार्य अकलंक के अनुसार ही आचार्य नरेन्द्रसेन कहते हैं, परंतु ''निर्मल अन्तःकरणवाला भव्यात्मा उन शब्दों को संकर आदि दोषों से रहित ग्रहण करता है।'' इतना भिन्न - विशेष कहते हैं -

द्वादश योजनायाम चक्रवर्तिचमूध्वनिम्।
मनुष्यकरभादीनां संकरादिकवर्जितम्।।42।।

---

1. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-559

यस्यां शृणोति भव्यात्मा निर्मलीकृतमानसः।
संभिन्नश्रोतृबुद्धिः सा गीता गानविचक्षणैः।।43।।[1]

अर्थ – चक्रवर्ती के बारह योजन में स्थित सैन्य जिसमें मनुष्य, हाथी, आदि की ध्वनि को संकर आदि दोषों से रहित जो निर्मल मन वाला भव्यात्मा सुनता है, उसकी बुद्धि को विचक्षणों ने संभिन्नश्रोतृ नामवाली बुद्धि ऋद्धि कही है।

प्रश्न – यह संभिन्न-संश्रोतृत्व बुद्धि कैसे उत्पन्न होती है?

उत्तर – इस सम्बन्ध में अलग-अलग आचार्यों के अलग-अलग मत हैं। जैसे आचार्य अकलंक "**तपोविशेषबललाभापादित**" कहकर इस बुद्धि की उत्पत्ति तपोविशेष के बल से कहते हैं, उनका आशय बहिरंग कारण से है। उन्होंने इस ऋद्धि की उत्पत्ति बहिरंग कारण बताया है। दूसरी ओर आचार्य यतिवृषभ इसे श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तराय – इन तीन कर्मप्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय से उत्पन्न कहते हैं। उन्होंने इस ऋद्धि की उत्पत्ति का अन्तरंग कारण बताया। उनके मूल शब्द निम्नानुसार हैं –

सोदिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए।
उक्कस्स खवोवसमे, उदिदंगोवंग-णाम-कम्मम्मि।।[2]

तथा आचार्य वीरसेन स्वामी इस बुद्धि की उत्पत्ति-बहु, बहुविध, क्षिप्र इन मति ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से कहते हैं। प्रश्नोत्तर शैली में उनके शब्द इसप्रकार हैं –

"कुदो एदं होदि?
बहुबहुविहक्खिप्पावरणीयाणं खओवसमेण।"[3]

---

1. सिद्धान्तसार, अध्याय-21, पृष्ठ 24
2. तिलोयपण्णत्ती खण्ड-2, गाथा-993, पृष्ठ-299
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-62

अर्थ – प्रश्न – यह (संभिन्न संश्रोतृत्व बुद्धि) कैसे (उत्पन्न) होती है?

उत्तर – (यह संभिन्न संश्रोतृत्व बुद्धि) बहु, बहुविध, क्षिप्र आवरणीय (कर्मों) के क्षयोपशम से (उत्पन्न) होती है।

सारांश रूप में इस बुद्धि की उत्पत्ति श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण, वीर्यान्तराय, बहु, बहुविध, क्षिप्र – इन कर्मों के क्षयोपशम रूप तथा अंगोपांग नामकर्म के उदयरूप, तपविशेष रूप बहिरंग कारणों से तथा परिणामविशुद्धिरूप अभिन्न अंतरंग कारण से प्राप्ति होती है। इस संभिन्नसंश्रोतृत्वबुद्धि के कारण से तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का अनेक भाषाओं में ग्रहण होता है।

इस ऋद्धि का तात्पर्य यह है कि –

संभिन्न–श्रोतृत्व शब्द का अर्थ भिन्न–भिन्न शब्दों को सुनना या सुन सकने की शक्ति का है। परन्तु भिन्न–भिन्न शब्दों सुनने को ही संभिन्न–श्रोतृत्व नहीं कहते हैं। बल्कि एक साथ एक समय में भिन्न–भिन्न शब्द, वे शब्द भी मनुष्य–तिर्यंचों के अक्षर–अनक्षर रूप हो तथा सिर्फ भिन्न–भिन्न शब्द को सुनना ही नहीं, बल्कि उनके अर्थों का जानना भी हो, न केवल भिन्न–भिन्न अक्षर–अनक्षर रूप शब्दों के अर्थों को जानना हो, बल्कि कोई प्रश्न करे तो उस प्रश्न के उत्तर के रूप में सुने हुए, जाने हुए अक्षर–अनक्षर शब्दों के अर्थों के विश्लेषण करने की सामर्थ्य हो। तथा वे शब्द दो–चार मनुष्य या तिर्यंचों के नहीं, बल्कि 12 योजन लम्बे 9 योजन चौड़े क्षेत्र में स्थित सभी मनुष्य या तिर्यंचों के हो। जब इतनी सामर्थ्य हो तो उस सामर्थ्य को संभिन्न–श्रोतृत्व बुद्धि–ऋद्धि कहते हैं।

आचार्यों ने इस ऋद्धि को इस प्रकार से समझाया है कि एक तो तीर्थंकर दिव्यध्वनि के द्वारा और दूसरा चक्रवर्ती की सेना के द्वारा और तीसरा प्रकार चार अक्षौहिणी सेना के द्वारा।

चार अक्षौहिणी सेना का प्रसंग भी तीर्थंकर की दिव्यध्वनि की भाषाओं की संख्या को बताने के लिए आया है। और वहाँ वीरसेन स्वामी ने यह बताया कि चार अक्षौहिणी सेना के मनुष्य, तिर्यंचों की भाषाओं की संख्या से भी संख्यात गुणी अधिक भाषाओं में भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है। उन सभी भाषाओं के शब्दों को एक साथ सुन सकने की, न केवल सुन सकने की बल्कि उन के अर्थों को जानने और उनके अर्थों का विश्लेषण कर सकने की बुद्धि की शक्ति ही संभिन्न-श्रोतृत्व ऋद्धि है।

यतिवृषभ और अकलंकादि आचार्य इस ऋद्धि को 12 योजन लम्बे और 9 योजन क्षेत्र में स्थित मनुष्य और तिर्यंचों के शब्दों के द्वारा इस ऋद्धि के स्वरूप को समझाते हैं।

कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदबुद्धि, संभिन्न-संश्रोतृत्वबुद्धि के संबंध में विशेष कथन -

कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि पदानुसारीबुद्धि और संभिन्न-संश्रोतृत्वबुद्धि - ये चार बुद्धियाँ (ऋद्धियाँ) गणधरों के विशेषरूप से होती ही हैं, इनके बिना द्वादशांग की रचना संभव ही नहीं है, इसे वीरसेन स्वामी ने भली प्रकार से स्पष्ट किया है। आइए, उन्हीं के शब्दों में इसे जानते हैं -

''गणहरदेवेसु चत्तारि बुद्धीओ, अण्णहा दुवालसंगाण-मणुप्पत्तिप्पसंगादो।''[1]

अर्थ - गणधर देवों के चार निर्मल बुद्धियाँ देखी जाती हैं। उन (बुद्धियों) के बिना बारह अंगों की उत्पत्ति न हो सकने का प्रसंग आता है।

तं कधं?

ण तत्थ कोट्ठबुद्धीए अभावो, उप्पण्णसुदणाणस्स अवट्ठाणेण विणा विणासप्पसंगादो। ण बीजबुद्धीए अभावो, ताए विणा

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-7, पृष्ठ-58

अणवगयतित्थयरवयणविणिग्गयअक्खराणरवप्पयबहुलिंगालिंगिय-बीजपदाणं गणहरदेवाणं दुवालसंगाभावप्पसंगादो। बीजपद-सरूवावगमो बीजबुद्धी, तत्तो दुवालसंगुप्पत्ती। ण च ताए विणा तमुप्पज्जदि, अइप्पसंगादो। ण च तत्थ पदाणुसारिसण्णिदणाणाभावो, बीजबुद्धीए अवगयणरूवेहिंतो कोट्ठबुद्धीए पत्तावट्ठाणेहिंतो बीजपदेहिंतो ईहावाएहि विणा बीजपदुभयदिसाविसयसुदणाणक्खर-पद-वक्क-तदट्ठ-विसयसुदणाणुप्पत्तीए अणुवत्तीदो। ण संभिण्णसोदारत्तस्स अभावो, तेण विणाअक्खराणक्खरप्पाए सत्तसदट्ठारसकुभास-भाससरूवाए णाणाभेदभिण्णबीजपदसरूवाए पडिवक्खणमण्ण-भावमुवगच्छंतीए दिव्वज्झुणीए गहणाभावादो दुवालसंगुप्पत्तीए अभावप्पसंगादो त्ति। तम्हा बीजपद सरूवावगमो बीजबुद्धि त्ति सिद्धं।[1]

अर्थ – शंका (उन चार बुद्धियों के बिना) बारह अंगों की उत्पत्ति न हो सकने का प्रसंग कैसे आता है?

समाधान – गणधर देवों में कोष्ठबुद्धि का अभाव तो हो नहीं सकता; क्योंकि ऐसा होने पर अवस्थान (आधार, आश्रय) के बिना उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान के विनाश का प्रसंग आता है।

बीजबुद्धि का भी अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने पर उसके बिना गणधर देवों को तीर्थंकर के मुख से निकले हुए अक्षर और अनक्षररूप बहुत लिंगालिंगिक बीजपदों का ज्ञान न होने से द्वादशांग के अभाव का प्रसंग आता है।

बीजपदों के स्वरूप को जानना बीजबुद्धि है। उससे द्वादशांग की उत्पत्ति होती है और उस बीजबुद्धि के बिना द्वादशांग की उत्पत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि ऐसा होने पर अतिप्रसंग आता है।

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-7, पृष्ठ-58-59

उनमें पदानुसारी नामक ज्ञान का अभाव नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर बीजबुद्धि से जाना है, स्वरूप जिसका तथा कोष्ठबुद्धि से प्राप्त किया है, अवस्थान जिन्होंने ऐसे बीजपदों से ईहा और अवाय के बिना बीजपद की उभय दिशाविषयक श्रुतज्ञान तथा अक्षर, पद, वाक्य और उनके अर्थ विषयक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति बन नहीं सकती।

उनमें संभिन्न-श्रोतृत्व का अभाव नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर उसके बिना अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक सात सौ कुभाषा (लघुभाषा) और अठारह भाषास्वरूप, नाना भेदों से भिन्न बीजपदरूप व प्रत्येक क्षण में भिन्न-भिन्न भाव को प्राप्त होनेवाली ऐसी दिव्यध्वनि का ग्रहण न होने से द्वादशांग की उत्पत्ति के अभाव का प्रसंग आता है।

सारांश यह है कि कोष्ठबुद्धि से दिव्यध्वनि या श्रुतज्ञान का अवस्थान होता है। बीजबुद्धि से दिव्यध्वनि के बीजपदों का ज्ञान होता है। पदानुसारी बुद्धि से अक्षर, पद, वाक्य और उनके अर्थ विषयक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। संभिन्न-श्रोतृत्वबुद्धि से सात्त सौ लघुभाषाओं तथा अठारह महाभाषाओं में खिरनेवाली, प्रत्येक क्षण में नये-नये भावों को प्राप्त होनगेवाली दिव्यध्वनि का एक साथ ग्रहण होता है।

इसलिए शास्त्र-रचना के लिए गणधरों के उक्त चार निर्मल बुद्धियाँ होती ही हैं - ऐसा जानना।

परमर्षि स्वस्तिमंगलपाठकार के अनुसार कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी बुद्धि और संभिन्नसंश्रोतृत्व बुद्धि ये चार बुद्धियाँ गणधरों का बुद्धिबल है -

कोष्ठस्थधान्योपममेकबीजं संभिन्न-संश्रोतृपदानुसारी।
चतुर्विधं बुद्धिबलं दधानाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।[1]

1. परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ, श्लोक-2

अब इन्द्रियों से संबंधित ऋद्धियों की चर्चा करते हैं –

मतिज्ञान से संबंधित अनेक ऋद्धियाँ हैं, उनमें पाँच इन्द्रियों से संबंधित पाँच बुद्धि ऋद्धियाँ हैं – 1. दूरस्पर्शन, 2. दूरश्रवण, 3. दूर आस्वादन, 4. दूर घ्राण और 5. दूर विलोकन। जैसा कि परमर्षि स्वस्ति मंगल–पाठ के तीसरे श्लोक में लिखा है –

संस्पर्शनं संश्रवणं च दूरादास्वादन–घ्राण–विलोकनानि।
दिव्यान्मतिज्ञानबलाद्वहन्तः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।

अर्थ – सभी के साथ दूर शब्द का योग कर लेना चाहिए। तब इस प्रकार अर्थ होगा कि दूरस्पर्शन, दूरश्रवण, दूर आस्वादन, दूरघ्राण और दूर विलोकन– इन पाँच बुद्धि ऋद्धियों को दिव्य मतिज्ञान के बल के रूप धारण करने वाले परम ऋषि हमारा मंगल करें।

इनमें दूरस्पर्शन बुद्धि ऋद्धि स्पर्शनेंद्रिय से संबंधित है, दूर श्रवण बुद्धि ऋद्धि कर्ण इन्द्रिय से संबंधित है, दूर आस्वादन बुद्धि ऋद्धि रसना इन्द्रिय से संबंधित है, दूरघ्राण बुद्धि ऋद्धि नासिका इन्द्रिय से संबंधित है और दूर विलोकन बुद्धि ऋद्धि चक्षु इन्द्रिय से संबंधित है।

सामान्यतया प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा जानने की एक सीमा है। यह सीमा एकेन्द्रियादि जीवों की भिन्न–भिन्न है। जैसे एकेन्द्रिय जीव के स्पर्श इन्द्रिय की उत्कृष्ट सीमा 400 धनुष है। एकेन्द्रिय जीव 400 धनुष से बाहर के क्षेत्र के पदार्थ स्पर्श का ज्ञान लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं जान सकता। दो इन्द्रिय जीव के स्पर्श के ज्ञान की उत्कृष्ट सीमा 800 धनुष है। त्रीन्द्रिय जीव के स्पर्श के ज्ञान की सीमा 1600 धनुष है। चार इन्द्रिय जीव के स्पर्श के ज्ञान की सीमा 3200 धनुष है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के स्पर्श के ज्ञान की सीमा 6400 धनुष है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के स्पर्श की सीमा 9 योजन है। इसीप्रकार जीवों की इन्द्रियों के द्वारा जानने की सीमाएँ भिन्न–भिन्न हैं, उसे चार्ट के द्वारा निम्नप्रकार से समझ सकते हैं –

जीव	एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	संज्ञी पंचेन्द्रिय
स्पर्शनेंद्रिय से जानने की उत्कृष्ट सीमा	400 धनुष	800 धनुष	1600 धनुष	3200 धनुष	6400 धनुष	9 योजन
रसनेंद्रिय से जानने की उत्कृष्ट सीमा		64 धनुष	128 धनुष	256 धनुष	512 धनुष	9 योजन
घ्राणेंद्रिय से जानने की उत्कृष्ट सीमा			100 धनुष	200 धनुष	400 धनुष	9 योजन
चक्षुइंद्रिय से जानने की उत्कृष्ट सीमा				2954 योजन	5908 योजन	47263 योजन
कर्णेंद्रिय से जानने की उत्कृष्ट सीमा					800 धनुष	12 योजन

उक्त चार्ट से समझ में आ रहा है कि स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय की उत्कृष्ट सीमा 9 योजन है, चक्षु इन्द्रिय की 47263 योजन है, कर्णेन्द्रिय की 12 योजन है। पाँचों इन्द्रियों का उत्कृष्ट विषय जो ऊपर कहा है, वह चक्रवर्ती के होता है, अन्य सामान्य जीवों के नहीं। ऊपर जो उत्कृष्ट विषय बताया है, वह इन्द्रियों के द्वारा जानने की उत्कृष्ट सीमा है। वह ऋद्धियों के द्वारा जानने की सीमा नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा जानने की उत्कृष्ट सीमा से संख्यात गुणे अधिक क्षेत्र के विषय को जानने की शक्ति ऋद्धियों में होती है। जैसे कर्ण इन्द्रिय से शब्द सुन सकने की सीमा 12 योजन है। इतने दूर के शब्द को चक्रवर्ती सुन सकता है, परन्तु ऋद्धिधारी मुनि दूरश्रवण ऋद्धि के द्वारा 12 योजन से अधिक संख्यात योजन दूर के शब्द को सुन सकते हैं।

ध्यान रहे कोष्ठ, बीज, पद और संभिन्नसंश्रोतृत्व – ये चारों बुद्धियाँ मतिज्ञान से संबंधित हैं। आचार्य जयसेन के अनुसार कोष्ठ, बीज, पद और संभिन्नसंश्रोतृत्व के भेद से मतिज्ञान चार प्रकार का है –

मतिज्ञानं चतुर्विधं....

कोष्ठबीजपदानुसारिसंभिन्नश्रोतृताबुद्धिभेदेन वा।[1]

इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान के क्षेत्र की सीमा के संबंध में अनेक शास्त्रों में वर्णन प्राप्त होते हैं, उनमें छन्दबद्ध वर्णन चरचा-शतक में उपलब्ध वह छन्द इसप्रकार है –

इन्द्रियों के विषयों के क्षेत्र की उत्कृष्ट सीमा

(छप्पय छन्द)

फरस चारिसै धनुष, असैनी लौं दुगुना गनि।
रसना चौसठि धनुष, घ्राण सौ तेइन्द्री भनि।।
चख जोजन उनतीस, सतक चौवन परवानो।
कान आठसै धनुष, सुनै सेनी सो जानो।।
नव योजन घ्रान रसन फरस, कान दुवादस जोजना।
चख सैंतालीस सहस दुसै, तेसठि देखैं जिन भना।।55।।[2]

अर्थ – (एकेन्द्रिय जीव की स्पर्श जानने की क्षेत्रसीमा) चार सौ धनुष है, (उससे आगे दो इन्द्रिय जीव से लेकर) असंज्ञी (पंचेन्द्रिय जीव) तक दुगुनी-दुगुनी जानना।

(दो इन्द्रिय जीव रस जानने की क्षेत्रसीमा) चौंसठ धनुष है। (उससे आगे चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय की दुगुनी-दुगुनी जानना।)

(तीन इन्द्रिय जीव की गंध जानने की क्षेत्रसीमा) सौ धनुष कही है (उससे आगे चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय की दुगुनी-दुगुनी जानना।)

चार इन्द्रिय जीव की देखने की क्षेत्रसीमा 2954 (दो हजार नौ सौ चौवन) योजन है तथा अंसज्ञी पंचेन्द्रिय जीव की देखने की क्षेत्रसीमा 5908 (पाँच हजार नौ सौ आठ) योजन है।

पाँच इन्द्रियवाले असंज्ञी जीव की शब्द सुन सकने की क्षेत्र सीमा 800 (आठ सौ) धनुष है।

1. पंचास्तिकाय, अतिरिक्त गाथा 44 की टीका, पृष्ठ 186
2. पंडित द्यानतरायजी, चरचा शतक, छन्द-25

अब संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के स्पर्श आदि इन्द्रियों के द्वारा जानने की क्षेत्रसीमा 9 (नौ) योजन है तथा रस जानने की व गंध सूँघने की क्षेत्रसीमाएँ 9-9 (नौ-नौ) योजन ही हैं। तथा शब्द सुनने की क्षेत्रसीमा 12 (बारह) योजन है। और चक्षुइन्द्रिय से देखने की क्षेत्रसीमा 47263 (सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ) योजन है।

विशेष – उक्त छन्द में इन्द्रियों के द्वारा जानने की उत्कृष्ट क्षेत्र सीमाएँ बताई हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय के द्वारा उत्कृष्ट क्षेत्रसीमाएँ चक्रवर्ती की पायी जाती हैं।

यहाँ यह जानना कि इन्द्रियाँ वे ही रहती हैं, परन्तु ऋद्धियों के कारण से उन इन्द्रियों के द्वारा विषय-ग्रहण की सीमा संख्यात गुणा अधिक हो जाती है।

अब प्रत्येक इन्द्रिय संबंधी बुद्धि ऋद्धि का वर्णन समझने का प्रयास करते हैं।

8. दूर-स्पर्शन-बुद्धि-ऋद्धि

यह बुद्धि ऋद्धि स्पर्शनेन्द्रिय से संबंधित है। बिना ऋद्धि के स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा पदार्थ के स्पर्श को जान सकने की क्षेत्र-सीमा 9 (नौ) योजन है। दूर स्पर्शन बुद्धि ऋद्धि से पदार्थ के स्पर्श को जान सकने की क्षेत्र सीमा उक्त सीमा अर्थात् नौ योजन से संख्यात गुणा अधिक है। यही आचार्य यतिवृषभ कह रहे हैं –

फासुक्कस्स-खिदीदो, बाहिं संखेज्ज-जोयण-ठियाणं।
अट्ठविहज्फासाणिं, जं जाणइ दूर-फासत्तं।।''[1]

अर्थ – जो स्पर्शन इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र से बाहर संख्यात

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-999, पृष्ठ-300

योजनों में स्थित आठ प्रकार के स्पर्शों को जानती है, वह दूर स्पर्शत्व बुद्धि ऋद्धि है।

प्रश्न – दूरस्पर्शन बुद्धि ऋद्धि कैसे उत्पन्न होती है?

उत्तर – यह बुद्धि ऋद्धि आचार्य यतिवृषभ के अनुसार स्पर्शनेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय – इन तीन कर्म-प्रकृतियों का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर तथा अंगोपांग नामकर्म का विशिष्ट उदय होने पर उत्पन्न होती है, वही कहा है –

फासिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए।

उक्कस्स-खवोवसमे, उदिदंगोवंग-णाम-कम्मम्मि।।[1]

आचार्य अकलंक इस ऋद्धि की उत्पत्ति में तपोबलविशेष और जोड़ते हुए कहते हैं कि –

तप:शक्तिविशेषाविर्भावितासाधारण-(स्पर्श)नेन्द्रिय-श्रुतावरणवीर्यान्तराय, क्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षस्य।[2]

अर्थ – तपश्चरण की शक्ति-विशेष से उत्पन्न असाधारण स्पर्श इन्द्रिय आवरण, श्रुतावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के लाभ की अपेक्षा से (दूर स्पर्शन बुद्धि ऋद्धि उत्पन्न होती है।)

9. दूरास्वादित्व-बुद्धि-ऋद्धि

यह बुद्धि-ऋद्धि रसना (जीभ) इन्द्रिय से संबंधित है। बिना ऋद्धि के रसना इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ के रस को जान सकने की उत्कृष्ट सीमा 9 (नौ) योजन है। दूरास्वादित्व बुद्धि ऋद्धि से पदार्थ के रस को जान सकने की क्षेत्र की अपेक्षा नौ योजन से संख्यात गुणा अधिक है –

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-998, पृष्ठ-300
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-559-560

अर्थात् नौ योजन से संख्यात गुणे अधिक क्षेत्र में स्थित पदार्थ के अनेक रसों को जान सकने की शक्ति को दूरास्वादित्व बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

यही आचार्य यतिवृषभ कहते हैं -

जिब्भुक्कस्स-खिदीदो, बाहिं संखेज्ज-जोयण-ठियाणं।
विविह-रसाणं सादं, जं जाणइ दूर-सादित्तं।।[1]

अर्थ - जिह्वा इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र (9 योजन) से बाहर संख्यात योजन क्षेत्र में स्थित (पदार्थों के) विविध रसों के स्वाद को जो जानती है, उसे दूरास्वादित्व (बुद्धि) ऋद्धि कहते हैं।

प्रश्न - दूरास्वादित्व बुद्धि ऋद्धि कैसे उत्पन्न होती है?

उत्तर - यह बुद्धि ऋद्धि आचार्य यतिवृषभ के अनुसार जिह्वेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय - इन तीन कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर उत्पन्न होती है-

जिब्भिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए।
उक्कस्स खवोवसमे उदिदंगोवंग-णाम-कम्मम्मि।।[2]

आचार्य अकलंक इस बुद्धि-ऋद्धि की उत्पत्ति में तपोबल विशेष को ओर जोड़ते हुए कहते हैं कि -

''तप:शक्तिविशेषाविर्भावितासाधारण(रस)नेन्द्रियश्रुतावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षस्य।।''[3]

अर्थ - तपश्चरण की शक्ति-विशेष से उत्पन्न असाधारण रसना

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-997, पृष्ठ-299
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-996, पृष्ठ-299
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-559-560

इन्द्रियावरण श्रुतावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के लाभ की अपेक्षा से (दूरास्वादित्व बुद्धि-ऋद्धि) उत्पन्न होती है।

10. दूर-घ्राणत्व-बुद्धि-ऋद्धि

यह बुद्धि-ऋद्धि नासिका इंद्रिय से संबंधित है। दूरघ्राणत्व ऋद्धि के नासिका इंद्रिय के द्वारा पदार्थ के गंध को सूंघ सकने की उत्कृष्ट सीमा 9 (नौ) योजन की है। दूर घ्राणत्व बुद्धि-ऋद्धि के द्वारा पदार्थ के गंध को सूंघ सकने की सीमा क्षेत्र की अपेक्षा नौ योजन से संख्यात गुणा अधिक है अर्थात्

नौ योजन से संख्यात गुणा अधिक क्षेत्र के दूर के गंध को सूँघ सकने की शक्ति को दूरघ्राणत्व बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

यही आचार्य यतिवृषभ कहते हैं -

घाणुक्कस्स-खिदीदो, बाहिं संखेज्ज-जोयण-गदाणिं।
जं बहुविह-गंधाणिं, तं घायदि दूर-घाणत्तं।।1001।।[1]

अर्थ - जो घ्राणेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र नौ योजन से बाहर संख्यात योजन में स्थित बहुत प्रकार के गंधों को सूँघती है, वह दूर घ्राणत्व ऋद्धि है।

प्रश्न - दूर घ्राणत्व बुद्धि-ऋद्धि कैसे उत्पन्न होती है?

उत्तर - यह बुद्धि-ऋद्धि घ्राणेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर उत्पन्न होती है -

घाणिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए।
उक्कस्सखवोवसमे, उदिदंगोवंगणाम-कम्मम्मि।।[2]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा 1000, पृष्ठ-300
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा 1001, पृष्ठ-300

आचार्य अकलंक इस बुद्धि-ऋद्धि की उत्पत्ति में तप के बल-विशेष को जोड़ते हैं -

''तप:शक्तिविशेषार्विभावितासाधारण(घ्राण)इंद्रियश्रुतावरण-वीर्यांतरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षस्य।।''[1]

अर्थ - तपश्चरण की शक्ति-विशेष से उत्पन्न घ्राण इन्द्रियावरण, श्रुतावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के असाधारण क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के लाभ से (दूर घ्राणत्व बुद्धि-ऋद्धि) उत्पन्न होती है।

11. दूर-श्रवणत्व-बुद्धि-ऋद्धि

यह बुद्धि-ऋद्धि कर्ण इंद्रिय से संबंधित है। बिना दूर श्रवणत्व ऋद्धि के कर्ण इंद्रिय के द्वारा ध्वनि को सुन सकने की उत्कृष्ट सीमा 12 (बारह) योजन की है। दूर श्रवणत्व बुद्धि-ऋद्धि के द्वारा ध्वनि को सुन सकने की सीमा क्षेत्र की अपेक्षा बाहर योजन से संख्यात गुणा अधिक है अर्थात्

बारह योजन से संख्यात गुणा अधिक क्षेत्र के दूर की ध्वनि को सुन सकने की शक्ति को दूरश्रवणत्व बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

यही आचार्य यतिवृषभ कहते हैं -

सोदुक्कस्स खिदीदो, बाहिं संखेज्ज-जोयण-पएसे।
चिट्ठंताणं माणुस-तिरियाणं बहु-वियप्पाणं।।1003।।

अक्खर-अणक्खरमए, बहुविह-सद्दे विसेस-संजुत्ते।
उप्पण्णे आयण्णइ, जं भणिअं दूर-सवणत्तं।।1004।।[2]

अर्थ - जो श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र से बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित रहने वाले बहुत प्रकार के मनुष्यों एवं तिर्यंचों के

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-559-560
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, पृष्ठ 301

विशेषताओं से संयुक्त अनेक प्रकार के अक्षर-अनक्षरात्मक शब्दों से उत्पन्न होने पर उनका श्रवण करती है, उसे दूरश्रवणत्व ऋद्धि कहा गया है।

प्रश्न – दूरश्रवणत्व बुद्धि-ऋद्धि कैसे उत्पन्न होती है?

उत्तर – यह बुद्धि-ऋद्धि श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर उत्पन्न होती है –

सोदिंदिय-सुदणाणावरणाणं वीरियंतरायाए।
उक्कस्स-खवोवसमे, उदिदंगोवंग-णाम-कम्मम्मि।।1002।।[1]

आचार्य अकलंक बुद्धि-ऋद्धि की उत्पत्ति में तप के बल विशेष को जोड़ते हुए कहते हैं कि-

''तप:शाक्तिविशेषाविर्भावितासाधारण(कर्ण)इन्द्रिय-श्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षस्य...।।''[2]

अर्थ – तपश्चरण की शक्ति-विशेष से उत्पन्न कर्ण इन्द्रियावरण, श्रुतावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के असाधारण क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के लाभ की अपेक्षा से (दूर-श्रवणत्व बुद्धि-ऋद्धि) उत्पन्न होती है –

12. दूरदर्शित्व-बुद्धि-ऋद्धि

यह बुद्धि-ऋद्धि चक्षुइन्द्रिय से संबंधित है। बिना दूरदर्शित्व बुद्धि ऋद्धि के चक्षु इन्द्रिय के द्वारा देख सकने की सीमा 47,263 (सैंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ) योजन है। दूरदर्शित्व बुद्धि-ऋद्धि के द्वारा पदार्थ को देख सकने की सीमा उससे संख्यात गुणी अधिक है अर्थात्

47,263 योजन से संख्यात गुणा अधिक क्षेत्र के दूर के पदार्थों को

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, पृष्ठ 301
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-559-560

देख सकने की शक्ति को दूरदर्शित्व बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

यही आचार्य यतिवृषभ कहते हैं -

रूउक्कस्स-खिदीदो, बाहिं संखेज्ज-जोयण-ठिदाइं।
जं बहुविह-दव्वाइं, देक्खइ तं दूरदरिसिवणं णाम।।1006।।[1]

अर्थ - जो चक्षु इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र (47263 योजन) से बाहर संख्यात योजनों में स्थित बहुत प्रकार के द्रव्यों को देखती है, वह दूरदर्शित्व बुद्धि-ऋद्धि है।

प्रश्न - दूरदर्शित्व बुद्धि-ऋद्धि कैसे उत्पन्न होती है?

उत्तर - यह बुद्धि-ऋद्धि चक्षु इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म प्रकृतिओं का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म का उदय होने पर उत्पन्न होती है -

रूविंदिय-सुदणाणावरणाणं-वीरियंतरायाए।
उक्कस्स-खवोवसमे, उदिदंगोवंग-णाम-कम्मम्मि।।1005।।[2]

आचार्य अकलंक इस बुद्धि-ऋद्धि की उत्पत्ति में तप के बलविशेष को जोड़ते हैं -

''तप:शाक्तिविशेषाविर्भावितासाधारण(चक्षु)इंद्रियश्रुतावरण-वीर्यांतरायक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षस्य।।''[3]

अर्थ - तपश्चरण की शक्तिविशेष से उत्पन्न चक्षु इन्द्रियावरण, श्रुतावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के असाधारण क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के उदय से (दूर-दर्शित्व बुद्धि-ऋद्धि) उत्पन्न होती है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1006, पृष्ठ-301
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1005, पृष्ठ-301
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-559-560

13. प्रज्ञा-श्रमणत्व-बुद्धि-ऋद्धि

णमो पण्णसमणाणं।।[1]

प्रज्ञा-श्रमणों को नमस्कार हो।

प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि से चौदह पूर्व सम्बन्धी किसी भी प्रकार की शंका के समाधान की शक्ति होती है। इस ऋद्धि के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ अनेक हैं, जैसे -

''प्रज्ञाया: श्रमणत्वं प्रज्ञाश्रमणत्वम्।''

प्रज्ञा का श्रमणत्व प्रज्ञाश्रमणत्व है।

''प्रज्ञाया: श्रमणत्वं येषां ते प्रज्ञाश्रमणा:।''

प्रज्ञा से श्रमणत्व है, जिनके वे प्रज्ञाश्रमण हैं।

''प्रज्ञायां श्रमणत्वं प्रज्ञाश्रमणत्वम्।''

प्रज्ञा में है श्रमणत्व, वह प्रज्ञाश्रमणत्व है। अथवा प्रज्ञाश्रमण को निम्नलिखित अर्थानुसार प्रज्ञाश्रवण भी कहते हैं -

''प्रज्ञा एव श्रवणं येषां ते प्रज्ञाश्रवणा:।''[2]

प्रज्ञा ही है श्रवण जिनका, वे प्रज्ञाश्रवण हैं।

यहाँ प्रज्ञाश्रमणों में द्वादशांग के पाठी सौधर्म इन्द्र आदि का ग्रहण नहीं है, क्योंकि वे असंयत होते हैं। यहाँ जिन (संयत) की अनुवृत्ति होने से असंयतों का ग्रहण नहीं है। यद्यपि वे द्वादशांग के माने जाते हैं[3], परन्तु संयमत्व के अभाव से उनका ग्रहण नहीं करना।

यहाँ प्रज्ञाश्रमण और प्रज्ञाश्रवण दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है।

पदार्थों के अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व, जिनको केवली या श्रुतकेवली ही

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, सूत्र-18, पृष्ठ-81
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पृष्ठ-83
3. यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधादुद्भूतबुद्धिपटुभिः। - भक्तामर स्तोत्र, छंद-2

बता सकते हैं, ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों को द्वादशांग, चौदह पूर्वों को पढ़े बिना बता सकने की शक्ति अथवा जिस ज्ञान शक्ति के द्वारा बिना अध्ययन किए ही चौदह पूर्वों में विषय की सूक्ष्मता पूर्वक सम्पूर्ण श्रुत को जानता है और उसका नियमपूर्वक निरूपण करता है, मुनि की उस ज्ञान शक्ति को प्रज्ञाश्रमणत्व बुऋि-ऋद्धि कहते हैं। यह आचार्य यतिवृषभ का मत है। उनके मूल शब्द इसप्रकार हैं -

पण्णा-सवणद्धि-जुदो, चोद्दस-पुव्वीसु विसय-सुहुमत्तं।
सव्वं हि सुदं जाणदि, अकअज्झअणो वि णियमेणं।।1027।।
भासंति तस्स बुध्दी, पण्णा-समणद्धि............ ।।1028।।[1]

इन आर्ष वचनों के अनुसार प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि की विशेषाएँ ये हैं -

1. चौदह पूर्वों का अध्ययन के बिना ही चौदह पूर्वों के विषय की शक्ति की प्राप्ति,

2. न केवल ज्ञान की प्राप्ति, अपितु उस ज्ञान के निरूपण करने की शक्ति की प्राप्ति।

ऐसी जो ज्ञान-शक्ति होती है, उसे सामान्य ज्ञान न कहकर प्रज्ञा शब्द के द्वारा कहा गया है।

धवलाकार के अनुसार ज्ञान की शक्ति की प्राप्ति प्रज्ञा है और ज्ञान, उस शक्ति का कार्य है।

यह प्रज्ञा चार प्रकार की कही गयी है - (1) औत्पत्तिकी (2) वैनयिकी (3) कर्मजा और (4) पारिणामिकी।

''औत्पत्तिकी वैनयिकी कर्मजा पारिणामिकी चेति चतुर्विधा प्रज्ञा।''[2]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, पृष्ठ-306
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-82

''सा चउभेदा।''

अउपत्तिअ-परणामिय वइणइकी कम्मजाभिधाणेहि।।[1]

(1) औत्पत्तिकी प्रज्ञा -

यतिवृषभाचार्य के अनुसार पूर्वभव में श्रुत के प्रति की गई विनय से उत्पन्न होनेवाली प्रज्ञा को औत्पत्तिकी प्रज्ञा कहते हैं -

''अउपत्तिकी भवंतर-सुद-विणएणं समुल्लसिदभवा।''[2]

धवलाकार के अनुसार जन्मांतर में विनयपूर्वक बारह अंगों का ज्ञान अवधारण करने के बाद वह जीव देहत्याग होने पर देवों में उत्पन्न हुआ, देवगति से चय कर द्वादशांग ज्ञान के संस्कारों के साथ मनुष्य बनने के बाद मनुष्य गति में पढ़ने, सुनने व पूछने आदि (व्यापार) के बिना उत्पन्न होने वाली प्रज्ञा को औत्पत्तिकी प्रज्ञा कहते हैं।

जम्मंतरे चउव्विवह णिम्मलमदिबलेण विणएणावहरिददु-बालसंग्गस्स देवेसुप्पज्जिय मणुस्ससु अविणट्ठसंसकारेणुप्पण्णस्स एत्थ भवम्मि पढण सवण पुच्छणवावार विरहिंयस्स पण्णा अउप्पत्तिया णाम।[3]

यतिवृषभ औत्पत्तिकी प्रज्ञा को जन्मान्तर में श्रुत की विनय उत्पन्न होती है - ऐसा कहते हैं; जबकि वीरसेन जन्मांतर में श्रुत के अध्ययन को इस जन्म में बिना व्यापार के उत्पन्न होना कहते हैं।

दोनों आचार्यों का आशय एक ही प्रतीत होता है कि जन्मांतर में श्रुत का विनयपूर्वक अध्ययन इस जन्म में बिना व्यापार के लिए प्रज्ञा के द्वारा प्रकट होता है, वह जिस शक्ति से उत्पन्न होता है, उसे औत्पत्तिकी प्रज्ञा कहते हैं।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-82
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1028, पृष्ठ-306
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-82

धवलाकार ने एक उद्धरण भी दिया है, वह इसप्रकार है –

विणएण सुदमधीदं किह वि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आहवादि ।।2।।[1]

अर्थ – विनय से अधीत श्रुतज्ञान यदि किसी प्रकार प्रमाद से विस्मृत हो जाता है तो उसे (औत्पत्तिकी प्रज्ञा) परभव में उपस्थित करती है, और वह केवलज्ञान को बुलाती है।

और आगे कहते हैं कि औत्पत्तिकी प्रज्ञावाला श्रमण छह मास के उपवास से कृश होता हुआ भी उसप्रकार की बुद्धि के माहात्म्य को प्रकट करने के लिए चौदह पूर्वी के द्वारा भी पूछे जाने पर उत्तर देने में समर्थ होता है अर्थात् छह मास का उपवास करने पर औत्पत्तिकी प्रज्ञावाले का ज्ञान क्षीण नहीं होता, न कमजोर पड़ता है। धवलाकार के शब्द इस प्रकार हैं –

''एसो उप्पत्तिसमणो छम्मासोपवासगिलाणो वि तब्बुद्धि-माहप्पजाणावणट्ठं पुच्छावावदचोद्दसपुव्विस्स वि उत्तरबाहओ।''[2]

(2) वैनयिकी प्रज्ञा –

द्वादशांग श्रुत की योग्य विनय करने से उत्पन्न होने वाली प्रज्ञा को वैनयिकी प्रज्ञा कहते हैं –

''वइणइकी विणएणं, उप्पज्जदि बारसंगसुदजोग्गे।''[3]

अथवा विनय से बाहर अंगों को पढ़ने-वालों के उत्पन्न हुई प्रज्ञा का नाम वैनयिकी प्रज्ञा है –

''विणएण दुवालसंगाइं पढंतरस्सुप्पण्णा पण्णा वेणइया णाम।''[4]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-82
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-82
3. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1030 पृष्ठ-307
4. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-82

अथवा परोपदेश से उत्पन्न बुद्धि भी वैनयिकी प्रज्ञा कहलाती है –

''परोवदेसेण जातपण्णा वा''[1]

यहाँ तीनों कथनों का आशय यह है कि श्रुत की विनय से तथा विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन करने से या विनयपूर्वक श्रुत को सुनने द्वादशांग ज्ञान को धारण करनेवाली प्रज्ञा (ज्ञानशक्ति) उत्पन्न होती है, उस वैनयिकी प्रज्ञा कहते हैं।

सारांश यही है कि श्रुत की विनय से द्वादशांग का ज्ञान उत्पन्न करने वाली प्रज्ञा (ज्ञानशक्ति) को वैनयिकी प्रज्ञा कहते हैं।

(3) कर्मजाप्रज्ञा –

गुरु के उपदेश के बिना तपरूपी कर्म से उत्पन्न प्रज्ञा को कर्मजा प्रज्ञा कहते हैं –

उवदेसेण विणा तव–विसेस–लाहेण कम्मजा तुरिमा।।[2]

''तवच्छरणबलेण गुरुवदेसणिरपेक्खेणुप्पण्णपण्णा कम्मजा णाम।''[3]

अथवा औषध–सेवा के बल से उत्पन्न प्रज्ञा को भी कर्मजा प्रज्ञा कहते हैं –

''ओसह सेवाबलेणुप्पण्णा पण्णा वा।''[4]

यतिवृषभ तपविशेष से उत्पन्न प्रज्ञा को कर्मजा प्रज्ञा कहते हैं, धवलाकार तपविशेष अथवा औषधसेवा से उत्पन्न प्रज्ञा को कर्मजा प्रज्ञा कहते हैं।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–82
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1030, पृष्ठ–307
3. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–82
4. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–82

(4) पारिणामिकी प्रज्ञा –

अपनी-अपनी जाति-विशेष में या जाति-विशेष से उत्पन्न प्रज्ञा को पारिणामिकी प्रज्ञा कहते हैं –

''णिय-णिय जातिविशेषे, उप्पण्णा पारिणामिकी णामा।''[1]

सग-सगजादिविसेसेण समुप्पण्णपण्णा पारिणामिया णाम।[2]

शंका – यहाँ जाति का क्या अर्थ है?

उसका **समाधान** – यहाँ जाति का अर्थ 'विशेष' या भिन्न है, जैसे गणधर, श्रावक, मुनि, आर्यिका इसप्रकार जो एक दूसरे से विशेष या भिन्न होने से परस्पर जातियाँ हैं। गणधर जाति, श्रावक जाति इत्यादि।

गणधर-विशेष में या गणधर-जाति में उत्पन्न प्रज्ञा को पारिणामिकी प्रज्ञा कहते हैं। यही धवलाकार का कहना है –

''उसहसेणादीणं तित्थयरवयणविणिग्गयबीजपदट्टावहारयाणं पण्णण कत्थंतब्भावो?

पारिणामियाए, विणय-उप्पत्ति-कम्मेहि विणा उप्पत्तीदो।''[3]

अर्थ – शंका – तीर्थंकर के मुख से निकले हुए बीजपदों के अर्थ का निश्चय करनेवाले वृषभसेनादि गणधरों की प्रज्ञा का कौन-सी प्रज्ञा में अन्तर्भाव होता है?

समाधान – गणधरों की प्रज्ञा का पारिणामिकी प्रज्ञा में अन्तर्भाव होता है। क्योंकि पारिणामिकी प्रज्ञा विनय, उत्पत्ति और कर्म के बिना उत्पन्न होती है।

गणधरत्व की शक्तिवाला जीव पूर्व में विनय, उत्पत्ति और तपरूपी

---

1. तिलोयपण्णती, खण्ड-2, गाथा-1029, पृष्ठ-307
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-82
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-82

कर्म से रहित हो तो भी उसके द्वादशांग ज्ञान को ग्रहण, धारण की योग्यता हो तो उसकी यह योग्यता पारिणामिकी प्रज्ञा कहलाती है। जैसे महावीर भगवान के इन्द्रभूति गणधर की प्रज्ञा।

औत्पत्तिकी प्रज्ञा और पारिणामिकी प्रज्ञा में क्या अंतर है? ऐसा प्रश्न उत्पन्न कर समाधान करते हुए धवलाकर लिखते हैं कि –

जाति–विशेष में कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न प्रज्ञा पारिणामिकी है और जन्मांतर के विनयजनित संस्कार से उत्पन्न प्रज्ञा औत्पत्तिकी है। उनके शब्द इस प्रकार हैं –

''पारिणामिय–उप्पत्तियाणं को विसेसो?

आदिविसेसजणिदकम्मक्खओवसमुप्पण्णा पारिणामिया, जम्मंतर विणयजणिदसंस्कार समुप्पण्णा अउप्पत्तिया त्ति अत्थि विसेसो।[1]

यहाँ पुनः एक **शंका –** चार प्रकार के प्रज्ञाश्रमणों की चर्चा हुई है, उनमें से यहाँ कौन–से प्रज्ञाश्रमण को नमस्कार किया है या कौन–से प्रज्ञाश्रमण का ग्रहण करना?

उसका **समाधान –** चारों ही प्रकार के प्रज्ञाश्रमणों को नमस्कार किया है या चारों ही प्रकार के प्रज्ञाश्रमणों का ग्रहण किया है। क्योंकि **''प्रज्ञा एवं श्रवणं येषां ते प्रज्ञाश्रवणाः।''**[2] प्रज्ञा ही है, श्रवण, जिनका वे प्रज्ञाश्रवण हैं, ऐसी निरुक्ति है।

प्रज्ञा ही है श्रवण जिनका – ऐसा अर्थ करने पर वैनयिकी प्रज्ञाश्रमणों का ग्रहण नहीं हो पायेगा?

यहाँ **शंका – 'तदो ण वेणरयपण्णसमणाणं गहणामिदि?'**[3]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–83
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–83
3. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–83

प्रज्ञा ही है श्रवण जिनका – ऐसा अर्थ करने पर वैनयिकी प्रज्ञाश्रमणों का ग्रहण नहीं हो पायेगा?

समाधान – ''अदिट्ठ–अस्सुदेसु अट्ठेसु णाणुप्पायणजोगत्तं पण्णा णाम।''[1]

अदृष्ट और अश्रुत अर्थों में ज्ञानोत्पादन की योग्यता का नाम प्रज्ञा है। ऐसी प्रज्ञा चारों प्रकार के प्रज्ञाश्रमणों में पायी जाती है, इसलिए यहाँ चारों ही प्रकार के प्रज्ञाश्रमणों का ग्रहण किया है और चारों ही को नमस्कार किया है।

यहाँ प्रश्न – प्रज्ञा और ज्ञान में क्या अंतर है?

समाधान – गुरु के उपदेश से निरपेक्ष ज्ञान की हेतुभूत जीव की शक्ति का नाम प्रज्ञा है और उसका कार्य ज्ञान है – यही दोनों में अंतर है। यही कहा है –

''पण्णाए णाणस्स य को विसेसो?

णाणहेदुजीवसत्ती गुरुवएसणिरवेक्खा पण्णा णाम, तक्कारियं णाम, तदोऽत्थि भेदो।''[2]

शंका – प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धि ऋद्धि कैसे उत्पन्न होती है?

समाधान – आचार्य यतिवृषभ के अनुसार श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय – इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धि उत्पन्न होती है। उनके शब्द इसप्रकार हैं –

पगदीए सुदणाणावरणाए वीरियंतरायाए।
उक्कस्स खवोवसमे उप्पज्जइ पण्णसमणद्धी।।''[3]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–83
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–84
3. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, पृष्ठ–307

तिलोयपण्णत्ती गाथा 70 के अनुसार –

''पण्हसमणेसु चरिमं वइरजसो णाम।''

प्रज्ञाश्रमणों में अंतिम प्रज्ञाश्रमण **'वज्रयश'** हुए हैं।

14. प्रत्येक–बुद्धत्व–बुद्धि–ऋद्धि

णमो पत्तेयबुद्धीणं।।

प्रत्येक–बुद्ध जिनों को नमस्कार हो।

गुरु के उपदेश के बिना ही कर्म के उपशम से जिसके द्वारा सम्यग्ज्ञान तथा तप–विषयक ज्ञान की प्रगति होती है, उस ऋद्धि को प्रत्येक बुद्धि बुद्धत्व ऋद्धि कहते हैं। यही आचार्य यतिवृषभ ने कहा है –

कम्माण उवसमेण य, गुरुवदेसं विणा वि पावेदि ।
सण्णाण–तवप्पगमं, जीए पत्तेय–बुद्धी सा।।13।।[1]

अर्थ – जिससे बिना किसी गुरु के स्वत: ही सम्यग्ज्ञान के विषय में और तप के विषय में प्रगति होती है, उसे प्रत्येक–बद्धत्व बुद्धि ऋद्धि कहा गया है। प्रत्येक बुद्ध या प्रत्येक बुद्धत्व बुद्धि ऋद्धि के विषय सम्यग्ज्ञान और तपविषयक ज्ञान की प्रगति है।

शंका – प्रज्ञाश्रमण और प्रत्येकबुद्ध में क्या अंतर है और क्या समानता है?

समाधान – दोनों में बिना उपदेश तथा बिना पढ़े ही निरूपण की शक्ति है। यह तो समानता है। तथा प्रज्ञाश्रमण में चौदह पूर्वों के विषय में अत्यंत सूक्ष्म तत्त्व के निरूपण करने की शक्ति होती है; जबकि प्रत्येक बुद्ध में मात्र सम्यग्ज्ञान व तपविषयक सूक्ष्म तत्त्व के निरूपण करने की शक्ति

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1131, पृष्ठ–307

होती है – यही इन दोनों में असमानता या अन्तर है।

आचार्य अकलंक के अनुसार –

''परोपदेशमन्तरेण स्वशक्तिविशेषादेव ज्ञानसंयमविधान-निपुणत्वं प्रत्येकबुद्धता।''[1]

अर्थ – अन्य किसी के उपदेश के बिना ही ज्ञान और संयम के विधान में निपुणता प्रत्येक बुद्धता या प्रत्येक बुद्धत्व है। अर्थात् परोपदेश के बिना स्वाभाविक रूप से ही ज्ञान-चारित्र में निपुण हो जाना प्रत्येकबुद्धता है।

यह ऋद्धि तपोबल से ज्ञानावरण और वीर्यन्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती है और इसमें गुरु के उपदेश के बिना सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में सूक्ष्म निरूपण की शक्ति होती है।

15. दशपूर्वी-बुद्धि-ऋद्धि

णमो दसपुव्वियाणं।।[2]

(अभिन्न) दस पूर्वी जिनों को नमस्कार हो।

दस पूर्वों का ज्ञान पूर्ण होने के बाद रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं के स्वामी देवता तथा अंगुष्ठप्रसेन आदि सात सौ लघुविद्याओं के स्वामी देवता नमस्कार करके स्वशक्ति के प्रदर्शन के पश्चात् दस पूर्व के अध्येता मुनि से आज्ञा माँगते हैं, उससमय जो मुनि उन देवताओं को आदेश नहीं देते हैं, अपने ध्यान में लीन रहते हैं, वे मुनि **'अभिन्न दशपूर्वी'** कहलाते हैं। जो मुनि उन देवताओं को आदेश देते हैं, वे मुनि **'भिन्न दशपूर्वी'** कहे जाते हैं।

अभिन्न दशपूर्वी मुनि की बुद्धि के ज्ञानातिशय को दशपूर्वी बुद्धि ऋद्धि कहते हैं।

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-561-562
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-12, पृष्ठ-69

वे अभिन्न दशपूर्वी लोक में ''**विद्याधर श्रमण**'' नाम से प्रसिद्ध होते हैं। यही सब आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं –

रोहिणी–पहुदीण महाविज्जाणं देवदाउ पंचसया।
अंगुट्ठ–पसेणाइं, खुल्लय–विज्जाण सत्त सया।।
एत्तूण पेसणाइं, मग्गंते दसम–पूव्व–पढणम्मि।
णेच्छंति संजमता, ताओ जे ते अभिण्ण दसपुव्वी।।
भुवणेसु सुप्पसिद्धा, विज्जाहर–समण–णाम–पज्जाया।
ताणं मुणीण बुद्धी, दसपुव्वी णाम बोद्धव्वा।।[1]

भिन्न दशपूर्वी जितेन्द्रिय नहीं होते हैं। वे गुणस्थान से भी गिर जाते हैं, उनका दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धिधरों में समावेश नहीं है।

यही वर्णन आचार्य वीरसेन स्वामी के शब्दों में विस्तार से निम्नप्रकार से है –

''णमो दसपुव्वियाणं।।[2]

''एत्थ दसपुव्विणो भिण्णाभिण्णभेएण दुविहा होंति । एत्थ एक्कारसंगाणि पढिदूण पुणो परियम्म–सुत्त–पढमाणियोग–पुव्वभय–चूलिया त्ति पंचहिया–रणिबद्धदिट्ठिवादे पढिज्जमाणे उप्पादपुव्वमादिं कादूण पढंताणं दसम पुव्वे विज्जाणुपवादे सम्मत्ते रोहिणी आदिपंचसयमहाविज्जाओ अंगुट्ठसेणादि सत्तसयदहरविज्जाहिं अणुगयाओ किं भवयं आणवेदि तित्ति ढुक्कंति। एवं ढुक्काणं सव्वविज्जाणं जो लोभं गच्छदि सो भिण्णदसपुव्वी। जो पुण ण तासु लोभं करेदि कम्मक्खयत्थी होंतो सो अभिण्ण दसपुव्वी णाम। तत्थ अभिण्णदसपुव्विजिणाणं णमोक्कारं करेमि त्ति उत्तं होदि।[3]

अर्थ – दशपूर्विक जिनों को नमस्कार हो।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1007-1009, पृष्ठ-302
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-12, पृष्ठ-69
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-12, पृष्ठ-69

यहाँ भिन्न और अभिन्न के भेद से दशपूर्वी के दो प्रकार हैं। उनमें ग्यारह अंगों को पढ़कर पश्चात् परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इन पाँच अधिकारों में निबद्ध दृष्टिवाद के पढ़ते समय उत्पादपूर्व से लेकर पढ़नेवालों के दशम पूर्व विद्यानुवाद के समाप्त होने पर अंगुष्ठप्रसेनादि सात सौ क्षुद्र विद्याओं से अनुगत रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याएँ ''भगवन् क्या आज्ञा है?'' ऐसा कहकर उपस्थित होती हैं। इसप्रकार उपस्थित हुई विद्याओं के लोभ को जो प्राप्त होता है, वह भिन्नदशपूर्वी है। किन्तु जो कर्मक्षय का अभिलाषी होकर उनमें लोभ नहीं करता है, वह अभिन्नदशपूर्वी कहलाता है। उनमें अभिन्न दशपूर्वी जिनों को नमस्कार करता हूँ, यह सूत्र का अर्थ है।

शंका – भिण्णदसपुव्वीणं कधं पडिणियत्ती?

समाधान – जिणसद्दाणुवुत्तीदो। ण च तेसिं जिणत्तमत्थि, भग्गमहव्वएसु जिणत्ताणुववत्तीदो।[1]

अर्थ – शंका – वहाँ भिन्न दशपूर्वियों की व्यावृत्ति कैसे होती है?

समाधान – जिन शब्द की अनुवृत्ति होने से उनकी वहाँ व्यावृत्ति होती है, क्योंकि भिन्न दशपूर्वियों के जिनत्व नहीं है, क्योंकि जिनके महाव्रत नष्ट हो चुके होते हैं, उनमें जिनत्व घटित नहीं होता है।

धवलाकार यहाँ एक महत्त्वपूर्ण **शंका** उत्पन्न करते हैं कि पहले दशपूर्वी ज्ञानधारक को नमस्कार किया है, बाद में चतुर्दशपूर्वी ज्ञानधारक को नमस्कार किया, जबकि ज्ञान अपेक्षा चतुर्दशपूर्वी ज्ञानधारक का ज्ञान दशपूर्वी ज्ञानधारक से अधिक है, इसलिए चतुर्दशपूर्वी को पहले तथा अभिन्न दशपूर्वी को बाद में नमस्कार करना चाहिए था। उनसे पहले दशपूर्वी ज्ञानधारक को नमस्कार किस कारण से किया?

इस शंका के **समाधान** में धवलाकार त्याग की महिमा तथा श्रुतपरम्परा – इन दो हेतुओं को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि अभिन्न

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-3, पृष्ठ-70

दशपूर्वी ज्ञानधारक के त्याग की महिमा बताने के लिए अथवा श्रुत की परम्परा की अपेक्षा से दशपूर्वी ज्ञानधारक को चतुर्दशपूर्वी ज्ञानधारक से पहले नमस्कार किया है। उनके शब्द इसप्रकार हैं –

''चोद्दसपुव्वहराणं णमोक्कारो किं ण कदो? ण, जिणवयणपच्चयट्ठाणपदुप्पायणदुवारेण दसपुव्वीणं चागमहप्पपदरि सणट्ठं पुव्वं तण्णमोक्कारकरणादो।''[1]

अर्थ – शंका – चौदह पूर्वों के धारकों को पहले नमस्कार क्यों नहीं किया?

समाधान – नहीं, क्योंकि जिनवचनों पर प्रत्ययस्थान अर्थात् विश्वास-उत्पादन द्वारा दशपूर्वियों के त्याग की महिमा दिखाने के लिए पहले उन्हें नमस्कार किया है।

अथवा श्रुत की परिपाटी की अपेक्षा पहले दशपूर्वियों को नमस्कार किया है।

यहाँ **शंका –** यह ऋद्धि चारित्र-ऋद्धियों के अन्तर्गत होनी चाहिए, ज्ञान-ऋद्धियों के अन्तर्गत नहीं, क्योंकि लोभ रहित मुनित्व दर्शाया है?

उसका **समाधान –** जैसे ज्ञानमद नहीं होना ज्ञान का ही गुण है, वैसे दस पूर्वों का ज्ञान होने पर भी मद के साथ लोभ का न होना भी ज्ञान का ही महात्म्य है, ज्ञान का ही गुण है। इस ऋद्धिधारी मुनि को ज्ञान की इच्छा है, इसलिए ज्ञानार्जन करते हैं, लोभ नहीं है, इसलिए देवताओं के द्वारा आदेश माँगे जाने पर भी आदेश नहीं देते हैं।

अपने रूपसामर्थ्य का कथन करने में कुशल महारोहिणी आदि विद्यादेवताओं के द्वारा प्रदर्शित लोभ से विचलित न होकर अपने चारित्र में अडिग रहकर दशपूर्वी रूपी समुद्र को पार करना दशपूर्वित्व है। यही कहा है –

''महारोहिण्यादिभिस्त्रिभिरागताभिः प्रत्येकमात्मीयरूप-

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-3, पृष्ठ-70

सामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिर्विद्यादेवताभिर विचलित-चारित्रस्य दशपूर्वदुस्तरसमुद्रोत्तरणं दशपूर्वित्वम्।''[1]

''विद्यानुवाद नामक दशम पूर्व पढिकै जो सरागी न होय, सो अभिन्न दशपूर्वी कहे हैं।''[2]

विद्यानुवाद में एक करोड़ दस लाख (1,10,00000) पद, पंद्रह (15) वस्तु अधिकार और तीन सौ (300) प्राभृत अधिकार हैं। इतने विस्तृत ज्ञान को अधिगत करने के बाद विद्यादेवताओं के लोभ में न फँसे तो दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि प्रकट होती है, क्योंकि देवता आज्ञा माँगते हैं, लोभ में फँसे तो आज्ञा दे। स्वरूप में स्थिर रहे तो क्यों आज्ञा दें? अर्थात् अभिन्न दशपूर्वी स्वरूप में लीन रहते हैं, आदेश नहीं देते हैं।

सारांश यह है कि अपने वीतराग चरित्र से चलायमान न होने की ज्ञान की विशुद्धतारूपी शक्ति को दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि कहते हैं।

169 शलाका पुरुषों में 11 रुद्र होते हैं। ये सभी रुद्र 10वें पूर्व तक अध्ययन करते हैं, परंतु दसवें पूर्व का अध्ययन करते समय विषय-कषायों का निमित्त पाकर तप से भ्रष्ट हो जाते हैं, पश्चात् सम्यग्दर्शन से रहित होकर नरक जाते हैं।

सव्वे दसमे पुव्वे रूद्दा भट्टा तवाउ विसयत्थं।
सम्मत्त-रयण-रहिदा, बुड्ढा घोरेसु णिरएसुं।।[3]

असंख्येय गुणी निर्जरा के प्रसंग में पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक - ये पाँच भेद निर्ग्रन्थों के बताये हैं।[1]

उन पाँचों में -

''पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षर-दशपूर्वधराः।''[4]

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-9, सूत्र-46
2. तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि टीका, अध्याय-9, सूत्र-47
3. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ती, गाथा 1454,पृष्ठ 421
4. आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-202

अर्थ – पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना, कुशील – ये तीन उत्कृष्टरूप से अभिन्नाक्षर दशपूर्वों के ज्ञाता होते हैं। इतना विशेष जानना।

''यहाँ एक **शंका – ''णमो विज्जाहराणं''** सूत्र में मात्र दशपूर्व के ज्ञाता अभिन्न दशपूर्वधारी मुनियों को ही नमस्कार किया है क्या?

उसका **समाधान –** नहीं, ऐसा नहीं है। उसका विस्तृत समाधान इसप्रकार है – विद्याधर तीन प्रकार के होते हैं –

(1) विजयार्ध पर्वत पर निवास करनेवाले विद्याधर कहलाते हैं।

(2) विद्यानुवाद पढ़नेवाले भी विद्याधर कहलाते हैं।

(3) विद्याओं का त्याग कर दीक्षा लेनेवाले भी विद्याधर कहलाते हैं, क्योंकि विद्याविषयक ज्ञान इनके पाया जाता है।

''णमो विज्जाहराणं'' इस सूत्र में अंतिम दो विद्याधरों को नमस्कार किया है। क्योंकि इनमें जिनत्व पाया जाता है। ये विद्याधरजिन कहलाते हैं।

शंका – विद्याधर और विद्याधरजिन में क्या भेद है?

समाधान – विजयार्ध पर्वत के निवासी विद्याओं को काम में लेते हैं, वे विद्याधर हैं। तथा जो सिद्ध हुई विद्याओं को काम में नहीं लेते, केवल अज्ञान की निवृत्ति के लिए उन्हें धारण करते हैं, तथा जिन्होंने विद्याओं का त्याग किया है, ऐसे दोनों प्रकार के मुनि विद्याधरजिन कहलाते हैं। यही धवला में कहा है –

'केसिमेत्थ गहणं'? ण ताव वेयड्ढुप्पण्णअसंजदाणं गहणं, तेसिं जिणत्ताभावादो। परिसेसादो सेसदुविहविज्जाहरा एत्थ घेत्तव्वा।''[1]

अर्थ – तीन प्रकार के विद्याधरों में यहाँ किनका ग्रहण है?

समाधान – वैताढ्य पर्वत पर उत्पन्न असंयतों का यहाँ ग्रहण नहीं है, क्योंकि उनमें जिनपना नहीं पाया जाता। परिशेष न्याय से शेष दो प्रकार के विद्याधरों का यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-78

दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि अपने चारित्र में अडिग रहनेवाले मुनि ज्ञानावरण और वीर्यन्तराय कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती है।

भगवान महावीर के निर्वाण के एक सौ बासठ वर्ष पश्चात् एक सौ तिरासी वर्ष तक ग्यारह मुनि दशपूर्व के धारी हुए।

उनके नाम - 1. विशाखदत्त 2. प्रोष्ठिल 3. श्रोत्रिय 4. जयसेन 5. नागसेन 6. सिद्धार्थ 7. धृतसेन 8. विजयसेन 9. बुद्धिमान 10. गंग 11. धर्म। अंतिम दशपूर्वज्ञानधारी धर्म या सुधर्म नामक आचार्य मुनि हुए।[1]

16. चतुर्दश-पूर्वित्व-बुद्धि-ऋद्धि

णमो चोद्दसपुव्वियाणं।।[2]

चौदह पूर्व के ज्ञाता जिन को नमस्कार हो।

चौदह पूर्वों का ज्ञान जिस बुद्धि में प्रकट होता है, वह बुद्धि चतुर्दशपूर्वित्व बुद्धि है तथा उस बुद्धि में चौदह पूर्वों के ज्ञान को धारण करने की शक्ति को चतुर्दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि कहते हैं। चतुर्दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि को धारण करनेवाले मुनि को चतुर्दशपूर्वित्व ऋद्धिधर जिन कहते हैं अथवा इन्हें श्रुतकेवली कहते हैं।

भगवान महावीर के निर्वाण के 162 वर्ष तक श्रुतकेवली थे। अनुबद्ध केवलियों में अंतिम केवली जम्बूस्वामी तथा अननुबद्ध के केवलियों में अंतिम केवली श्रीधर हुए। अंतिम केवली जम्बूस्वामी के बाद सौ वर्ष के अंतराल में पाँच मुनि श्रुतकेवली हुए। उनके नाम - 1. विष्णु 2. नन्दि 3. अपराजित 4. गोवर्धन 5. भद्रबाहु। भद्रबाहु के बाद कोई श्रुतकेवली नहीं हुए।

तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार जो महर्षि सम्पूर्ण आगम में पारंगत

---

1. इन्द्रनंदी श्रुतावतार, श्लोक 79-80 तथा तिलोयपण्णत्ती, गाथा-1496
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-13

हैं तथा श्रुतकेवली नाम से सुप्रसिद्ध होते हैं, उनके चौदहपूर्वी नामक बुद्धि ऋद्धि होती है –

सयलाग–पारगया, सुदकेवलि–णाम–सुप्पसिद्धा जे।
एदाणबुद्धि रिद्धी, चोद्दसपुव्वि त्ति णामेण।।[1]

चतुर्दशपूर्वित्व बुद्धिवाले लोक में श्रुतकेवली नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इस ऋद्धिधारी को सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञान होता है।

धवलाकार के अनुसार समस्त श्रुत के धारक चौदहपूर्वी जिन हैं, उनके शब्द और षट्खण्डागम का मूलसूत्र तथा उसकी टीका इस प्रकार है –

''णमो चोद्दसपुव्वियाणं।''

''जिणाणमिदि एत्थाणुवट्टदे। सयल सुदणाणधारिणो चोद्दसपुव्विणो। तेसिं पुव्वीणं जिणाणं णमो इदि उत्तं होदि।''[2]

अर्थ – चौदहपूर्विक जिनों को नमस्कार हो।

यहाँ ''जिनों को'' इस पद की अनुवृत्ति होती है। समस्त श्रुतज्ञान के धारक चौदहपूर्वी जिन हैं। उन चौदहपूर्वी जिनों को नमस्कार हो, यह सूत्र का अभिप्राय है।

आचार्य अकलंक सरल शब्दों में बताते हैं कि सम्पूर्ण श्रुतकेवलीता ही चतुर्दशपूर्वित्व बुद्धि ऋद्धि है –

''सम्पूर्णश्रुतकेवलिता चतुर्दश–पूर्वित्वम्।''[3]

यह बुद्धि ऋद्धि वीर्यान्तराय तथा ज्ञानावरण कर्म के उत्कृष्ट क्षयोपशम में से प्रकट होती है। साथ में चारित्र–गत परिणामों की विशुद्धि अंतरंग निमित्त होता ही है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1010, पृष्ठ–302
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, सूत्र–13, पृष्ठ–70
3. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–560

चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होने पर चारों निकाय के देव आकर प्रभात समय में इनकी तुरही आदि वाद्य-यंत्रों के संगीत के साथ चौदहपूर्वी पूजा-अर्चना करते हैं। यहाँ एक से लेकर नौ तथा ग्यारह, बारह, तेरह पूर्वधरों को नमस्कार क्यों नहीं किया - ऐसी शंका उत्पन्न कर उसका समाधान धवलाकार स्वयं करते हैं।

शंका – नौ पूर्व तक के ज्ञानधारकों को तथा ग्यारह, बारह, तेरह पूर्व के ज्ञानधारकों को नमस्कार क्यों नहीं किया? सिर्फ अभिन्न दशपूर्वी और चतुर्दशपूर्वी इन दो को ही नमस्कार क्यों किया? तथा आचारांग आदि अंगों के ज्ञाताओं को नमस्कार क्यों नहीं किया? तथा आचारांग आदि अंगों के ज्ञाताओं को नमस्कार क्यों नहीं किया?

समाधान – आचारांग आदि अधस्तन अंगों के ज्ञाताओं को तथा दशपूर्वी व चौदह पूर्वी के अलावा शेष पूर्वी के ज्ञाताओं को नमस्कार किया है, क्योंकि वे इनमें ही गर्भित हैं। आचारांग आदि अंगों के ज्ञान के बिना, अग्रायणी आदि पूर्वों के ज्ञान के बिना अग्रिम अंगों तथा पूर्वों का ज्ञान संभव ही नहीं है।

उनके शब्द निम्नप्रकार से हैं –

''आचारंगादिहेट्ठिमअंग-पुव्वधराणं णमोक्कारो किण्ण कदो?

ण, तेसिं पि णमोक्कारो कदो चेव, तेसिमेत्थुवलंभादो।''

''सेसहेट्ठिमपुव्वीणं णमोक्कारो किण्ण कदो?

ण, तेसिं पि कदो चेव, तेहि विणा चोद्दसपुव्वाणुववत्तीदो।[1]

अर्थ – शंका – आचारांगादि अधस्तन अंग और अन्य पूर्वों के ज्ञान-धारकों को नमस्कार क्यों नहीं किया?

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-71

समाधान – ऐसा नहीं, क्योंकि, उनको भी नमस्कार किया ही है, क्योंकि इनमें वे गर्भित हैं।

शंका – शेष अधस्तन पूर्वियों को नमस्कार क्यों नहीं किया?

समाधान – ऐसा नहीं, क्योंकि उनको भी नमस्कार किया ही है, क्योंकि अधस्तन पूर्वों के बिना चौदह पूर्व घटित नहीं होते हैं। इसलिए चतुर्दशपूर्वी में अधस्तन पूर्वी गर्भित हैं।

जैसे अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयों में पूजन में अर्घ्य चढ़ाते समय या नमस्कार करते समय 8,56,97,481 गिनती के अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयों को अर्घ्य चढ़ाते हैं, नमस्कार करते हैं। उस अर्घ्य समर्पण तथा नमस्कार में इनके अलावा जो व्यंतरों के एवं ज्योतिषियों के अनगिनत अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालय गर्भित होते हैं, वैसे ही यहाँ भी समझना।

शंका – पूर्व तो चौदह हैं; उनमें से मात्र दशपूर्वी तथा चतुर्दशपूर्वी का नाम क्यों लिया गया? उसका क्या कारण है?

समाधान – पूर्व तो चौदह हैं, उनमें से मात्र दशपूर्वी तथा चतुर्दशपूर्वी का ही नाम लिया गया है, क्योंकि धवलाकार के अनुसार दशपूर्वी तथा चतुर्दशपूर्वी के अध्ययन की समाप्ति में जिनवचनों पर विश्वास देखा जाता है।

शंका – इन दो स्थानों पर जिनवचनों पर विश्वास देखा जाता है – ऐसा आपने कैसे जान लिया?

समाधान – यद्यपि जिनवचन के रूप में सभी अंग, सभी पूर्व समान हैं। फिर भी अंगों में दृष्टिवाद नाम के बारहवाँ अंग का तथा पूर्वों में विद्यानुवाद नाम के दसवें पूर्व का और लोकबिंदुसार नाम के चौदह पूर्व का विशेष महत्त्व है; क्योंकि दशपूर्वों का अध्ययन करने वाले साधु के पास बारह सौ (1200) विद्याओं के अधिष्ठाता देवता आकर नमस्कार कर प्रदक्षिणा देकर आज्ञा माँगते हैं। दश पूर्वों तथा चौदह पूर्वों का अध्ययन

करनेवाले साधु की चौदह पूर्वों को समाप्त करके रात्रि में कायोत्सर्ग से स्थित होने पर प्रभात समय में भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों के द्वारा शंख, काहला और तूर्य आदि वाद्य-यंत्रों के साथ महापूजा की जाती है।

इसी से इन दो स्थानों पर जिनवचनों पर विश्वास देखा जाता है - ऐसा हमने जाना है। उनके मूल शब्द इसप्रकार हैं -

"चोद्दसपुव्वस्सेव णामणिद्देसं कादूण किमट्ठं णमोक्कारो कीरदे?

विज्जाणुपवादस्स समत्तीए इव चोद्दसपुव्वसमत्तीए वि जिणवयणपच्चयदंसणादो।

चोद्दसपुव्वसमात्तीए को पच्चओ?

चोद्दसपुव्वाणि समाणिय रत्तिं काओसग्गेण ट्ठिदस्स पहादसमए भवणवासिय वाणवेंतर-जोदिसिय-कप्पवासियदेवेहि कथमहापूजा संख-काहला-तुर रवसंकुला होदु।

एदेसु दोसु ट्ठाणेसु जिणवयणपच्चओवलंभो।"[1]

अर्थ - शंका - चौदह पूर्व का ही नामनिर्देश करके किसलिए नमस्कार किया जाता है?

समाधान - क्योंकि विद्यानुवाद की समाप्ति के समान चौदह पूर्वों की समाप्ति में भी जिनवचन पर विश्वास देखा जाता है।

शंका - चौदह पूर्वों की समाप्ति में कौन-सा विश्वास देखा जाता है?

समाधान - चौदह पूर्वों को समाप्त करके रात्रि में कायोत्सर्ग में

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-71

स्थित साधु को प्रभात समय में भवनवासी, वानव्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों द्वारा शंख, काहला और तूर्य के शब्दों से व्याप्त महापूजा की जाती है। इसी से इन दो स्थानों पर जिनवचनों पर विश्वास पाया है।

आशय यह है कि यदि ये अभिन्नदशपूर्वी और चतुर्दशपूर्वी विशेष साधना, तपस्या, वैराग्यबल वाले न होते तो चतुर्निकाय के देव वाद्ययंत्रों के साथ इनकी पूजा क्यों करते?

चतुर्निकाय देवों द्वारा की जाननेवाली उनकी महापूजा उनकी विशेष साधना को तथा जिनवचनों के सम्यक्पने दोनों का सिद्ध करती है तथा जिनवचनों पर विश्वास उत्पन्न कराती है।

पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग के लौकांतिकदेव 14 पूर्वों के ज्ञाता होते हैं –

चौद्दसपुव्वधरा पडिबोहपरा तित्थियर विणिक्कमणे।[1]

अर्थ – (लौकान्तिक देव) चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते हैं, तीर्थंकर के जीव के वैराग्य प्रकट होने पर बोध के साथ अनुमोदन करने वाले होते हैं। परंतु असंयमी होने से उनका यहाँ ग्रहण नहीं है।

इसका अर्थ यह है कि जो 14 पूर्वों का ज्ञाता हो और मुनि भी हो, यहाँ उसी का ग्रहण जानना।

चौदह पूर्व का धारक मुनि कभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है और उस भव में असंयम को भी प्राप्त नहीं होता है, यह चतुर्दशपूर्वी की एक और विशेषता है –

''चोद्दसपुव्वहरो मिच्छत्तं ण गच्छदि, तम्हि भवे असंजमं च ण पडिवज्जदि, एसो एदस्स विसेसो।''[2]

दशपूर्वी और चतुर्दशपूर्वी इन दोनों की इन्हीं विशेषताओं के कारण

1. त्रिलोकसार, गाथा 540, पृष्ठ,–296
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–71

उनका नामस्मरण कर उनको नमस्कार किया है। यद्यपि इनका ही इनकी विशेषता के कारण नामस्मरण करके नमस्कार किया है फिर भी इनमें अधस्तनवर्ती सभी मुनिवर गर्भित हैं।

असंख्येय गुणी निर्जरा के प्रसंग में पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक – ये पाँच भेद निर्ग्रन्थों के बताये हैं।[1] उनमें –

कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्च चतुर्दशपूर्वधराः।[2]

अर्थ – कषायकुशील और निर्ग्रन्थ – ये दो चौदह पूर्वों के ज्ञाता होते हैं। इतना विशेष जानना।

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ में प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येक बुद्ध, दशपूर्वी, चतुर्दशपूर्वी को जिस पंक्ति में नमस्कार किया है, वह पंक्ति इसप्रकार है –

प्रज्ञाप्रधाना श्रमणासमृद्धाः प्रत्येक बुद्धा–दस सर्वपूर्वैः।[3]

यहाँ एक शंका है – प्रज्ञाश्रमणत्व और चतुर्दशपूर्वित्व इन दो ऋद्धियों में क्या अन्तर है?

समाधान – जो महर्षि सम्पूर्ण आगम में पारंगत है तथा श्रुतकेवली नाम से लोक में सुप्रसिद्ध होता है, उसकी बुद्धि चतुर्दशपूर्वीत्व बुद्धि होती है। प्रज्ञाश्रमणत्व बुद्धिवाला बिना अध्ययन किए चौदह पूर्वों में विषय की सूक्ष्मता लिए हुए जानता है, उसकी बुद्धि चतुर्दशपूर्वित्व बुद्धि है। चतुर्दशपूर्वित्व बुद्धिवाला लोक में श्रुतकेवली नाम से प्रसिद्ध नहीं होता है। यही इन दोनों में अन्तर है।

यह बुद्धि ऋद्धि विशेष तपोबली को ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती है।

---

1. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय–9, सूत्र 46
2. आचार्य पूज्यपाद, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय–9, सूत्र 47, सर्वार्थसिद्धि टीका।
3. परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ, श्लोक–4

17. वादित्व-बुद्धि-ऋद्धि

णमो वादिय बुद्धीणं।।[1]

वादित्व ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।

वाद-विवादों में किसी को भी हरा सकने की तथा प्रतिवादी के दोषों को जानकर बता सकने की बुद्धि की सामर्थ्य को वादित्व-बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

वादित्व-बुद्धि-ऋद्धिधारक के सामने वादविवाद के लिए कितना ही बड़ा शास्त्रज्ञानी आये अथवा इन्द्र जैसा द्वादशांगी आये तो भी वादित्व-बुद्धित्व-ऋद्धि धारक उसे अपने बुद्धि बल से हराता है। न केवल हराता है, बल्कि उसके ज्ञान संबंधी दोषों को बताता है। इसलिए संक्षेप में कह सकते हैं कि ज्ञान का ऐसा विशेष क्षयोपशम जिसके द्वारा द्वादशांग पाठी इन्द्र जैसा व्यक्ति भी वाद-विवाद के लिए उपस्थित हों, तो उसे न केवल निरुत्तर कर दिया जाये, बल्कि उसके दोष बताये जाये, ऐसे विशेष ज्ञान की प्राप्ति को वादित्व-बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

यही यतिवृषभ लिखते हैं -

सक्कादिं पि विपक्खं, बहुवादेहिं णिरुत्तरं कुणदि।
पर-दव्वाइ गवेसइ, जीए वादित्त-बुद्धीए।।[2]

अर्थ - जिस ऋद्धि के द्वारा शाक्य (इंद्र) आदि विपक्षियों को भी बहुत भारी वाद से निरुत्तर कर दिया जाता है और उससे पर (विरोधी) के द्रव्यों की गवेषणा (परीक्षा) की जाती है (या दूसरों के छिद्र अथवा दोष ढूँढे जाते हैं), वह वादित्व-बुद्धि-ऋद्धि कहलाती है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-13, पृष्ठ-70
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1032, पृष्ठ-308

यही आचार्य अकलंक कहते हैं –

“शक्रादिष्वपि प्रतिबन्धिषु सत्स्वप्रतिहततया निरुत्तराभिधानं पररन्ध्रापेक्षणं च वादित्वम् ।”[1]

अर्थ – यदि इन्द्र भी आकर वाद करे तो उसे भी निरुत्तर कर देना और प्रतिवादी के दोषों को जान लेना वादित्व नाम की बुद्धि ऋद्धि है।

यह ऋद्धि उसकी शक्ति की अपेक्षा है। ऐसा नहीं है कि इस ऋद्धि के धारक वाद-विवाद करते रहते हैं। तीर्थंकर परमात्मा का सात प्रकार का संघ होता है, उसमें 1. पूर्वधर, 2. शिक्षक, 3. अवधिज्ञानी, 4. केवली, 5. विक्रियाधारी, 6. विपुलमति और 7. वादी होते हैं। इन सात प्रकार के संघों में ऋषभदेव के समवसरण में 12750 वादी थे, महावीर के समवसरण में 400 वादी थे। ये वादी उक्त प्रकार की बुद्धिवाले होते हैं।

यह ऋद्धि ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ में इस ऋद्धिधारी को जिस श्लोक में नमस्कार किया है, वह श्लोक इसप्रकार है –

प्रज्ञाप्रधाना श्रमणा समृद्धा प्रत्येकबुद्धा दशसर्वपूर्वैः।
प्रवादिनोऽष्टांगनिमित्तविज्ञा, स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।[2]

18. महानिमित्तत्व-बुद्धि-ऋद्धि

णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं।।[3]

अष्टांग महानिमित्त कुशल जिनों को नमस्कार हो।

---

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय-3 सूत्र-36, पृष्ठ-562
2. परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ श्लोक-4
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-14, पृष्ठ-70

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के धवल देश की वत्सिकावती नगरी के वन के किसी एक पर्वत की शिला पर श्रुतधर नाम के मुनिराज से अन्य तीन मुनि अष्टांग निमित्तज्ञान का अध्ययन कर रहे थे। उत्तरपुराण ग्रंथ[1] की इस कथा से जान पड़ता है कि अष्टांग निमित्त ज्ञानों का पृथक् रूप से अध्ययन करना होता था।

भद्रबाहु[2], अर्हद्बलि[3] आदि अनेकों आचार्यों को, विशेषकर निर्यापक आचार्यों को अष्टांग महानिमित्तों का ज्ञान होने के उल्लेख शास्त्रों में बिखरे पड़े हैं। यथा –

निमित्तज्ञानतोऽऽसीन्मुनिरुत्पातमद्भुतम्।
शरद्द्वादशपर्यन्तं दुर्भिक्षं मध्यमण्डले।।61।।

अर्थ – मुनिराज ने निमित्तज्ञान से जाना कि मध्यमण्डल (मध्यप्रदेश) अर्थात् मालव देश में बारह वर्ष तक का भीषण अकाल पड़ेगा।

अठारह बुद्धि ऋद्धियों में यह अठारहवीं बुद्धि ऋद्धि या अंतिम बुद्धि ऋद्धि है। यहाँ इस प्रकरण में निमित्त के रूप में परपदार्थ हैं; परपदार्थ, उनकी अवस्था, उनके चिह्न आदि को देखकर भूत, वर्तमान और भविष्य के शुभाशुभ आदि को जानना होता है, उससे होनेवाले ज्ञान को नैमित्तिक ज्ञान कहते हैं। ऐसे नैमित्तिक ज्ञान को महानिमित्तत्व-बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि का दूसरा प्रचलित नाम अष्टांग महानिमित्तत्व बुद्धि ऋद्धि है। अष्ट अर्थात् आठ; और हाथ आदि के आकार, वर्ण, स्पर्श, धातु आदि को अंग कहते हैं।

यहाँ **प्रश्न –** आठ निमित्त ही प्रसिद्ध क्यों हैं, कम या ज्यादा क्यों नहीं? आठ का नियम कैसे बनाया है?

---

1. उत्तरपुराण, पर्व 67, श्लोक 262-263, पृष्ठ 262।
2. आचार्य रत्ननंदी, भद्रबाहु चरित्र, अध्याय-2, श्लोक 6
3. श्रुतावतार, श्लोक 85-86

उसका **उत्तर –** उक्त प्रश्न का पहला उत्तर यह है कि ये आठ निमित्त अनादि से प्रसिद्ध हैं, आगम में उल्लिखित हैं। रूढ़ि से चले आ रहे हैं। दूसरा उत्तर यह है कि सुख-दुखादि से संबंधित ये आठ निमित्त हैं। तीसरा उत्तर यह है क इन आठ में शेष निमित्तों का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि उक्त आठ नाम सामान्य संज्ञायें हैं।

निमित्त अनेक और अनेक प्रकार के होते हैं। उनमें आठ प्रसिद्ध हैं। इसलिए इस ऋद्धि का दूसरा नाम अष्टांग महानिमित्तत्व-बुद्धि-ऋद्धि है। तथा इस ऋद्धि का तीसरा नाम नैमित्तिक-बुद्धि-ऋद्धि है। जैसा कि आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं –

णयमित्तिका य रिद्धी, णभभउमंगं सराइवेंजणयं ।
लक्खणचिण्हं सउणं, अट्ठवियप्पेहि वित्थरिदं ।।[1]

अर्थ – नैमित्तिक ऋद्धि नभ, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, चिह्न और स्वप्न – इन आठ भेदों से विस्तृत है।

इसके अलावा इनकी आठ संख्या का निश्चय धवलाकार, परमर्षिस्वस्तिमंगल पाठकार, वार्तिककार के शब्दों से होता है –

''णमो अट्ठंगमहाणिमित्तकुसलाणं।''[2]

अर्थ – अष्टांग महानिमित्तों में कुशल जिनों को नमस्कार हो।

''अष्टांगमहानिमित्तविज्ञाः।''[3]

अष्टौ महानिमित्तानि।[4]

आठ महानिमित्तों के नाम; इसप्रकार हैं –

(1) अंग महानिमित्त (2) स्वर महानिमित्त (3) व्यंजन महानिमित्त

---

1. तिलोयपण्णती, भाग-2, गाथा-1011 पृष्ठ-303
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-14, पृष्ठ-72,
3. परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक-4, पृष्ठ-77
4. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-560

(4) लक्षण महानिमित्त (5) छिन्न महानिमित्त (6) भौम महानिमित्त (7) स्वप्न महानिमित्त (8) अंतरिक्ष महानिमित्त।

धवलाकार के अनुसार –

''अंग–सर–वंजण–लक्खण–छिण्ण–भोम्म–सुमिणंत रिक्खाणि महाणिमित्ताणमट्ठ अंगाणि उत्तं च –

अंग सरो वंजण – लक्खणाणि छिण्णं च भौमं सुमिणंतरिक्खं।
एदे णिमित्तेहि य राहणिज्जा जाणंति लोयस्स सुहासुहाइं ।।19।।''[1]

अर्थ – अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अंतरिक्ष – ये महानिमित्तक आठ अंग हैं। कहा भी है –

अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न, भौम, स्वप्न और अंतरिक्ष – इन निमित्तों से आराधनीय ऋषि लोक (जन समुदाय) के शुभाशुभ को जानते हैं।

तीर्थंकर के पिता, अवधिज्ञानी, सामुद्रिकशास्त्र के ज्ञाता, शकुनशास्त्र के ज्ञाताओं को निमित्तज्ञान होता है, निमित्तज्ञान ऋद्धि नहीं होती है। यह ऋद्धि पूर्ण संयमियों को ही प्रकट होती है।

स्वप्न आदि के फल को तीर्थंकर के पिता, अवधिज्ञानी मुनि भी जानते हैं, शकुन–शास्त्र के ज्ञाता भी परपदार्थों के द्वारा शुभाशुभ को जानते हैं। परन्तु महानिमित्तत्व बुद्धि ऋद्धिवाले मुनि के निमित्त ज्ञान की विशेषता यह है कि वे त्रिकालवर्ती शुभाशुभ को सूक्ष्मता लिए हुए जानते हैं। त्रिकालवर्ती शुभाशुभ की सूक्ष्मता लिये हुए जानना ही महानिमित्तत्व–बुद्धि–ऋद्धि कहलाती है।

इन निमित्तों का और उससे होनेवाले ज्ञान का विशेष वर्णन द्वादशांग जिनवाणी के बारहवें अंग के दसवें विद्यानुवादपूर्व में है।

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–6, पुस्तक–9, पृष्ठ–72

अब प्रत्येक महानिमित्त के स्वरूप की चर्चा करते हैं –

(1) अंगगत महानिमित्त-ज्ञान-ऋद्धि

मनुष्यों और तिर्यंचों के स्वभाव, हाथ आदि के आकार, शरीर और शरीर के अवयवों के वर्ण, ऊँचा-नीचापना, रक्त आदि धातुओं – इन सबको यहाँ अंग कहा गया है। मनुष्य, तिर्यंचों के अंगादि को देखकर, जानकर उसके और उससे संबंधित अन्य के भी तीन काल विषयक शुभाशुभ को जानना अंगगत महानिमित्त ज्ञान-ऋद्धि कहलाती है।

धवलाकार के अनुसार इस महानिमित्त ज्ञान का स्वरूप इसप्रकार है –

''अंगगयमहाणिमित्तं णाम मणुस-तिरिक्खाणं सत्त-सहाव-वाद-पित्त-सेंभ-रस-रुधिर-मांस-मेदट्ठि-मज्ज-सुक्काणि सरीर-वण्ण-गंध-रस-फासणिण्णुण्णदाणि जोएदूण जीविद-मरण-सुह-दुक्ख-लाहालाह-पवासादिविसयावगमो।''[1]

अर्थ – मनुष्य और तिर्यंचों के सत्य-स्वभाव, वात, पित्त, कफ, रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र तथा शरीर के (निम्न, उन्नत) अवयव वर्ण, गंध, रस, स्पर्श को देखकर जीवन-मरण, सुख-दुख, लाभ-अलाभ और प्रवासादि विषयक ज्ञान अंगगत महानिमित्त है।

इसी से मिलता-जुलता कथन आचार्य यतिवृषभ का है –

वातादि-प्पयडीओ रुहिर-प्पहुदिस्सहाव सत्ताइं।
णिण्णणा उण्णयाणं अंगोवंगाण दंसणा पासा।।
णर-तिरियाणं दट्ठुं जं जाणइ दुक्ख-सोक्ख-मरणादिं।
कालत्तय-णिप्पण्णं अंगणिमित्तं पसिद्धं तु।।[2]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-72
2. तिलोयपण्णती, द्वितीय खण्ड, गाथा-1015-1016, पृष्ठ-304

अर्थ – जिससे मनुष्य और तिर्यंचों के निम्न और उन्नत अंग-उपांगों के दर्शन एवं स्पर्श से, वातादि तीन प्रकृतियों और रुधिरादि सात स्वभावों (धातुओं) को देखकर तीनों कालों में उत्पन्न होनेवाले सुख-दुख तथा मरणादि को जाना जाता है; वह अंगनिमित्त नाम से प्रसिद्ध है।

आचार्य अकलंक इसी को संक्षेप में इसप्रकार कहते हैं –

''अंग प्रत्यंग-दर्शनादिभिस्त्रिकालभाविसुखदु:खादि-विभावनमंगम्।''[1]

अर्थ – (मनुष्य और तिर्यंचों के) अंग-प्रत्यंगों के दर्शनादि के द्वारा त्रिकाल विषयक सुख-दुखादि को जानना अंग निमित्तक ज्ञान है।

इस ऋद्धि का सरल अर्थ यह है कि अंग आदि को देखकर या छूकर त्रिकालवर्ती सुख-दुखादि को जानना अंगनिमित्त ज्ञान कहलाता है।

(2) स्वरगत महानिमित्त-ज्ञान-ऋद्धि –

यहाँ स्वर का अर्थ आवाज, ध्वनि या शब्द है। मनुष्य और तिर्यंचों के शब्दों को सुनकर त्रिकाल-विषयक सुख-दुखादि को जानना स्वरगत महानिमित्त-ज्ञान-ऋद्धि कहलाती है।

शब्द अनेक प्रकार से उत्पन्न होते हैं। खुशी में उत्पन्न होनेवाला शब्द भिन्न प्रकार का होता है, दुख में उत्पन्न होनेवाला शब्द भिन्न प्रकार का होता है, इसीप्रकार और अन्य प्रकार के विभिन्न शब्द होते हैं, उन शब्दों को तथा उनकी विचित्रतादि को जानकर उसके द्वारा उस जीव के तथा उससे संबंधित जीवों के त्रिकाल के सुख-दुखादि को जानना स्वर महानिमित्त ज्ञान ऋद्धि कहलाती है।

धवलाकार के शब्दों में इस ऋद्धि का अर्थ इसप्रकार है –

''खर-पिंगलोलूव-वायस-सिव-सियाल-णर-णारीसरं

---

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ 561

सोऊण लाहालाह-सुखदुक्ख-जीविद-मरणादीणं अवगमो सरमहाणिमित्तं णाम''[1]

अर्थ – खर (गधा), पिंगल (नेवला, बंदर, सर्प विशेष), उल्लू, कौआ, शिवा (गीधड़ी) शृगाल (सियार), नर और नारियों के (विभिन्न प्रकार के) शब्दों को सुनकर लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मरण आदि को जानना स्वरमहानिमित्तक ज्ञान कहलाता है।

आचार्य यतिवृषभ भी इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हैं –

णरतिरियाण विचित्तं, सद्दं सोदूण दुक्ख-सोक्खादिं ।
कालत्तय-णिप्पण्णं, जं जाणइ तं सर-णिमित्तं ।।[2]

अर्थ – मनुष्यों और तिर्यंचों के विचित्र (विभिन्न प्रकार के) शब्दों को सुनकर कालत्रय में होनेवाले सुख-दुखादि को जाना जाता है, उसे स्वरनिमित्तिक ज्ञान कहा जाता है।

आचार्य अकलंक मनुष्य और तिर्यंच शब्दों का प्रयोग न करके अक्षर और अनक्षर शब्दों का प्रयोग करते हैं; क्योंकि मनुष्यों की शब्दरूप ध्वनि अक्षररूप होती है, जँभाई, डकार आदि की ध्वनि अनक्षररूप तथा तिर्यंचों की सभी ध्वनियाँ अनक्षररूप ही होती हैं। उनका भाव पूर्व आचार्यों के अनुसार ही है, उनके शब्द इसप्रकार हैं –

''अक्षरानक्षरशुभाशुभशब्दश्रवणेनेष्टानिष्टफलाविर्भवनं महानिमित्तं स्वरम्।''[3]

अर्थ – अक्षर, अनक्षररूप शुभाशुभ शब्दों को सुनकर इष्ट-अनिष्ट फलों को जानना स्वर महानिमित्तक ज्ञान कहलाता है।

इस ऋद्धि का अर्थ यह है कि स्वर अर्थात् शब्द अथवा ध्वनि को सुनकर त्रिकालवर्ती उस जीव के या उससे संबंधित जीव के सुख-दुख, लाभ-अलाभ, जन्म-मरण को जानना स्वर महानिमित्त ज्ञान कहलाता है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-72
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1017, पृष्ठ-304
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-561

(3) लक्षणगत महानिमित्त-ज्ञान-ऋद्धि

... जिणिंदो सहसट्ठ सुलक्खणेहिं संजुत्तो।[1]

अर्थ – जिनेन्द्र एक हजार आठ लक्षणों[2] से संयुक्त होते हैं।

विशेषार्थ – इन एक हजार आठ लक्षणों में श्रीवृक्ष आदि एक सौ आठ ही लक्षण होते हैं। तिल आदि नौ सौ व्यंजन होते हैं।

शरीर पर श्रीवृक्ष (कल्पवृक्ष) कमल, वज्र आदि चिह्नों को **लक्षण** कहते हैं। कमल आदि के चिह्न शरीर पर सहज होते हैं। तीर्थंकर के बालरूप शरीर पर जन्म से ही 108 लक्षण[3] और 900 व्यंजन होते हैं, व्यंजनों को लक्षणों में मिलाकर 1008 चिह्न होते हैं – ऐसा कहा जाता है। इन कमल आदि के चिह्नों को देखकर तीर्थंकरत्व, चक्रवर्तित्व आदि को जाना जाता है।

इसका अर्थ है कि सभी के सभी लक्षण नहीं होते हैं। राजा के शरीर पर भिन्न लक्षण, चक्रवर्ती के शरीर पर भिन्न लक्षण और तीर्थंकर के शरीर पर भिन्न लक्षण होते हैं। उनके स्थान, वर्ण आदि के आधार पर भी फल-भिन्नता होती है। जैसे चक्र का चिह्न हाथ पर हो तो भिन्न फल होता है। वही चिह्न पैर पर हो तो भिन्न फल होता है, माथे पर हो तो भिन्न फल होता है। छोटा हो तो भिन्न फल होता है, बड़ा हो तो भिन्न फल होता है। चक्र के आरों की भिन्न-भिन्न संख्या के अनुसार भी भिन्न-भिन्न फल होते हैं।

प्रायश्चित-वृतशुद्धिकारकइत्याद्यैर्लक्षणैर्दिव्यैरष्टोत्तरशतप्रमैः।
व्यंजनैः सकलैः सारैः परैर्नवशतान्तिकैः।।[4]

अर्थ – श्रीवृक्ष आदि 108 दिव्य लक्षणों से तथा तिल आदि 900 सर्वसार भूत, उत्कृष्ट व्यंजनों से वीर वर्धमान का शरीर अतिशयता से युक्त सुशोभित था।

---

1. आचार्य कुन्दकुन्द, दर्शनपाहुड़, गाथा-35
2. जन्म के दस अतिशयों में से एक अतिशय
3. वीरवर्द्धमानचरितम्, अधिकार-10, श्लोक-73
4. अष्टशतार्चितलक्षणगात्रम्..... शान्तिपाठ, श्लोक-1

भगवान महावीर के पैरों के चिह्नों को देखकर सामुद्रिक-शास्त्र को जाननेवाले को निश्चय हो गया था कि ऐसे चिह्न तो चक्रवर्ती के पाये जाते हैं, परन्तु यह व्यक्ति यदि चक्रवर्ती है तो जंगल में नंगे पैर क्यों चला? पता करना चाहिए – यह सोचकर उस सामुद्रिक-शास्त्र के ज्ञाता ने उन चिह्नों का अनुसरण किया और देखा कि वह व्यक्ति तो नग्न है, शरीर पर एक धागा भी नहीं है। उसने सोचा कि सामुद्रिक-शास्त्र झूठे हैं, उनको फेंक देना चाहिए। पास में खड़े एक व्यक्ति से उसने पूछा – ये कौन हैं? उस मनुष्य ने बताया – ये त्रिलोक के तारणहार हैं, चक्रवर्ती-इन्द्र आदि जिनके चरणों की धूलि को, दर्शन को तरसते हैं – ऐसे ये तीर्थंकर भगवान महावीर हैं। तब उस सामुद्रिक-शास्त्र के वेत्ता को विश्वास हुआ कि सामुद्रिक-शास्त्र झूठे नहीं हैं।[1]

इस उद्धरण से इतना स्पष्ट है कि चिह्नों से चक्रवर्ती आदि जाना जाता है। कमल आदि चिह्न या लक्षणों को देखकर उस व्यक्ति के या उसके संबंधित के चक्रवर्तित्व आदि को, त्रिकाल-विषयक सुख-दुखादि को जानना लक्षण निमित्तक ज्ञान ऋद्धि कहलाती है।

धवलाकार स्थान, संख्या और चिह्नों को बताते हुए इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार बताते हैं –

''सोत्थिय-णंदावत्त-सिरीवच्छ-संख-चक्कंकुस-चंद-सूर-रयणायरादिलक्खणाणि उर-ललाट-हत्थ-पादतलादिसु जहाकमेण अट्ठुत्तरसद-चउसट्ठी-बत्तीसं दट्ठूण तित्थयर-चक्क-वट्ठि-बलदेव-वासदेवत्ता वगमो लक्खणं णाम महाणिमित्तं।''[1]

अर्थ – उर (सीना), ललाट, हाथ, पाद-तल आदि में यथाक्रम से एक सौ आठ, चौंसठ, बत्तीस आदि (संख्यावाले) स्वस्तिक, नंद्यावर्त, श्रीवत्स, शंख, चक्र, अंकुश, चंद्र, सूर्य, रत्नाकर (समुद्र) आदि लक्षणों

1. आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, पर्व-76, श्लोक-13, पृष्ठ-529-530
नरलक्षणशास्त्रज्ञस्तेष्वेको वीक्ष्य तं मुनिम्। लक्षणान्यस्य साम्राज्यपदवीप्राप्तिहेतवः।।
अटत्येष एष च भिक्षायै शास्त्रोक्तं तन्मृषेत्यसौ। वदन्नभिहितोऽन्येन न मृषा शास्त्रभाषितम्।।
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-73

को देखकर तीर्थंकरत्व, चक्रवर्तित्व, बलदेवत्व, वासुदेवत्व आदि को जानना लक्षण महानिमित्तिक ज्ञान-ऋद्धि है।

तौ पंचदश चापोच्चौ द्वात्रिंशल्लक्षणान्वितौ।[1]

अर्थ - राम (बलदेव), लक्ष्मण (नारायण) - दोनों पंद्रह धनुष ऊँचे तथा बत्तीस लक्षणों से युक्त थे।

भोगभूमि के मनुष्य, स्त्रियों के शरीर बत्तीस लक्षणों वाले होते हैं -

देवी-देव-सरिच्छा, बत्तीस-पसत्थ लक्खणेहि जुदा।।[2]

तीर्थंकर के शरीर पर एक सौ आठ, चक्रवर्ती के शरीर पर चौंसठ तथा बलदेव, वासुदेव के शरीर पर बत्तीस-बत्तीस सुलक्षण होते हैं। इन स्वस्तिक आदि लक्षणों तथा उन लक्षणों की संख्या को देखकर तीर्थंकरत्व, बलदेवत्व, वासुदेवत्व का निर्णय होता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि ये लक्षण जन्म से ही शरीर पर होते हैं।

धवलाकार के अनुसार स्वस्तिक आदि चिह्नों को देखकर तीर्थंकरत्व आदि को जानना लक्षण महानिमित्तत्व ज्ञान है। इसके साथ इनमें उस जीव के या उससे संबंधित जीवों के त्रिकाल-विषयक सुख-दुख भी गर्भित हैं; क्योंकि इसप्रकार का अर्थ तिलोयपण्णत्तीकार के शब्दों से भी व्यक्त हो रहा है -

कर-चरण-तल-प्पहुदिसु पंकय-कुलिसादियाणि दट्ठूणं।
जं तिय-काल-सुहाइं लक्खइ ते लक्खण-निमित्तं।।[2]

अर्थ - हाथ के तलवे, पैर के तलवे आदि पर कमल, वज्र आदि चिह्नों को देखकर तीन काल में होनेवाले सुख आदि को जानना, वह लक्षण निमित्तक ज्ञान है।

सरल भाषा में आचार्य अकलंक इसी अर्थ को बताते हैं -

''श्रीवृक्ष-स्वस्तिक-भृंगार-कलशादिलक्षणात् त्रैकालिक-स्थानमानैश्वर्यादिविशेषज्ञानं लक्षणम् ।''[3]

1. आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण, पर्व 67, श्लोक-153
2. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ती, गाथा-386
3. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1019, पृष्ठ-304
4. तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ -561

अर्थ – श्रीवृक्ष (कल्पवृक्ष), स्वस्तिक, झारी, कलश आदि लक्षणों से त्रैकालिक पद, मान, ऐश्वर्य आदि के विशेष ज्ञान को लक्षण निमित्तक ज्ञान कहते हैं।

प्रश्न – तीर्थंकर के शरीर पर एक सौ आठ लक्षण और नौ सौ व्यंजन क्यों या किस हेतु से हैं?

उत्तर – तीर्थंकर आदि के शरीर पर सभी लक्षण और व्यंजन शुभ ही होते हैं। तीर्थंकर के शरीर के सौंदर्य की वृद्धि करने वाले होते हैं। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार वे लक्षण-व्यंजन पुण्यातिशय के द्योतक होते हैं।

आचार्य जिनसेन ने इसी तरह का भाव व्यक्त करते हुए कुछ लक्षणों को बताया है –

लक्षणानि बभुर्भर्तुर्देहमाश्रित्य निर्मलम्।
ज्योतिषामिव बिम्बानि मेरोर्मणिमयं तटम्।।35।।
विभुः कल्पतरुच्छायां बभाराभरणोज्ज्वलः।
शुभानि लक्षणान्यस्मिन् कुसुमानीव रेजिरे।।36।।
तानि श्रीवृक्षशंखाब्जस्वस्तिकांकुशतारणम्।
प्रकीर्णकसितच्छत्रसिंहविषटर – केतनम्।।37।।
झषौ कुम्भौ च कूर्मश्च चक्रमब्धिः सरोवरम्।
विमानभवने नागो नरनार्यौ मृगाधिपः।।38।।
बाणबाणासने मेरुः सुरराट् सुरनिम्नगा।
पुरं गोपुरमिन्द्वर्कौ जात्यश्वस्तालवृन्तकम्।।39।।
वेणुर्वीणा मृदङ्गश्च स्रजौ पट्टांशुकापणौ।
स्फुरन्ति कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि च।।40।।
उद्यानं फलितं क्षेत्रं सुपक्वफलमाञ्जितम्।
रत्नद्वीपश्च वज्रं च मही लक्ष्मीः सरस्वती।।41।।

---

1. अष्टशतार्चित लक्षणगात्रं, नौमि जिनोत्तममम्बुजनेत्रम्। शांतिपाठ, छंद 1
लखन एक सौ आठ विराजैं, निरखत नयन कमलद्वय लाजैं। शांतिपाठ, छंद 1

सुरभिः सौरभेयश्च चूडारत्नं महानिधिः।
कल्पवल्ली हिरण्यं च जम्बूवृक्षश्च पक्षिराट्।।42।।
उडूनि तारकाः सौधं ग्रहाः सिंद्धार्थपादपः।
प्रातिहार्याण्यहार्याणि मंगलान्यपराणि च।।43।।
लक्षणान्येवमादीनि विभोरष्टोत्तरशतम्।
व्यञ्जान्यपराण्यासन् शतानि नवसंख्यया।।44।।
अभिरामं वपुर्भर्तुर्लक्षणैरभिरूर्जितैः।
ज्यातिर्भिरिव संछन्नं गगनप्राङ्गणं बभौ।।45।।[1]

अर्थ – जिस प्रकार सुमेरु पर्वत के रत्नमय किनारों को पा करके ज्योतिषी देवों के मण्डल अधिका शोभायमान होने लगते हैं, उसी प्रकार भगवान के पवित्र शरीर को पा करके सामुद्रिक शास्त्र में कहे गए शुभ लक्षण अधिक शोभायमान होने लगे थे।।35।।

अथवा अनेक आभूषणों से उज्ज्वल वे भगवान कल्पवृक्ष की शोभा को धारण कर रहे थे और अनेक शुभ लक्षण उस शरीर रूपी कल्पवृक्ष पर कल्पवृक्ष के फूलों के समान सुशोभित हो रहे थे।।36।।

श्रीवृक्ष, शंख, कमल, स्वास्तिक, अंकुश, तोरण, चमर (चँवर), सफेद छत्र, सिंहासन, पताका।।37।।

दो मछलियाँ, दो कुम्भ (कलश), कछुआ, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, नर, नारी(याँ), सिंह।।38।।

बाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, देवगंगा (देवनदी), पुर (नगर), गोपुर, चंद्र, सूर्य, उत्तम घोड़ा, तालवृन्तक (पंखा)।।39।।

बांसुरी, वीणा, मृदंग, मालाएँ, रेशमी वस्त्र, दुकान, कुण्डल आदि अनेक प्रकार के आभूषण।।40।।

उपवन (बाग-बगीचे), पके हुए फल वाले वृक्षों से सुशोभित

---

1. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, पर्व-15, पृष्ठ 328

खेत, रत्नद्वीप (कुण्डलगिरि आदि द्वीप), वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती।।41।।

कामधेनू, वृषभ, चूडामणि, महानिधियाँ, कल्पलता, सुवर्ण, जम्बूवृक्ष, गरुड़।।42।।

नक्षत्र, तारे, राजमहल, मंगल आदि गृह, सिद्धार्थ वृक्ष, आठ प्रातिहार्य, आठ मंगल द्रव्य।।43।।

इन्हें आदि लेकर (इत्यादि) एक सौ आठ लक्षण तथा (मसूरिका आदि) नौ सौ व्यंजन भगवान के शरीर पर विद्यमान थे (होते हैं)।।44।।

इन मनोहर और श्रेष्ठ लक्षणों से व्याप्त भगवान का शरीर ज्योतिषी देवों के विमानों से भरे हुए आकाशरूपी आंगन की तरह शोभायमान हो रहा था (होता है)।।45।।

वास्तव में भगवान शरीर इतना सुंदर होता है कि उनके शरीर के सौंदर्य से वे लक्षण-व्यंजन सुशोभित होते हैं। शरीर से लक्षण-व्यंजनों की शोभा है, लक्षण-व्यंजनों से शरीर की शोभा नहीं जानना।

इस ऋद्धि का भाव यह है कि शरीर पर स्वस्तिक आदि चिह्न सहज ही होते हैं, उन चिह्नों को लक्षण कहते हैं, उन लक्षणों को जानकर उस जीव के या उससे संबंधित जीवों के त्रिकालविषयक तीर्थंकरत्व, नृपत्व आदि को, जीवन-मरण को, सुख-दुख को, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण आदि को जानना लक्षण महानिमित्तक बुद्धि ऋद्धि कहलाती है।

यहाँ **प्रश्न** – लक्षण और व्यंजन में क्या अंतर है?

उसका **उत्तर** – जो शरीर पर विशेष रूप से सुशोभित हों, शरीर के सौंदर्य में विशेष वृद्धि करें, वे लक्षण कहलाते हैं। जो तीर्थंकरत्व, चक्रवर्तित्व आदि के व्यंजक होते हैं, वे व्यंजन कहलाते हैं।

पुनः **प्रश्न** – एक ही प्रकार का स्वस्तिक आदि तीर्थंकर के हो और चक्रवर्ती के हो तो क्या दोनों के समान होते हैं?

उत्तर – नहीं, वे निश्चित ही समान नहीं होते हैं। आकार भले ही समान हो, परंतु सौंदर्य भिन्नताएँ होती हैं; क्योंकि प्रतिजीव पुण्य की भिन्नता होती है। तीर्थंकर परमात्मा के लक्षण व्यंजन त्रिलोक में सर्वोत्तम, सर्व सुंदर होते हैं। चक्रवर्ती आदि के वे लक्षण आदि उतने सुंदर नहीं होते हैं।

(4) व्यंजनगत महानिमित्त-ज्ञान ऋद्धि –

शरीर के तिल, मस्सा आदि को **व्यंजन** कहते हैं। शरीर पर तिल, मस्सा आदि सहज ही प्रकट होते हैं। इनके आकार छोटे-बड़े होते हैं। इनके वर्ण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इनके उत्पन्न होने के स्थान भी भिन्न-भिन्न होते हैं। संख्या भी भिन्न-भिन्न होती है। तिल, मस्सा आदि के आकारादि को देखकर त्रिकालवर्ती सुख-दुःखादि, नृपत्वादि को जानना व्यंजन महानिमित्त ज्ञान कहलाता है।

धवलाकार के अनुसार इसका स्वरूप इसप्रकार है –

''तिल-यागूण-मसादिं दट्ठूण तेसिमवगमो वंजण णाम महानिमित्तं।''[1]

अर्थ – तिल, याणूग, मस्सा आदि को देखकर उनके और उन जीवों के संबंधित जीवों के सुख-दुःखादि को जानना व्यंजन निमित्तक ज्ञान कहलाता है।

आचार्य यतिवृषभ भी इसीप्रकार का भाव अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं –

सिर-मुह-कंठ-प्पहुदिसु, तिल-मसय-प्पहुदिआइ दट्ठूणं।
जं तिय-काल-सुहाइं, जाणइ तं वेंजण-णिमित्तं।[2]

अर्थ – सिर, मुख और कण्ठ आदि पर तिल एवं मस्सा आदि को देखकर तीनों काल के सुख-दुखादि को जानना व्यंजन निमित्तक ज्ञान है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-4, पुस्तक-9, पृष्ठ-72-73
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1018, पृष्ठ-304

आचार्य अकलंक इसी को थोड़े-से विस्तार के साथ बताते हैं -

''शिरोमुख-ग्रीवादिषु तिलक-मशकलक्ष्मब्रह्मणादिवीक्षणेन त्रिकाल-हिताहितवेदनं व्यंजनम्।[1]

अर्थ - शिर, मुख, गर्दन आदि पर तिल, मशक लक्ष्य, ब्रह्मणादि को देखकर त्रिकाल-विषयक हिताहित के जानने को व्यंजन महानिमित्तक ज्ञान कहते हैं।

इस ऋद्धि का सरल-सा भाव यह है कि शरीर पर स्थित तिल, मस्से आदि को देखकर उस जीव के या उससे संबंधित जीवों के त्रिकाल विषयक सुख-दुखादि को जानना व्यंजन-महानिमित्तक बुद्धि-ऋद्धि कहलाती है।

(5) छिन्नगत महानिमित्त-ज्ञान-ऋद्धि -

छिन्न निमित्त के स्थान पर चिह्न निमित्त शब्द का प्रयोग आचार्य यतिवृषभ के द्वारा किया गया है। छिन्न शब्द का अर्थ छेद या कटना है। परन्तु यहाँ छिन्न शब्द का अर्थ छेद या कटना तो है ही; साथ ही छाया आदि की विपरीतता, हलचल, आकार आदि अर्थ भी गर्भित हैं।

वस्त्रादि के लकड़ी में फँसने से, चूहे आदि के काटने से छेद होते हैं, छेद छोटा या बड़ा होता है, वस्त्रादि पर के छेद के स्थान पर भी उसके फल का निर्धारण होता है। नगर या महल या देशादिक के चिह्नों को देखकर शुभाशुभ को जानना भी छिन्न निमित्त के ज्ञान के अन्तर्गत माना है।

धवलाकार के अनुसार छिन्नगत महानिमित्त ज्ञान-ऋद्धि, का स्वरूप इसप्रकार है -

''अंगछाया-विवज्जास-वत्थालंकारछेदं मणुव-तिरिक्खादीणं चेट्ठा-संठाणाणि दट्ठूण सुहासुहावगमी च्छिण्णं णाम महाणिमित्तं ।''[2]

---

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-561
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-73

अर्थ – शरीर की छाया की विपरीतता; वस्त्र अलंकार का छेद; मनुष्य व तिर्यंच आदि की चेष्टा व आकार को देखकर शुभाशुभ को जानना छिन्न महानिमित्त ज्ञान कहलाता है। धवलाकार के मत में (1) शरीर की छाया की विपरीतता, (2) वस्त्र अलंकार (आभूषण) में छेद तथा (3) मनुष्य, तिर्यंचों के आकार व हरकतें – ये तीनों अर्थ छिन्न के अन्तर्गत हैं। छिन्न का अर्थ मात्र छेद समझना उचित नहीं है।

छेद, छाया, आकार और हरकतों को देखकर त्रिकालवर्ती शुभाशुभ को जानना छिन्न-निमित्तक-ज्ञान है।

आचार्य यतिवृषभ छिन्न के स्थान पर चिह्न शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है –

सुर-दाणव-रक्खस-णर-तिरिएहिं छिण्ण-सत्थ-वत्थाणि।
पासाद-णयर-देसियाणि चिण्हाणि दट्ठूणं।।

कालत्तय संभूदं, सुहासुहं मरण-विविह-दव्वं च।
सुह-दुक्खाइं लक्खइ, चिण्ह-णिमित्तति तं जाणइ।।[1]

अर्थ – देव, दानव, राक्षस, मनुष्य और तिर्यंचों के द्वारा छेदे गये शस्त्र एवं वस्त्रादि को तथा प्रासाद, नगर और देशादिक चिह्नों को देखकर त्रिकाल में उत्पन्न होनेवाले शुभ-अशुभ को, मरण को, विविध प्रकार के द्रव्यों को और सुख-दुःख को जानना चिह्न निमित्त-ज्ञान है।

यतिवृषभ के अनुसार छेद वस्त्र, शस्त्रादि में होते हैं। वस्त्र, शस्त्रादि में जो छेद होते हैं, वे देव, दानव, राक्षस या मनुष्य के द्वारा किए हुए होते हैं। इसप्रकार के छेद के अलावा महल, शहर, देश के चिह्नों को देखकर त्रिकालवर्ती शुभ-अशुभ को जाना जाता है, उसे चिह्न निमित्तक ज्ञान कहते हैं।

---

1. तिलोयपण्णती, खण्ड-2, गाथा-1020, 1021, पृष्ठ-305

इस प्रकार के ज्ञान से न केवल शुभाशुभ बल्कि मरण को, धनादिक द्रव्यों को और सुख-दु:ख को जाना जाता है।

आचार्य अकलंक इसे छिन्न निमित्तक कहते हुये छिन्न शब्द का अर्थ मात्र छेद ही करते हैं -

''वस्त्र-शस्त्र-छत्रोपानदासनशयनादिशु देवमानुषराक्षसादि-विभागै: शस्त्रकण्टकमूषकादिकृत छेदनदंशनात् कालगय विषयक लाभालाभ सुखदु:खादिसूचनं छिन्नम्।''[1]

अर्थ - वस्त्र, शस्त्र, छत्र, आसन, बिस्तर आदि में देव, मनुष्य, राक्षस आदि के द्वारा या शस्त्र, काँटा, चूहे के द्वारा किए गए छेद को देखकर त्रिकाल विषयक लाभ-अलाभ, सुख-दु:खादि के सूचक ज्ञान को छिन्न निमित्त-ज्ञान कहते हैं।

आचार्य अकलंक के अनुसार छेद किये जानेवाले पदार्थ अनेक हैं और छेद करनेवाले देव, मनुष्य, राक्षस आदि भी अनेक हैं।

इस ऋद्धि का समग्र अर्थ यह है कि छाया की विपरीतता, मनुष्य-तिर्यंच के आकार व चेष्टा, महल आदि के चिह्न तथा शस्त्र-चूहा आदि के द्वारा किए गए छेद या छेदों को देखकर त्रिकाल-विषयक सुख-दु:ख, जन्म-मरण, लाभ-अलाभ, धनादिक द्रव्यों के जानने को चिह्न या छिन्न निमित्तक ज्ञान ऋद्धि कहते हैं।

(6) भौम-निमित्तक-ज्ञान-ऋद्धि -

इस नैमित्तिक ज्ञान में भूमि निमित्त है, इसलिए इस ज्ञान को भौम निमित्तिक ज्ञान कहते हैं।

भूमि (जमीन) अनेक रंगवाली, अनेक प्रकार के स्निग्ध, रुक्ष गुणवाली होती है। भूमि के वर्ण, गुणों को देखकर उसके भीतर स्थित धनादि

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-561

की स्थिति, हानि-वृद्धि को जानना, भूमि की स्थिति को देखकर जय-पराजय जानना भी भौम निमित्तक ज्ञान है, इसके अलावा गाँव, घर आदि की सम्पन्नता-विपन्नता को जानना इस ऋद्धि का विषय है। तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार दिशाओं में स्थित सेना की स्थिति देखकर उनकी जय-पराजय को जानना भौम निमित्तक ज्ञान है। धवलाकार के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार है -

''भूमिगयलक्खणाणि दट्ठूण गाम-णयर-खेड-कव्वड-घरारामादीणं वुड्ढि-हाणिपदुप्पायणं भोम्मं णाम महाणिमित्तं ।।''[1]

अर्थ - भूमिगत लक्षणों को देखकर ग्राम, नगर, खेडा, कर्वट, घर, बगीचे आदि की वृद्धि-हानि को जानना भौम महानिमित्तक ज्ञान है।

तिलोयपण्णत्तीकार स्वर्ण आदि धातुओं की वृद्धि-हानि तथा सेना की जय-पराजय संबंधी ज्ञान को जोड़ते हुए इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार बताते हैं -

घण-सुसिर-णिद्ध-लक्ख-प्पहुदि-गुणे भाविदूण भूमीए।
जं जाणइ खय-वड्ढिं तम्मयस-कणय-रजत-पमुहाणं ।।
दस विदिस अंतरेसुं, चउरंग-बलं ठिदंच दट्ठूणं।
जं जाणइ जयमंजयं, तं भउम-णिमित्तमुद्दिट्ठं।।[2]

अर्थ - पृथ्वी की घनता, सुविश्ता (पोलापन), स्निग्धता और रुक्षता आदि गुणों को जानकर जो तांबा, लोहा, स्वर्ण व चाँदी आदि धातुओं की हानि-वृद्धि को तथा दिशा-विदिशाओं के अंतरालों में स्थित चतुरंग बल को देखकर जय-पराजय को जानना भौम-निमित्तक-ज्ञान है।

लगभग इसीप्रकार का अर्थ आचार्य अकलंक भी बताते हैं -

''भुवो घन-शुषिर-स्निग्ध-रूक्षादिविभावनेन पूर्वादि-

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-73
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1013-1014, पृष्ठ-303

दिक्-सूत्र-निवासेन वा वृद्धि-हानि-जय-पराजयादिविज्ञानं भूमेरन्तर्निहितसुवर्ण-रजतादि संसूचनं च भौमम्।''[1]

अर्थ – पृथ्वी की घनता, पोलापन, स्निग्धता आदि के द्वारा भूमि में निहित स्वर्ण, चाँदी आदि का ज्ञान तथा पूर्वादि दिशाओं के अंतराल में विद्यमान सेना को देखकर उनकी हार-जीत को जानना, भौम-निमित्तक ज्ञान है।

उक्त वीतरागता उपासक आचार्यों का समग्र आशय इस ऋद्धि के संबंध में इसप्रकार है –

धरती के वर्ण, स्निग्धता-रुक्षता, घनता-पोलापन को देखकर उसमें स्थित स्वर्ण आदि धातुओं को, उन धातुओं की हानि-वृद्धि को, गाँव, गृह आदि की सम्पन्नता-विपन्नता आदि तथा दिशाओं के अंतराल में स्थित सेनाओं को देखकर उनकी हार-जीत को जानना भौम-महानिमित्तक-ज्ञान ऋद्धि कहलाती है।

7. स्वप्न-निमित्तक-ज्ञान-ऋद्धि –

स्वस्थ व्यक्ति के द्वारा रात्रि के अंतिम प्रहर में देखे गए स्वप्नों का फल ही स्वप्न-शास्त्र में विचारणीय होता है। जैसे निदान (फल की इच्छा) तो सभी पापी करते हैं, परन्तु मुनियों के निदान ही फलदायी, विचारणीय होते हैं, वैसे दुराग्रह से रहित स्वस्थ व्यक्ति के द्वारा रात्रि के अंतिम प्रहर में देखे गये स्वप्न ही फलदायी विचारणीय होते हैं।

स्वप्न में देखे गए पदार्थों और घटनाओं के द्वारा उनके फल को जानना स्वप्न निमित्तक-ज्ञान-ऋद्धि कहलाती है।

तीर्थंकर की माता के सोलह स्वप्न और उनके फल तीर्थंकर के पिता के द्वारा बताया जाना पंचकल्याणक के अवसर पर दिखाया जाता है, जो जैन-समाज में प्रसिद्ध भी है।

---

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-560-561

महापुराण में स्वयंबुद्ध[1] मंत्री का एवं श्रेयांस[2] राजा का स्वप्न प्रसिद्ध है।

स्वप्न, शगुन दोनों ही आगामी घटनाओं के सूचक होते हैं।

स्वप्न दो प्रकार के होते हैं – (1) छिन्न स्वप्न और (2) माला स्वप्न। परस्पर संबंध से रहित स्वप्नों को **छिन्न स्वप्न** कहते हैं तथा परस्पर संबंध रखनेवाले स्वप्नों को **माला स्वप्न** कहते हैं। तीर्थंकर की जननी के द्वारा देखे जानेवाले स्वप्नों का परस्पर संबंध नहीं होता है, इसलिए वे स्वप्न छिन्न स्वप्न होते हैं। महापुराण में मंत्री के द्वारा देखा गया स्वप्न, स्वप्न की घटनाएँ परस्पर संबंध रखनेवाली होने से मंत्री का वह स्वप्न माला स्वप्न है।

- स्वप्न
  - शुभ
    - चिह्न
    - माला
  - अशुभ
    - चिह्न
    - माला

धवलाकार के अनुसार इस निमित्त का स्वरूप निम्न प्रकार से है –

''छिण्ण–माला–सुमिणाणं सरूवं दट्ठूणं भाविकज्जावगमो सुमिणा णाम महाणिमित्तं, तत्थ वसहमायंगसीहसायर चंदाइच्चजल कलिय कलस पउमाहिसेय–जलण–पउमायर–भवणविमाण–रयण–रासि–सीहासण–कीडंतमच्छ–पफुल्लदामजुवलाणं अणोण्णसंबंध विरहियाणं सुत्ततित्थयर मादूणं सोलसण्णं दंसणं छिण्णसुमिणओ णाम। पुव्वावरेण घडंताणं भावाणं सुमिणंतरेण दंसणं मालासुमिणओ णाम।''[3]

अर्थ – छिन्न स्वप्न और माला स्वप्न के स्वरूप को देखकर भावि कार्य को जानना स्वप्न नामक महानिमित्त ज्ञान है।

उनमें 1. ऐरावत हाथी, 2. शुभ्र बैल 3. सिंह, 4. लक्ष्मी का अभिषेक, 5. पुष्पमालाओं का युगल 6. चन्द्र, 7. सूर्य, 8. जल से परिपूर्ण

1. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, भाग–1, पर्व–5, श्लोक–213 से 217
2. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, भाग–1, पर्व–20, श्लोक–33, पृष्ठ–448
3. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–91, पुस्तक–9, पृष्ठ–73–74

कलश, 9. क्रीड़ा करती हुई मछलियों का युगल10. तालाब, 11. समुद्र, 12. सिंहासन, 13. विमान, 14. धरणेन्द्र भवन, 15. रत्नराशि और 16. निर्धूम अग्नि – इन परस्पर संबंध से रहित सोलह स्वप्नों को सोती हुई तीर्थंकर की जननी को जो दर्शन (स्वप्न) होता है, वह छिन्न स्वप्न है।

पूर्वापर के संबंध से रहनेवाले (रखनेवाले) भावों का स्वप्नांतर से देखना माला स्वप्न है।

महापुराण के अनुसार इन स्वप्नों के नाम इसप्रकार हैं – 1. ऐरावत हाथी, 2. शुभ्र बैल, 3. शुभ्र सिंह, 4. कमलवासिनी लक्ष्मी, 5. दो पुष्प मालाएँ, 6. तारायुक्त चन्द्र, 7. उगता सूर्य, 8. दो स्वर्ण कलश, 9. दो मछलियाँ, 10. सरोवर, 11. समुद्र, 12. सिंहासन, 13. देवविमान 14. धरणेन्द्र भवन, 15. रत्नराशि, 16. निर्धूम अग्नि।[1]

आचार्य यतिवृषभ विस्तार से वर्णन करते हुए लिखते हैं –

वातादिदोस–चत्तो, पच्छिमरत्ते मयंक रवि पहुदिं ।
णिय मुख कमल पविट्ठं, देक्खइ सउणाम्मि सुहसउणं ।।
घड–तेल्लब्भंगादि रासह करभादिएसु आरोहं ।
परदेसगमण–सव्वं जं देक्खइ असुह–सउणं तं।।

जं भासइ दुक्ख–सुह–प्पमुंह कालत्तए वि संज्ञादं।
तं चिय सउण–णिमित्तं चिण्हामालो त्ति दो भेदं।।
करि–केसरि–पहुदीणं दंसण–मेत्तादि चिण्ह सउणंतं।
पुव्वावर–संबंध सउणं तं माल–सउणो त्ति।।[2]

अर्थ – वात आदि दोषों से रहित व्यक्ति पिछली रात्रि में यदि अपने मुख–कमल में प्रवेश करते हुए चन्द्र–सूर्य आदि शुभ स्वप्नों को देखे तथा घी–तेल आदि की मालिश, गधे–ऊँट आदि की सवारी और विदेश–गमन

---

1. महापुराण, पर्व–12, पृष्ठ 260
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1022–1025, पृष्ठ–305–306

आदि अशुभ स्वप्नों को देखे तो उसके फल के रूप में तीनों कालों के सुख-दुख आदि को जानना स्वप्न निमित्तक-ज्ञान-ऋद्धि है।

आचार्य अकलंक भी इसीप्रकार का अर्थ बताते हुए लिखा है कि

"वात-पित्त-श्लेष्म-दीपोदय-रहितस्य पश्चिमरात्रि भागे चन्द्र-सूर्य-धराद्रि समुद्रमुखप्रवेशसकलमहीमण्डलोपगूहनादि-शुभघृततैलाक्तात्मीयदेहखरकरभारूढापाग्दिग्गमनाद्यशुभस्वप्न-दर्शनादागामि-जीवित-मरण-सुख-दुःखाद्याविर्भावकः स्वप्नः।"[1]

अर्थ - वात, पित्त, कफ, दीपोदय रहित व्यक्ति के मुख में रात के पिछले भाग (अंतिम प्रहर) में चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत, समुद्र का प्रवेश करते हुए दिखना तथा सम्पूर्ण पृथ्वी का आलिंगन करते हुए दिखना - ये शुभ स्वप्न हैं तथा घी, तेल आदि से शरीर की मालिश; गधे, ऊँट की सवारी करते हुए पश्चिम दिशा में गमन करते हुए दिखना अशुभ स्वप्न हैं।

इन शुभ-अशुभ स्वप्नों के द्वारा भावि काल में होनेवाले जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि को जानना स्वप्न नाम का निमित्त-ज्ञान (ऋद्धि) है।

इस ऋद्धि का सारांश यह है कि नीरोग व्यक्ति के द्वारा देखे गए स्वप्नों का ही फल होता है या वही स्वप्न विचारणीय होता है, तथा फलदायी, विचारणीय स्वप्न रात्रि के अंतिम प्रहर में देखे हुए होते हैं। स्वप्न शुभ फल वाले तथा अशुभ फलवाले होते हैं। स्वप्न में चन्द्र, सूर्य आदि का दिखना शुभ फलवाला स्वप्न होने से शुभ स्वप्न होता है। स्वप्न में तेल, घी की मालिश व गधे की सवारी करते हुए पश्चिम दिशा की ओर जाते हुए दिखना इत्यादि अशुभ फलवाले स्वप्न अशुभ स्वप्न होते हैं।

जिनागम में स्वप्नों के संबंध में इसप्रकार का वर्णन आता है कि तीर्थंकर की माता को सोलह स्वप्न दिखते हैं, चक्रवर्ती की माता को छह स्वप्न दिखते हैं।

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-561

अथान्यदा महादेवी सौधे सुप्ता यशस्वति।
स्वप्नेऽपश्यन्महीं ग्रस्तां मेरुं सूर्यं च सोडुपम्।।100।।
सरः सहंसमब्धिं च चलद्वीचिकमैक्षत।
स्वप्नान्ते च व्यबुदध्यासौ पठन् मागधनिःस्वनैः।।101।।[1]

अर्थ – 1. सुमेरु 2. सूर्य 3. चंद्र 4. सरोवर 5. पृथ्वी 6. लहराते समुद्र को भरत चक्रवर्ती की माता यशस्वती ने छह स्वप्नों में उक्त छह को देखा।

तथा नारायण की माता को सात स्वप्न दिखते हैं, जब वे जीव गर्भ में आनेवाले होते हैं –

सरः सूर्येन्दुकलम–क्षेत्रसिंहान् महाफलान्।
स्वप्नान्सन्दर्श्य माघस्य शुक्लपक्षादिमे दिने।।[2]

अर्थ – लक्ष्मण नारायण की माता ने 5 स्वप्न देखे थे, जिसमें उन्होंने 1. सरोवर 2. सूर्य 3. चंद्र 4. धान का खेत 5. सिंह को देखा।

मतभिन्नता से नारायण की माता का 5 स्वप्नों को देखना माना जाना चाहिए।

प्रदीप्तमुद्यन्तमिनं तमोऽन्तं समंच कान्तं शशिनं प्रपूर्णम्।
श्रियं सदिग्नागमहाभिषेकं विमानमाकाशतलान्नमच्च।।
ज्वलद्बृहज्ज्वालहुताशमुच्चैः सुरध्वजं रत्नमरीचिचक्रम्।
मृगाधिपं चाननमाविशन्तं निशम्य सौम्या बुबुधे सकम्पा।।[3]

अर्थ – तदनन्तर एक दिन देवकी चंद्रमा के समान सफेद भवन में प्रातःकाल के समान सुंदर शय्या पर शयन कर रही थी कि उसने रात्रि के अंतिम प्रहर में अभ्युदय को सूचित करनेवाले सात स्वप्न देखे – 1. अंधकार को नष्ट करनेवाला उगता सूर्य, 2. सुंदर पूर्ण चंद्र, 3. हाथियों

---

1. महापुराण, पर्व–15, पृष्ठ–334
2. उत्तरपुराण, सर्ग–67, श्लोक–151
3. हरिवंशपुराण, सर्ग–53, श्लोक 12–13, पृष्ठ–449

से अभिषिक्त लक्ष्मी, 4. नीचे आता विमान, 5. ज्वालामय अग्नि, 6. किरणों से युक्त ध्वजा, 7. मुख में प्रवेश करता सिंह।

नारायण कृष्ण की माता देवकी ने स्वप्न में - 1. उगता सूर्य 2. पूर्ण चंद्रमा 3. दिग्गजों से अभिषिक्त लक्ष्मी 4. देव विमान 5. ज्वाला युक्त अग्नि 6. देवों की रत्नमय ध्वजा 7. मुख में प्रवेश करता सिंह - ये सात पदार्थ देखे थे।

(8) अंतरिक्ष महानिमित्त-ज्ञान-ऋद्धि -

अंतरिक्ष निमित्तक ज्ञान ऋद्धि का दूसरा नाम नभ निमित्तक ऋद्धि है। अंतरिक्ष को बोलचाल की भाषा में आकाश कहते हैं। नभ शब्द आकाश का पर्यायवाची शब्द है, इसलिए इसका दूसरा नाम तिलोयपण्णत्ती में नभ निमित्तक है।

आकाश में चन्द्र, सूर्य, ग्रहों के उदय और अस्त को देखकर; गृह, चमकती हुई बिजली, इन्द्रधनुष, चन्द्र-सूर्य के पास गोल घेराकार मण्डल, उनके वर्ण, बिम्बभेद आदि को देखकर शुभाशुभ को जानना अंतरिक्ष निमित्तक ज्ञान है।

यह ज्ञान (ऋद्धि) ज्योतिषी देवों के विमानों से विशेष संबंधित है। यहाँ चन्द्र, सूर्य, ग्रहों का आशय उनके विमानों से है। इसके अलावा यहाँ आकाशीय ऊर्ध्व-प्रदेश में घटनेवाली घटनाओं से यह (ज्ञान) संबंधित है, क्योंकि बिजली का कड़कना, इन्द्रधनुष का संबंध आकाशीय ऊर्ध्व प्रदेश में ही होता है।

धवलाकार के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है -

''चंदाइच्चगहाणमुदयत्थवण-जय पराजय-गहघट्टण-विज्जुचडकिंदाउह-चंदाइच्च-परिवेसुवराग-बिंबभेयादिं दट्ठूण सुहासुहावगो अंतरिक्ख णाम महाणिमित्तं।''[1]

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, पुस्तक-9, पृष्ठ-74

अर्थ – चन्द्र, सूर्य, ग्रहों के उगने व अस्त होने; इनकी स्थिति से जय-पराजय; ग्रहण; बिजली के कड़कने; इन्द्रधनुष दिखने; चन्द्र-सूर्य के चारों ओर के घेरे को देखने; उनके वर्ण एवं बिम्बभेद को देखने पर उनके आधार से शुभ या अशुभ को जानना अंतरिक्ष नाम का महानिमित्त ज्ञान है।

तिलोयपण्णत्तीकार आचार्य यतिवृषभ के अनुसार इस ऋद्धि का सामान्य स्वरूप इसप्रकार है –

रवि-ससि-गह-पहुदीणं, उदयत्थमणादिआइं दट्ठूणं।
कालत्तय-दुक्ख-सुहं, जं जाणइ तं णह-णिमित्तं ।।[1]

अर्थ – सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि के उदय व अस्त आदि को देखकर त्रिकालविषयक सुख-दु:खादि को जानना नभ निमित्तक ज्ञान है।

आचार्य अकलंक भी इसीप्रकार थोड़े से विस्तार के साथ इस ऋद्धि का स्वरूप बताते हैं –

''रविशशिग्रह-नक्षत्र-भगणोदयास्तमयादिभिरतीतानागत-फल प्रविभाग प्रदर्शनमंतरिक्षम्।''[2]

अर्थ – सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं के उदय व अस्त आदि के द्वारा भूतकाल व भविष्यकाल के फल को भिन्न-भिन्न जान लेना अंतरिक्ष निमित्तक ज्ञान है।

इस ऋद्धि का सरलार्थ यह है कि चंद्रादि ज्योतिषी देवों के उदय को, अस्त को, उनके वर्ण को, ग्रहण को, उनके चारों ओर के घेरे को, इन्द्रधनुष को तथा बिजली के कड़कने को देखकर त्रिकाल-विषयक शुभ-अशुभ को जानना अंतरिक्ष निमित्तक ज्ञान है।

शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि आचार्य भद्रबाहु[3] ने 60 दिन के बालक के

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1012, पृष्ठ-303
2. तत्त्वार्थवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-560
3. रत्ननन्दी, भद्रबाहुचरित, अध्याय 2, श्लोक 61, पृष्ठ-129

वचनों के निमित्त से बारह वर्ष के अकाल की घोषणा की थी। विष्णुकुमार मुनि के गुरु सागरचन्द्र आचार्य ने अर्धरात्रि के समय श्रवण नक्षत्र (ज्योतिषी देव विमान) को कम्पायमान देखकर हस्तिनापुर में अकंपनाचार्य सहित सात सौ मुनियों के उपसर्ग को जाना था।[1]

संघ में स्थित निर्यापक मुनि अंतरिक्ष निमित्तक ज्ञान के द्वारा संघ की यात्रा की दिशा आदि का निर्णय करते हैं।

उक्त आठ महानिमित्तों के ज्ञान का वर्णन करके अंत में धवलाकार लिखते हैं कि –

''एदेसु अट्ठंगमहाणिमित्तेसु कुसलाणं जिणाणं णमो इदि उत्तं होदि।''[2]

अर्थ – इन आठ अंग (भेद) वाले महानिमित्तों के ज्ञान में कुशल जिनों को नमस्कार हो – यह सूत्र[3] का अभिप्राय है।

और आचार्य उक्त आठ महानिमित्तों का ज्ञान कराकर अंत में लिखते हैं कि –

''एतेषु महानिमित्तेषु कौशलमष्टांगमहानिमित्तज्ञता।''[4]

अर्थ – इन आठ महानिमित्तों के ज्ञान में कुशलता ही, 'अष्टांगमहानिमित्तज्ञता' है अथवा अष्टांगमहानिमित्त बुद्धिऋद्धि है।

यह बुद्धि ऋद्धि ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय कर्मों के विशेष क्षयोपशम से प्रकट होती है।

इस प्रकार अठारह (18) बुद्धि अर्थात् ज्ञान से संबंधित ऋद्धियों का वर्णन पूरा हुआ। इसके बाद चारित्र या शरीर से संबंधित ऋद्धियों का वर्णन शुरू होगा, उससे पहले धवला टीका में शिष्य आचार्य से प्रश्न करता है कि

---

1. हरिवंशपुराण, सर्ग-20, श्लोक-25-26, पृष्ठ-299-300
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-74
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-14, पृष्ठ-72
4. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-561

आपने इस नमस्कार के क्रम में ज्ञान से विशिष्ट जिनों को पहले नमस्कार किया है, चारित्र से विशिष्ट जिनों को बाद में नमस्कार किया है, ऐसा किस कारण से किया है, जबकि चारित्र के बिना मोक्ष नहीं है, इसलिए चारित्र से विशिष्ट जिनों को पहले नमस्कार करना चाहिए था।

शिष्य की जिज्ञासा का समाधान करते हुए आचार्य वीरसेन कहते हैं कि चारित्र से ज्ञान श्रेष्ठ है, इसलिए चारित्रवन्त जिनों से पहले ज्ञान से विशिष्ट जिनों को पहले नमस्कार किया है, तत्पश्चात् चारित्र से विशिष्ट जिनों को नमस्कार किया है। यह बात सही है कि चारित्र के बिना सिद्धि नहीं है, परन्तु यह भी उतना ही सही कथन है कि ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता है। वीरसेन स्वामी के मूल शब्द निम्न प्रकार से हैं –

प्रश्न – णाणं विसेसिदजिणाणं पूव्वमेवं णमोक्कारो किमट्ठं किदो?

उत्तर – चारित्तदो णाणस्स पहाणत्तपदुपायणट्ठं।[1]

अर्थ – प्रश्न–ज्ञान–विशिष्ट जिनों को ही पहले नमस्कार क्यों किया?

उत्तर – चारित्र की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता बतलाने के लिए ज्ञान से विशिष्ट जिनों को ही पहले नमस्कार किया है।

पुन: **प्रश्न – कुतो तत्तो तस्स पहाणतं?**

उसका **उत्तर – णाणेण विणा चरणाणुववत्तीदो।**[2]

अर्थ – पुन: **प्रश्न** – ज्ञान की चारित्र से प्रधानता कैसे है?

उसका **उत्तर** – ज्ञान के बिना चारित्र की अनुत्पत्ति है। अर्थात् बिना सम्यग्ज्ञान के सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति ही नहीं होती है। चूँकि ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता है, इसलिए ज्ञान प्रधान है।

इस चर्चा के साथ बुद्धि ऋद्धियों का वर्णन पूर्ण हुआ।

****

1-2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-73

अध्याय-3

3. क्रिया-ऋद्धियाँ

णमो चारणाणं ।।[1]

चारण ऋद्धिधर जिनों को नमस्कार हो।

प्रश्न – क्रिया-ऋद्धि शब्द में क्रिया शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर – क्रिया एक सामान्य शब्द है। जिसका अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। सिद्धान्ततः प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय द्रव्यत्व-गुण के कारण अर्थवती क्रिया होती है, परन्तु जिनागम में जीव और पुद्‌गल दो द्रव्यों को क्रियाशील कहा है। वहाँ एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में गमन को क्रिया कहा है। जीवादि छह द्रव्यों में जीव और पुद्‌गल दो द्रव्य ऐसे हैं, जो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में आते-जाते हैं, शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये चार द्रव्य अवस्थित कहे हैं। इन चारों में क्षेत्र से क्षेत्रान्तर नहीं होता है। इसलिए उक्त चार द्रव्य क्रियाशील नहीं कहे हैं।

जीवों में शरीरधारी जीवों के ही क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होता है, शरीररहित सिद्धों के क्षेत्र से क्षेत्रान्तर नहीं होता है। सिद्ध लोकाकाश के अन्तिम भाग तनुवातवलय में शाश्वत स्थिर रहते हैं।

यहाँ प्रतिसमय के परिणमन को क्रिया नहीं कहा है, बल्कि क्षेत्र से क्षेत्रान्तर को क्रिया कहा है।

क्रिया शब्द सुनते ही घूमना-फिरना, उठना-बैठना, दौड़-भाग, खाना-पीना आदि अनेक गतिविधियाँ बुद्धि में घूमती हैं। परन्तु यहाँ सिर्फ चलने को ही क्रिया शब्द से कहा है, चूँकि यह क्रिया-ऋद्धि पुद्‌गल से

---

1. षट्‌खण्डागम, खण्ड-4, भाग-10, पुस्तक-9, सूत्र-17, पृष्ठ-78

संबंधित है, इसलिए यहाँ शरीर के द्वारा गमन को क्रिया शब्द से जानना।

परन्तु इतना ध्यान रखना कि शरीर के द्वारा गमन ऐसा हो, जो किसी अन्य जीव को पीड़ा नहीं पहुँचाये, बाधा उत्पन्न नहीं करे तथा असंभव की कल्पना से पूर्ण हो।

जैसे पानी पर चलना जलचारण-क्रिया-ऋद्धि कही है। इसमें किसी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचती, किसी को बाँधा भी नहीं होती, जल पर चलना असंभव की कल्पना से परिपूर्ण भी है, इसलिए पानी पर चलने को जलचारण ऋद्धि कहा है।

उक्त कथनों का आशय है कि क्रिया शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे - चलना, फिरना, आहार-विहार आदि। प्रत्येक द्रव्य प्रति समय क्रियाशील होता है। प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय क्रिया होती ही है। यह तो वस्तुसिद्धान्त है। शरीर के हलन-चलन आदि को भी क्रिया कहते हैं और जीव के परिणामों को क्रिया कहते हैं। क्रिया शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग जान कर यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि क्रिया-ऋद्धि में क्रिया शब्द का क्या अर्थ है?

उक्त जिज्ञासा का समाधान क्रिया-ऋद्धि के भेदों को जानने से हो जायेगा। क्रिया ऋद्धि के दो भेद हैं - (1) चारणत्व और (2) आकाशगामित्व।

इन दोनों में ही असमानजातीय पर्याय में शरीर की अतिशय युक्त विशेष क्रियाएँ बताई हैं। इसलिए इतना स्पष्ट होता है कि क्रिया-ऋद्धि में शरीर की विशिष्ट क्रिया को क्रियाऋद्धि कहा है। सभी शरीरधारियों के शरीर की क्रिया होती है, परन्तु शरीर की उन क्रियाओं को ऋद्धि नहीं कहते हैं, शरीर की विशेष प्रकार की क्रिया को ही क्रिया-ऋद्धि कहते हैं। शरीर की विशेष अर्थात् चलने (क्षेत्र से क्षेत्रांतर) की विशेष प्रकार की क्रिया को क्रिया-ऋद्धि कहा है। शरीर का क्षेत्र से क्षेत्रांतर अर्थात् होना सिद्धों, स्थावर जीवों को छोड़कर चारों गतियों के प्राय: सभी जीवों के होता है, उनके

चलने को क्रिया ऋद्धि नहीं कहते हैं। न पुद्गलों के क्षेत्र से क्षेत्रांतर को क्रिया-क्रिया कहते हैं। शरीर के द्वारा उस चलने को क्रिया-ऋद्धि कहते हैं, जिस चलने में किसी प्रकार की न तो जीव की हिंसा होती है या न ही जीवों को पीड़ा पहुँचती है, और जो असंभव की कल्पना से पूर्ण होता है। जैसे जल पर चलना असंभव की कल्पना से पूर्ण है तथा जल पर चलने पर न तो जलकायिक जीवों की हिंसा हो, न ही जलकायिक जीवों को किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचे, तब उस प्रकार की क्रिया को क्रिया-ऋद्धि कहते हैं या कहा है।

चलने पर जीवों की हिंसा न हो और जीवों को पीड़ा भी न पहुँचे, ऐसा तो सिर्फ मुनियों के ही, वह भी ऋद्धि के धारियों के ही संभव है, इसलिए क्रिया आदि ऋद्धियाँ सिर्फ मुनियों के ही होती हैं।

वैक्रियक शरीर के द्वारा देव और विद्या के द्वारा विद्याधर मनुष्य भी जलादि पर चल सकते हैं, परन्तु वहाँ उनके चलने में जलकायिकादिक जीवों की हिंसा न हो और जलकायिकादिक जीवों को पीड़ा न पहुँचे - यह असंभव है। उनके द्वारा जलादि पर चलने की क्रिया में जीव-हिंसा और जीव-पीड़ा होती ही है।

कोई पूछेगा कि ऐसे कैसे संभव है कि देव और विद्याधर जलादिक पर चले तो हिंसा हो और जीवों को पीड़ा भी पहुँचे तथा ऋद्धिधारी मुनि जलादिक पर चले तो जीवों की हिंसा न हो और जीवों को पीड़ा भी न पहुँचे?

उसका **समाधान** यह है कि देवों या विद्याधर-मनुष्यों के द्वारा जलादिक पर चलना सामान्य पुण्य का फल है, सामान्य पुण्य के उदय से होता है, मुनिवरों को क्रिया ऋद्धि विशिष्ट प्रकार के पुण्य के उदय से प्राप्त होती है, वह पुण्य तीन चौकड़ी कषाय के अभाव में प्रकट होता है। विशेष विशुद्धि के साथ उत्पन्न उस विशिष्ट पुण्यफल से शरीर के परमाणुओं में ऐसी विशेषता होती है कि उनके द्वारा जलादिक पर चलने पर जलकायिकादि

जीवों की न हिंसा होती है, न ही उनको किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचती है। ऐसा होना मुनि की विशुद्धि का प्रभाव है, मात्र पुण्य का फल नहीं है।

दूसरी बात यह कि देव और विद्याधर मनुष्य असंयमी होते हैं, मिथ्यादृष्टि हो सकते हैं। ऋद्धियाँ पूर्णसंयमी मुनियों के ही होती हैं। पूर्णसंयमी मुनि ऋद्धि के द्वारा जलादिक पर चलते हैं, तब वहाँ हिंसा और जीवों के पीड़ा का अभाव पाया जाता है। क्रिया-विषयक (या इसप्रकार की क्रिया आधारित) ऋद्धि दो प्रकार की है - अर्थात् इस क्रिया ऋद्धि के मूल भेद दो हैं -

''क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विविधा।''

''चारणत्वमाकाशगामित्वञ्च।[1]

इस ऋद्धि के मूलभेदों के नाम - (1) चारणत्व और (2) आकाशगामित्व हैं। तथा

''दुविहा किरिया रिद्धी णहयल-गामित्त चारणत्तेहिं।''[2]

प्रश्न - क्रिया ऋद्धि के मूल भेद दो है यह तो जाना। क्या इनके उत्तर भेद भी हैं, हैं तो कितने और कौन-से हैं ?

उत्तर - परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ[3] के अनुसार चारण ऋद्धि के आठ और एक आकाशगामित्व - इस प्रकार क्रिया ऋद्धि के उत्तरभेद नौ हैं।

तिलोयपण्णती में क्रिया-ऋद्धि के बारह नाम लिखकर यह ऋद्धि अनेक विकल्प (भेद) वाली है - ऐसा कहा है। अर्थात् आचार्य यतिवृषभ के अनुसार क्रिया-ऋद्धि के अनेक भेद हैं -

---

1. अकलंक, तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1042, पृष्ठ-310
3. परमर्षि स्वस्ति स्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक-5

अण्णे विविहा-भंगा, चारण-रिद्धीए भासिदा भेदा।
ताणं सरूवं कहणे, उवएसो अम्ह उच्छिण्णो।।[1]

अर्थ – विविध भंगों (भेदों) वाली चारण (क्रिया)ऋद्धि के अन्य भी भेद भासित होते हैं, परन्तु उनके स्वरूप का कथन करनेवाला उपदेश हमारे लिए नष्ट हो चुका है। राजवार्तिककार आचार्य अकलंक चारण ऋद्धि के सात नाम लिखकर आगे वे अनेक भेदवाली चारण ऋद्धि है – ऐसा लिखते हैं – **''तत्र चारणा अनेकविधा:।''**[2]

अर्थ – चारण ऋद्धिवाले अनेक प्रकार के हैं।

चारण शब्द का प्रयोग चारण ऋद्धि और चारण ऋषि दोनों अर्थों में हुआ है।

धवलाकार के अनुसार चारण (ऋषि) का अर्थ इसप्रकार है – **''चरणं चारित्तं संजमो पावकिरियाणिरोहो त्ति एयट्ठो, तम्हि कुसलो णिउणो चारणो।''**[3]

अर्थ – चरण, चारित्र, संयम और पापक्रिया-निरोध – ये सब एकार्थक शब्द हैं, इनमें जो कुशल अर्थात् निपुण है, वह चारण कहलाता है।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि चारण आदि ऋद्धियाँ चारित्र का फल हैं। चारित्र असंख्यात लोक प्रमाण प्रकार का होता है। इसलिए उसके फल में प्रकट होने वाली ऋद्धियाँ भी अनेक होती हैं। जैसे प्रत्येक आत्मा में शक्तियाँ अनन्तानन्त हैं, परन्तु समयसार आदि में 47 शक्तियों का ही वर्णन है। वैसे यहाँ ऋद्धियाँ असंख्यात होने पर भी 64 का वर्णन है। और चारण ऋद्धियों में आठ चारण ऋद्धियों का वर्णन किया है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1057, पृष्ठ-314
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-84
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-84

चारण ऋद्धियों के नाम –

चारण ऋद्धियों के नाम धवलाकार और परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठकार के एक जैसे ही हैं, सिर्फ एक नाम में अंतर है। 1. अम्बु (जल), 2. जंघा, 3. तंतु, 4. फल, 5. बीजांकुर, 6. पुष्प 7. श्रेणी – ये सात नाम दोनों में समान हैं। जिस एक नाम में अंतर है, वह यह है कि परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ में अग्निशिखा–चारण नाम है और धवला टीका में आकाशचारण नाम है।

अग्निशिखाचारण नाम परमर्षि स्वस्ति मंगल–पाठ में, तिलोयपण्णत्ती में, राजवार्तिक में और लगभग अन्य सभी शास्त्रों में भी पाया जाता है।

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ में चारण ऋद्धियों के नामवाला श्लोक इसप्रकार है –

जंघानलश्रेणिफलाम्बुतन्तु–प्रसूनबीजांकुर–चारणाह्वाः।
नमोऽङ्गणस्वैरविहारिणश्च स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।[1]

अर्थ – जंघाचारण अग्निचारण, श्रेणिचारण, फलचारण, जलचारण, तन्तुचारण, प्रसूनचारण, बीजांकुरचारण, नभरूपी आँगन में इच्छानुसार विहार करनेवाले (आकाशगामी) – परम ऋषि हमारा कल्याण करें।

धवला टीका में चारण ऋद्धियों के नामवाली पंक्ति और वहाँ उद्धृत श्लोक इसप्रकार है –

''जलजंघतंतुफलपुप्फवीयआगाससेडी–भेएण अट्ठविहा चारणा। उत्तं च –

जलजंघतंतुफलपुप्फवीयआगाससेडिगइकुसला ।
अट्ठविहचारणगणा पइरिक्कसुहं पविहरंति ।।21।।''[2]

---

1. परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक–5, पृष्ठ–78
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–78–79 पर उद्धृत गाथा

अर्थ – जल, जंघा, तंतु, फल, पुष्प, बीज, आकाश, श्रेणी के भेद से आठ प्रकार के चारण होते हैं।

कहा भी है – ''जल, जंघा, तंतु, फल, पुष्प, बीज, आकाश, श्रेणी का अवलम्बन करके गमन करने में कुशल ऐसे आठ प्रकार के चारणगण अत्यंत सुखपूर्वक विहार करते हैं।''

तिलोयपण्णत्ती में चारण ऋद्धि के बारह नाम बताकर ''आदि अनेक विकल्पों से चारण ऋद्धि अनेक प्रकार की है'' – इसप्रकार लिखा है, मूल गाथाएँ निम्न प्रकार से हैं –

जलजंघाफलपुप्फं, पत्तग्गिसिहाणधूममेघाणं।
धारामक्कडतंतू जोदी मरूदाणचारणा कमसो।।
''चारणरिद्धी बहुविह वियप्पसंदोह वित्थरिदा।''[1]

अर्थ – जल, जंघा, फल, पुष्प, पत्र, अग्निशिखा, धूम, मेघ, धारा, मकड़ी तंतू, ज्योति, मरुत् अर्थात् जलचारण, जंघाचारण, फलचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, अग्निशिखाचारण, धूमचारण, मेघचारण, धाराचारण, मकड़ी तंतुचारण, ज्योतिचारण, मरुच्चारण–इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प समूहों से विस्तार को प्राप्त चारण ऋद्धि (अनेक प्रकार की) है।

चारण ऋद्धि के भेदों के बारे में तिलोयपण्णत्ती में बारह नामों के बाद 'आदि अनेक विकल्पवाली है,' ऐसा बताया है, इसीप्रकार राजवार्तिक में चारण ऋद्धि के सात नाम लिखकर यह ऋद्धि आदि अनेक भेदवाली बतायी है –

''तत्र चारणा अनेकविधा: जलजङ्घातंतुपुष्पपत्रश्रेण्यग्नि–शिखाद्यालम्बनगमना: ।''[2]

अर्थ – चारण ऋद्धिवाले अनेक प्रकार के होते हैं, जल, जंघा,

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1043–1044, पृष्ठ–311
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय–3 सूत्र–36, पृष्ठ

तंतु, पुष्प, श्रेणी, अग्निशिखा आदि का अवलम्बन लेकर गमन करनेवालों के भेद से।

उक्त कथनों से स्पष्ट है कि चारण ऋद्धि अनेक प्रकार की है, परन्तु अभी तक यह स्पष्ट नहीं हुआ कि आचार्यों के मतों में भिन्नता क्यों है? नामों में भी भिन्नता क्यों है?

इस शंका के समाधान में धवलाकार कहते हैं – चारण ऋद्धि आठ प्रकार की ही है। चारणों की आठ संख्या का ही नियम है, शेष अन्य नामों वाली ऋद्धियों का अन्तर्भाव इन्हीं आठ ऋद्धियों में होता है। उनके मूल शब्द इसप्रकार हैं –

''कधं चारणाणं अट्ठसंखाणियमो''?

ण, इदरेसिं चारणाणमेत्थंतब्भावादो। तं जहा चिक्खल्ल-छारगोवरभुसादिचारणाणं जंघचारणेसु अंतब्भावो, भूमीदो चिक्खल्लादीणं कधंचि भेदाभावादो। कुथुद्देहीमक्कुण-पिपीलियादिचारणाणं फलचारणेसु अंतब्भावो, तसजीवपरिहरण-कुसलत्तं पडि भेदाभावादो। पत्तंकुरत्तणपवालादिचारणाणं पुप्फचारणेसु अंतब्भावो, हरिदकायपरिहरणकुसलत्तेण साहम्मादो। ओसकरवासधूमरीहिमादिचारणाणं जलचारणेसु अंतब्भावो, आउक्काइय जीवपरिहरणकुसलत्तं पडि साहम्मदंसणादो। धूमग्गिवादमेहादिचारणाणं तंतुसेडिचारणेसु अंतब्भावो, अणुलोम-विलोमगमणेसु जीवपीडाअकरणसत्तिसंजुत्तादो। एवमण्णेसिं पि चारणाणमेत्थमेव अंतब्भावो दट्ठव्वो।''[1]

अर्थ – शंका – चारणों की 8 संख्या का नियम कैसे बनता है?

समाधान – नहीं, ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। चारणों की आठ संख्या का ही नियम है, क्योंकि अन्य चारणों का इनमें अन्तर्भाव होने से

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-81

उक्त संख्या का नियम बन जाता है। वह इसप्रकार से है –

कीचड़, भस्म, गोबर और भूसे आदि पर से गमन करनेवालों का जंघाचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि भूमि से कीचड़ आदि में कथंचित् अभेद है। कुंथुजीव, उद्देहीजीव, मत्कुण और पिपीलिका आदि पर से संचार करनेवालों का फलचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनमें त्रस जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। पत्र, अंकुर, तृण और प्रवाल आदि पर से संचार करनेवालों का पुष्पचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि हरितकाय जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा इनमें समानता है। ओस, ओला, कुहरा और बर्फ आदि पर से गमन करनेवाले चारणों का जलचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनमें जलकायिक जीवों के परिहार की कुशलता के प्रति समानता देखी जाती है। धूम, अग्नि, वायु और मेघ आदि पर से संचार करनेवाले चारणों का तंतुश्रेणी चारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि वे अनुलोम-विलोम गमन करने में जीवों को पीड़ा न पहुँचाने की शक्ति से संयुक्त है।

इसप्रकार अन्य चारणों का भी इनमें ही अन्तर्भाव समझना चाहिए।

धवलाकार के कथन से नामों में भिन्नता का समाधान भी समझना चाहिए, क्योंकि जिस आचार्य को जैसा उपदेश प्राप्त हुआ, जैसा भासित हुआ, वैसा नाम लिख दिया है।

यहाँ एक बात और है कि चारित्र की विशिष्टता से चारण ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं। एक ही चारित्र से अनेक प्रकार की चारण-ऋद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ पर शंका उत्पन्न होती है कि एक चारित्र से अनेक चारण ऋद्धियाँ कैसे उत्पन्न होती हैं?

इसका समाधान करते हुए धवलाकार लिखते हैं कि वह चारित्र नाना प्रकार के परिणाम वाला होने से एक चारित्र से अनेक चारण-ऋद्धियों के उत्पन्न होने में कोई विरोध नहीं है।

धवलाकार द्वारा लिखा गया शंका-समाधान इसप्रकार है -

''कधमेगं चारित्तं विचित्तसत्तिसमुप्पाययं?

ण, परिणामभेएण णाणाभेदभिण्ण-चारित्तादो चारणबहुत्तं पडि विरोहाभावादो।''[1]

अर्थ - शंका - एक ही चारित्र इन विचित्र शक्तियों का उत्पादक कैसे हो सकता है?

समाधान - नहीं, (ऐसी शंका नहीं करें) क्योंकि परिणाम के भेद से नानाप्रकार का चारित्र होने के कारण चारणों के बहुत भेद होने में कोई विरोध नहीं है।

धवलाकार का यह कथन चारण-ऋद्धि के धारियों के भेदों के प्रसंग वाला है, न कि ऋद्धियों के भेदों के प्रसंगवाला। फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि चारित्र परिणाम अनेक प्रकार वाला होने से चारण ऋद्धि के अनेक भेदवाली होने में कोई विरोध नहीं है।

धवलाकार चारण-ऋद्धि के आठ भेद बताते हैं, वहीं वे चारण ऋद्धिधारियों के दो सौ पचपन (255) भंग बताते हैं। चारण ऋद्धिधारियों के दो सौ पचपन भंगों का आधार एकसंयोग, द्विसंयोग आदि है। अर्थात् धवलाकार के अनुसार किसी मुनि के उन आठ चारण ऋद्धियों में से कोई एक चारण ऋद्धि है तो वह एकसंयोगवाला चारण ऋद्धिधारी है, किसी मुनि के कोई दो चारण ऋद्धियाँ हैं, तो वह द्विसंयोगवाला चारण ऋद्धिधारी है।

इसप्रकार संयोगों के आधार पर चारण ऋद्धिधारियों के दो सौ पचपन भेद होते हैं। उनकी गणना निम्नप्रकार से है -

एक संयोगी ऋद्धिधारी के 8 भेद होते हैं, दो संयोगी ऋद्धिधारी के 28 भेद होते हैं, तीन संयोगी ऋद्धिधारी के 56 भेद होते हैं, चार संयोगी

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-80

ऋद्धिधारी के 70 भेद होते हैं, पाँच संयोगी ऋद्धिधारी के 56 भेद होते हैं, छह संयोगी ऋद्धिधारी के 28 भेद होते हैं, सात संयोगी ऋद्धिधारी के 8 भेद होते हैं, आठ संयोगी ऋद्धिधारी के 1 ही भेद होता है। इनका कुल योग - 255 (दो सौ पचपन) है।

धवलाकार के शब्द इसप्रकार हैं -

''चारणाणमेत्थ एगसंजोगादिकमेण वि-सद-पंच-वंचास भंगा उप्पाएदव्वा।''[1]

अर्थ - यहाँ चारण ऋद्धियों के एकसंयोग आदि संयोगों के क्रम से दो सौ पचपन भंग उत्पन्न करना चाहिए।

इसप्रकार धवलाकार के अनुसार चारण ऋद्धि के भेद आठ ही हैं और चारण ऋद्धिधारियों के दो सौ पचपन (255) भेद या भंग हैं। इससे यह स्पष्ट है कि किसी मुनिराज को कोई, किसी मुनिराज को कोई, किसी को एक या एकाधिक भिन्न-भिन्न प्रकार की चारण ऋद्धि या ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं।

परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ के अनुसार चारण-ऋद्धियाँ आठ और एक आकाशगामित्व - इसप्रकार क्रिया ऋद्धि के नौ भेद हैं।

क्रिया ऋद्धि का दूसरा नाम चारण ऋद्धि है। चारण ऋद्धि प्रथमानुयोग में बहुत प्रसिद्ध है। इस ऋद्धि के प्रभाव से चातुर्मास (चौमासे) में एक स्थान पर निवास करने का नियम लागू नहीं होता, इसका अर्थ यह हुआ कि चारण ऋद्धिधारी मुनि इस ऋद्धि के द्वारा चौमासे में भी अन्यत्र कहीं भी जा-आ सकते हैं, अपने नियत क्षेत्र से कहीं पर भी जा-आ सकते हैं।

प्रथमानुयोग में इसप्रकार की प्रसिद्ध कथा[2] है कि अर्हद्दत्त श्रद्धानी सेठ को ''चारण-ऋद्धि के द्वारा मुनिराज चौमासे में कहीं पर भी जा-आ

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-80
2. पद्मपुराण, पर्व-92, पृष्ठ 176-181

सकते हैं'' – इस नियम की जानकारी नहीं थी, जानकारी के अभाव के कारण उसने चौमासे में अन्य स्थान से आहार हेतु आये हुए सप्तर्षि मुनिराजों को आहार नहीं दिया था, परंतु उसकी पत्नी ने दिया था।

चारणरिसीसु चरिमो सुपासचंदाभिहाणो य।[1]

अर्थ – चारण ऋषियों में अंतिम चारण ऋषि सुपार्श्वचंद्र हुए।

यहाँ यह भी जानना जरूरी है कि देव और विद्याधर मनुष्य भी जमीन पर कदमों को रखे बिना आकाश में अधर में ही गमन करते हैं, पक्षी भी आकाश में उड़ते हैं, उनमें से किसी के भी चारण-ऋद्धि नहीं होती है। चारण ऋद्धि मात्र मुनिराज के ही पायी जाती है। विद्याधर मनुष्य विद्या के द्वारा, देव वैक्रियक शरीर के द्वारा, पक्षी पंखों के द्वारा आकाश मार्ग से गमन करते हैं।

चारण ऋद्धिधारियों में अंतिम ऋषि सुपार्श्वचंद्र हुए। जिनागम में कलिकाल सर्वज्ञ, प्रात: स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द का चारण-ऋद्धि के द्वारा सीमंधर भगवान के समवसरण में जाने की चर्चा बहुप्रसिद्ध है।

श्रवणबेलगोला के शिलालेख में आचार्य कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धि प्राप्त होने का प्रमाण भी मिलता है –

रजोभिरस्पृष्टतमत्त्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यंजयितुं यतीश:।
रज:पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलं स:।।[2]

अर्थ – वह (आचार्य कुन्दकुन्द) यतिश्रेष्ठ मानो अंतरंग मोह-राग-द्वेष रज (मल) से तथा बाह्य में धूल (भूमि) आदि का स्पर्शन न करते हुए भूमि से चार अंगुल ऊपर चार अंगुल भूमितल को छोड़कर चलते थे।

ऋद्धियों की सीमा होती है। ऋद्धियाँ सिद्धान्तों का उल्लंघन नहीं करती हैं। जैसे चारण ऋद्धि के द्वारा कहीं भी जाना-आना कहा है, परन्तु

---

1. तिलोयपण्णत्ती, गाथा-1491
2. श्रवणबेलगोल शिलालेख, संख्या-105

मनुष्य की गमन की सीमा मनुष्यलोक प्रमाण 45 लाख योजन ही है, मुनि भी मनुष्यगति के हैं, अत: ऋद्धि के द्वारा मुनिराज 45 लाख योजन वाले मनुष्यलोक के बाहर नहीं जा सकते हैं।

षट्खण्डागम में **''णमो चारणाणं।''**[1] सूत्र की व्याख्या में धवलाकार आठ ऋद्धियों का वर्णन करते हैं और **''णमो आकास-गामीणं।।''**[2] सूत्र की व्याख्या में एकमात्र आकाशगामित्व ऋद्धि का वर्णन करते हैं, इस प्रकार धवलाकार की व्याख्याओं से भी यही सिद्ध होता है कि क्रिया-ऋद्धि के नौ भेद हैं।

तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार और राजवार्तिककार के अनुसार क्रिया-ऋद्धि मूल में दो भेदवाली है, एक चारण तथा दूसरा भेद आकाशगामित्व जो एक ही प्रकार का है; परन्तु तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार चारणत्व बारह भेद के साथ अनेक प्रकार का है तथा वार्तिककार के अनुसार आठ भेद के साथ अनेक प्रकार का है।

अब क्रिया ऋद्धि के प्रत्येक प्रकार के स्वरूप का विचार करते हैं-

1. जंघा-चारण-ऋद्धि

पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा या पीड़ा पहुँचाये बिना पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर घुटनों को मोड़े बिना आकाश में सैकड़ों योजन गमन करने की शक्ति को जंघाचारण ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि के संबंध में धवलाकार वीरसेन स्वामी के शब्द इस प्रकार हैं -

''भूमीए पुढविकाइयजीवाणं बाहमकाऊण अणेगजोयण सयगामिणो जंघचारणा णाम।''[3]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-19, पृष्ठ-84
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-17, पृष्ठ-78
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-79-80

अर्थ – पृथ्वी पर पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा न पहुँचाकर अनेक सैकड़ों योजन गमन करनेवाले (ऋषि को) जंघाचारण (ऋषि) कहते हैं।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि धवलाकार के अनुसार जंघाचारण ऋषि पृथ्वी पर ही गमन करते हैं, उन के द्वारा जंघाचारण ऋद्धि के प्रभाव से पृथ्वीकायिक जीवों को किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती है। इस ऋद्धि के कारण उन्हें सैकड़ों योजन गमन करने की शक्ति प्राप्त होती है।

हमने चारण ऋद्धि के भेदों में पढ़ा था, उसमें धवलाकार ने चारण ऋद्धि के भेदों में एक आकाशचारण ऋद्धि को चारण ऋद्धि के भेदों में माना है, जबकि चारण ऋद्धियों के भेदों में आकाशचारण नाम न परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ में है, न तिलोयपण्णत्ती में है, न राजवार्तिक में है, न अन्य किसी शास्त्र में देखने में है। मात्र धवला टीका में चारण ऋद्धियों के भेदों में प्राप्त इस आकाशचारण ऋद्धि का स्वरूप धवलाकार के शब्दों में इसप्रकार है –

''चउहि अंगुलेहिंतो अहियपमाणेण भूमीदो उवरि आयासे गच्छता आगासचारणा णाम''[1]

अर्थ – चार अंगुलों से अधिक प्रमाण भूमि से ऊपर आकाश में गमन करनेवाले ऋषि आकाशचारण कहलाते हैं।

धवलाकार के शब्दों के अनुसार जंघाचारण और आकाशचारण इन दोनों ऋद्धियों में फर्क देखे तो यह है कि जंघाचारण ऋद्धि वह है, जिसके द्वारा पृथ्वी पर ही (पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा न पहुँचाकर सैकड़ों योजन) गमन करने की शक्ति है तथा आकाशचारण ऋद्धि वह है, जिसके द्वारा पृथ्वी से चार अंगुलों से अधिक ऊपर (आकाश में) गमन करने की शक्ति है।

आकाशचारण क्रिया ऋद्धि और आकाशगामी क्रिया ऋद्धि में क्या

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-80

अंतर है? इसका विचार आकाशगामी ऋद्धि के स्वरूप को जानने के बाद करेंगे।

अब जंघाचारण ऋद्धि के संबंध में आचार्य यति वृषभ के विचार जानते हैं –

चउरंगुलमेत्त–महिं छंडिय, गयणम्मि कुडिल जाणु विणा।
जं बहु जोयण गमणं, सा जंघाचारणा रिद्धी।।''[1]

अर्थ – चार अंगुल प्रमाण पृथ्वी को छोड़कर तथा घुटनों को मोड़े बिना जो बहुत योजनों तक आकाश में गमन है, वही जंघाचारण ऋद्धि है अर्थात् उसे जंघाचारण ऋद्धि कहते हैं।

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार जंघाचारण ऋद्धि वह है, जिसके द्वारा पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर तथा घुटनों को मोड़े बिना आकाश में बहुत योजनों तक गमन किया जाता है।

जंघा के बल पैंड भरि भूमिवत् आकाश में अंतरिक्ष चले जांइ, तिनि कों जंघाचारी कहिए तथा जलादि पैं पैंड भरिकैं चलैं जल के जीवनि की विराधना न होइ, यह उनकी ऋद्धि का अतिशय है।[2]

यहाँ **प्रश्न** हैं कि धवलाकार की आकाशचारण ऋद्धि और यतिवृषभ आचार्य की जंघाचारण ऋद्धि में क्या अंतर है? और धवलाकार की जंघा–चारण ऋद्धि और यतिवृषभ आचार्य की जंघाचारण ऋद्धि में क्या अंतर है?

उनके **उत्तर –** धवलाकार आकाशचारण ऋद्धि के वर्णन में स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि आकाशचारण ऋद्धि वह है, जिसके द्वारा पृथ्वी से चार अंगुल से अधिक ऊपर गमन किया जाता है, अर्थात् उनके अनुसार चार अंगुल से अधिक ऊपर से गमन करने की शक्ति आकाशचारण ऋद्धि है और तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार पृथ्वी से मात्र चार अंगुल ऊपर गमन

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1046, पृष्ठ–311
2. चर्चा–समाधान, पृष्ठ 54

करने की शक्ति जंघाचारण ऋद्धि है। अर्थात् यतिवृषभ के अनुसार भूमि से मात्र चार अंगुल ऊपर गमन जंघाचारण है, वहीं वीरसेन के अनुसार भूमि से चार अंगुल से अधिक गमन आकाश चारण है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि धवलाकार जंघाचारण ऋद्धि में कहते हैं कि जंघाचारण ऋद्धि से पृथ्वी पर ही गमन किया जाता है, उसमें पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा नहीं होती है तथा सैकड़ों योजन गमन करने की शक्ति प्राप्त होती है। जबकि आचार्य यतिवृषभ पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर सैकड़ों योजन गमन करने की शक्ति को जंघाचारण ऋद्धि कहते हैं।

दोनों वर्णनों में समानता यह है कि दोनों आचार्य सैकड़ों योजन गमन की शक्ति को जंघाचारण ऋद्धि मानते हैं। यतिवृषभ इतना विशेष कहते हैं कि वह गमन घुटनों को मोड़े बिना होता है।

दोनों आचार्यों के जंघाचारण ऋद्धि के विषय में अंतर यह है कि वीरसेन आचार्य पृथ्वी पर गमन को जंघाचारण ऋद्धि कहते हैं तथा यतिवृषभ आचार्य पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर गमन करने को जंघाचारण ऋद्धि कहते हैं।

यहाँ पुन: **प्रश्न** होता है कि जंघाचारण ऋद्धि के विषय में कौनसे आचार्य का कथन प्रामाणिक है?

उसका **उत्तर** – दोनों आचार्यों के कथन भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु दोनों ही प्रामाणिक हैं।

प्रश्न – दोनों भिन्न-भिन्न कथन प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं?

उत्तर – दोनों कथन भले ही भिन्न-भिन्न हो, परन्तु दोनों ही कथनों में सैकड़ों योजन गमन की बात कही है, दोनों ही कथनों में पृथ्वीकायिक जीवों को पीड़ा न पहुँचने की बात गर्भित है, इसलिए दोनों ही कथन प्रामाणिक हैं। जिनवचनों में बाह्य में अहिंसा और अंतरंग में शुद्धि की प्रधानता को सर्वोपरि माना है। इसलिए भी दोनों ही कथन प्रामाणिक हैं,

भले ही कथन भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु बाह्य में अहिंसा और अंतरंग में शुद्धि उक्त दोनों भिन्न-भिन्न कथनों में समान है।

जिस आचार्य को परम्परा से जैसा उपदेश प्राप्त हुआ है, वैसा लिख दिया, भावों में कोई घालमेल नहीं है। शेष तो सर्वज्ञ परमात्मा ने जैसा जाना, वैसा है। आप स्वयं भी विचार करें। इतना स्पष्ट है कि आचार्य वीरसेन के द्वारा वर्णित जंघाचारण ऋद्धि का, आकाशचारण ऋद्धि का और आचार्य यतिवृषभ के द्वारा वर्णित जंघाचारण ऋद्धि का स्वरूप परस्पर विचार करें तो भिन्न-भिन्न भासित होता है।

जंघाचारण ऋद्धि के विषय में आचार्य वीरसेन और आचार्य यतिवृषभ कथनों में भासित-भिन्नता पर विचार कर चुके हैं, अब इसी ऋद्धि के विषय में आचार्य अकलंक भी कुछ भिन्नता लिये हुए इसप्रकार कहते हैं -

''भुव उपर्याकाशे चतुरंगुलप्रमाणे जङ्घोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्र-करणपटवो बहुयोजनशताशुगमनप्रवणा जङ्घाचारणा:।''[1]

अर्थ - पृथ्वी से चार अंगुल प्रमाण ऊपर, आकाश में जंघा के उत्क्षेप (उठाने)-निक्षेप (रखने) को शीघ्र करने में चतुर और बहुत सैकड़ों योजन शीघ्र गमन करने में चतुर जंघाचारण ऋषि होते हैं।

पृथ्वी से चार अंगुल प्रमाण ऊपर आकाश में तथा सैकड़ों योजन गमन करने की समानता आचार्य यतिवृषभ और आचार्य अकलंक के कथनों में है, परन्तु आचार्य यतिवृषभ इस ऋद्धि के वर्णन में ''जंघा को मोड़े बिना'' गमन होता है ऐसा मानते हैं, वहीं आचार्य अकलंक इस ऋद्धि के वर्णन में जंघा को उठाने और रखनेवाला गमन कहते हैं।

दोनों आचार्यों के कथनों में अंतर है - एक आचार्य लिखते हैं कि इस ऋद्धि में जो गमन होता है, वह घुटनों को मोड़े बिना होता है, सो इससे इतना तो स्पष्ट है कि घुटना मुड़ेगा नहीं तो जंघा भी ऊपर उठेगी नहीं तथा

1. तत्त्वार्थवार्त्तिक, अध्याय-3, सूत्र 36, पृष्ठ-562

दूसरे आचार्य अकलंक लिखते हैं कि इस ऋद्धि में जो गमन होता है, वह गमन जंघा के उत्क्षेप-निक्षेप पूर्वक होता है, इससे इतना तो स्पष्ट है कि जंघा उठेगी तो घुटना भी मुड़ेगा।

यहाँ भी पूर्ववत् प्रश्न होता है कि कौन-सा कथन सही है? इस प्रश्न का उत्तर भी पूर्ववत् ही जानना।

जंघाचारण ऋद्धि के विषय में इन सभी कथनों का आशय यह भासित होता है कि पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा पहुँचे बिना सैकड़ों योजन गमन कर सकने की शक्ति को जंघाचारण ऋद्धि कहा गया है। यह गमन पृथ्वी पर हो या पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर हो; घुटनों को मोड़कर हो या घुटनों को मोड़े बिना हो। जैसे जलचारण ऋद्धि में गमन का संबंध जल से है, वैसे जंघाचारण ऋद्धि का संबंध पृथ्वी से है। जैसे जलचारण ऋद्धि के गमन में जलकायिक जीवों को बाधा नहीं पहुँचती है,वैसे जंघाचारण ऋद्धि के गमन में पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा नहीं पहुँचती है।

यहाँ **प्रश्न** होता है कि इस ऋद्धि का नाम जंघाचारण ऋद्धि न होकर पृथ्वीचारण ऋद्धि होना चाहिए था?

उसका उत्तर – यह रूढ़ि नाम है। रूढ़ि से इसप्रकार की ऋद्धि को जंघाचारण कहा गया है, पृथ्वीचारण नहीं कहा है। चूँकि सिर्फ गमन करना या सैकड़ों योजन गमन करना या शीघ्रगमन करना – यह चारण ऋद्धि नहीं है। इसमें तर्क यह है कि देवों में भी एक समय में असंख्यात योजन गमन करने की शक्ति होती है, फिर भी देवों की वह शक्ति चारण-ऋद्धि नहीं कही है। गमन हो, सैकड़ों योजन गमन हो, शीघ्र गमन हो उससे फर्क नहीं पड़ता, गमन में जीवों की न हिंसा हो, न उनको पीड़ा या न बाधा पहुँचे, तब उसे चारण क्रिया ऋद्धि कहा है।

यहाँ गमन में आधार भिन्न-भिन्न हैं, जैसे जलचारण में गमन का आधार जल है, अग्निचारण में गमन का आधार अग्नि है, इत्यादि। जलचारण

ऋद्धि में जलकायिक जीवों की हिंसा, पीड़ा या बाधा न होना मुख्य है, न कि मात्र जल पर चलना। जंघाचारण ऋद्धि में पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा न होना, उनको पीड़ा या बाधा न होना मुख्य है, न कि पृथ्वी पर चलना। इसी प्रकार अग्निचारण आदि ऋद्धियों के विषय में जानना।

चारण तथा आकाशगामित्व दोनों प्रकार की क्रिया-ऋद्धियों में स्थावर तथा त्रस जीवों की हिंसा न होना, पीड़ा न पहुँचना तथा बाधा का न होना ही ऋद्धिपना है।

क्रिया ऋद्धियों में गमन की शक्तियों का वर्णन है। साथ ही यह भी बताया कि वह गमन अहिंसक, अपीड़क और अबाधाकारक होता है।

जैसे जलचारण ऋद्धि में जो गमन होता है, उसमें जलकायिक जीवों की हिंसा नहीं होती, जलकायिक जीवों को पीड़ा नहीं पहुँचती, न ही जलकायिक जीवों को किसी प्रकार की बाधा पहुँचती है।

जैसे जलचारण ऋद्धि में जलकायिक जीवों की हिंसा, पीड़ा तथा बाधा न होना मुख्य है, वैसे जंघाचारण ऋद्धि में पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा, पीड़ा तथा बाधा न होना मुख्य है। चूँकि पृथ्वी पर मनुष्य और तिर्यंचों का गमन घुटनों को मोड़कर अथवा जंघाओं को उठाकर-रखकर ही होता है, इसलिए इसका नाम जंघाचारण नाम कहा गया है। फिर भी वहाँ आशय तो पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा न होने, उनको पीड़ा न पहुँचने और उनको किसी प्रकार की बाधा न होने का ही है।

इस ऋद्धि को पृथ्वीचारण इसलिए नहीं कहा है, क्योंकि पृथ्वी पर मनुष्य और तिर्यंच गमन करते ही हैं। शब्द के अर्थ के अनुसार उनका गमन इसमें गर्भित न हो तथा पृथ्वी से संबंधित, परन्तु पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा न पहुँचानेवाले गमन को ही गर्भित करने के लिए उसे पृथ्वीचारण नाम न देकर जंघाचारण नाम दिया है अथवा यह श्रुत परम्परागत नाम है - ऐसा भी जानना।

इससे आगे की प्रत्येक नामवाली उस-उस ऋद्धि में नाम के अनुसार उस-उस प्रकार के जीवों को बाधा न होने की मुख्यता है। इसमें त्रस को और स्थावर दोनों जीवों को बाधा न होने को जानना। जलचारण ऋद्धि में जलकायिक, जंघाचारण में पृथ्वीकायिक, बीजांकुर चारण में वनस्पतिकायिक, अग्निचारण में अग्निकायक, आकाशगामित्व में वायुकायिक, फलचारण और पुष्पचारण में वनस्पतिकायिक तथा वहाँ विद्यमान त्रस, तंतुचारण में त्रस, श्रेणीचारण में वहाँ विद्यमान स्थावर तथा त्रस जीवों को बाधा न होने को ही ऋद्धित्व जानना।

यहाँ प्रश्न – तीर्थंकर परमात्मा का विहार अर्थात् गमन होता है, वह गमन या विहार कौन-सी चारण ऋद्धि के अन्तर्गत है या वह आकाश गामित्व ऋद्धि के अन्तर्गत है?

उसका उत्तर – पहली बात तो यह है कि ऋद्धियों की चर्चा मुनिराजों से संबंधित है, न कि तीर्थंकर परमात्मा से संबंधित है। दूसरी बात तीर्थंकरों की प्रत्येक बात अलौकिक होती है, लोकोत्तर होती है।[1] तीर्थंकर परमात्मा का शरीर परम औदारिक होता है, प्रासंगिक ऋद्धियाँ औदारिक शरीर से संबंधित हैं। इसलिए तीर्थंकर परमात्मा का गमन या विहार न तो चारण ऋद्धियों के अन्तर्गत है, न ही प्रासंगिक आकाशगामित्व ऋद्धि के अन्तर्गत आता है। वे तो पृथ्वी से बीस हजार हाथ या पाँच हजार धनुष ऊपर विराजते हैं; तीर्थंकर परमात्मा जल, तंतु, फल, पुष्प, श्रेणी, अग्नि, पृथ्वी आदि का आश्रय लेकर गमन नहीं करते हैं, इसलिए उनका विहार चारण ऋद्धियों के अन्तर्गत नहीं है। हाँ, मात्र नाम की बात हो तो आकाशगामित्व ऋद्धि के अन्तर्गत उसको माना जा सकता है, क्योंकि धवलाकार के अनुसार किसी भी आसन से या पैर उठाकर रखने के द्वारा सर्वप्रकार से आकाश में गमन को आकाशगामित्व ऋद्धि कहते हैं।[2] चूँकि तीर्थंकर

---

1. ब्र. रायमल्लजी, चर्चा संग्रह, चर्चा 151, पृष्ठ-65
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-80

परमात्मा इन्द्र के आदेश से कुबेर रचित, 15-15 की पंक्तिबद्ध, 225 रत्नजड़ित स्वर्णकमलों पर डग भरते (कदम रखते) हुए होता है।[1] इसलिए तीर्थंकर परमात्मा का विहार आकाशगामित्व ऋद्धि जैसा कह सकते हैं। परन्तु मुनिराज के आकाशगामित्व ऋद्धि के गमन में और तीर्थंकरों के गमन में जमीन-आसमान का अंतर है।

मुनिराज का गमन इच्छापूर्वक होता है, तीर्थंकर परमात्मा का गमन बिना इच्छा के होता है। गमन की शक्ति में भी अंतर है, मुनिराज की तुलना में तीर्थंकर परमात्मा के गमन की शक्ति अनंत गुणी अधिक होती है। मुनिराज को गमन की शक्ति की प्राप्ति लाभान्तराय के क्षयोपशम और नामकर्म के विशिष्ट प्रकार के उदय से प्राप्त होती है। तीर्थंकर परमात्मा के अंतराय कर्म का तो क्षय हो चुका है और विहायोगति नामकर्म के उदय से विहार होता है। शरीर, इच्छा, कर्मसंबंधी - तीनों के सम्बन्ध परस्पर तुलनात्मक विचार करें तो समझ में आयेगा कि मुनिराज के और तीर्थंकर परमात्मा के गमन में जमीन-आसमान का अंतर है। इसलिए तीर्थंकर परमात्मा का गमन ऋद्धियों के अन्तर्गत वर्णित गमन से भिन्न प्रकार का है। फिर भी तीर्थंकर जंघाचारी साधु की तरह चलते हैं। यही लिखा है -

''जैसे जंघाचारी साधु जंघा के बल पैंड भर कैं आकाश में अंतरिक्ष चलैं, तैसे सोने के कमलपैं पैंड भर के अंतरिक्ष चलैं।[2]''

चारण ऋद्धियों से या आकाशगामित्व ऋद्धि से गमन की क्षेत्र-सीमा 45 लाख योजन मनुष्य लोक प्रमाण की है। गमन कर सकने की शक्ति तो लाखों योजन प्रमाण पायी जाती है, परन्तु गमन 45 लाख योजन के भीतर ही होता है, उससे बाहर हो नहीं सकता। ऋद्धि के द्वारा कोई मुनि मानुषोत्तर पर्वत के पार जाना चाहे तो जा नहीं सकता। मानुषोत्तर पर्वत के

---

1. ब्र. रायमल्लजी, चर्चा संग्रह, चर्चा 21, पृष्ठ-9
2. भूधरदास, चर्चा-समाधान, पृष्ठ 39

पार जाने का प्रयास करेंगे तो मानुषोत्तर पर्वत पर ही उनके शरीर के परमाणु बिखर जायेंगे।

जंघाचारण ऋद्धि का संबंध मात्र पृथ्वी पर गमन करने से ही नहीं है। यहाँ कीचड़, गोबर, भरस, भूसे आदि पर से वही स्थित जीवों की विराधना न करते हुए गमन करने को जंघाचारण ऋद्धि जानना।

वीर्यान्तराय और लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से तथा नामकर्म के विशेष प्रकार के उदय से जंघाचारण ऋद्धि की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार जंघाचारण ऋद्धि पर विचार किया। अब जलचारण ऋद्धि पर विचार करते हैं –

2. जल–चारण–ऋद्धि

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ[1] के अनुसार जलचारण ऋद्धि का नाम अम्बुचारण ऋद्धि है। जल और अम्बु पर्यायवाची शब्द हैं।

जिस ऋद्धि के द्वारा जलकायिक जीवों को बाधा पहुँचाये बिना पृथ्वी की तरह जल पर चला जाता है, उसे जलचारण ऋद्धि कहते हैं।

अथवा जिस ऋद्धि के द्वारा जल का आलम्बन लेकर गमन होता है, उसे जलचारण ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि के सम्बन्ध में धवलाकार का कथन है कि –

''भूमीए इव जाइयजीवाणं पीडमकाऊण जलमफुसंता जहिच्छाए जलगमण–समत्था रिसओ जलचारणा णाम''[2]

अर्थ – जो ऋषि जलकायिक जीवों को पीड़ा न पहुँचाकर, जल को न छूते हुए इच्छानुसार भूमि की तरह जल में गमन करने में समर्थ होते हैं, वे जलचारण ऋषि कहलाते हैं।

---

1. परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक–5
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–79

यहाँ **शंका –**

''पउमणिपत्तं व जलपासेण विणा जलमज्झगामिणो जलचारणा त्ति किण्ण उच्चंति ?''[1]

अर्थ – कमलिनी पत्र के समान जल के मध्य में (जल को छुए बिना) गमन करनेवाले को जलचारण क्यों नहीं कहते हो ?

समाधान – ''ण, एस दोसो, इच्छिज्जमाणत्तादो।''[2]

अर्थ – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह अभीष्ट ही है।

इसका अर्थ यह हुआ कि जल पर कदम रखते हुए या जल के भीतर से जलकायिक जीवों को पीड़ा न पहुँचाते हुए गमन करने को जलचारण ऋद्धि जानना।

आगे कही जानेवाली प्राकाम्य नाम की विक्रिया ऋद्धि के द्वारा जल पर पृथ्वी की तरह और पृथ्वी पर जल की तरह प्रवेश किया जाता है।

उसके सम्बन्ध में धवलाकार शंका उत्पन्न कर समाधान करते हैं कि –

''जलचारणपागम्मरिद्धीणं दोण्हं को विसेसो ?

घण पुढवि–मेरूसायराणमंतो सव्वसरीरेण पवेससत्ती पागम्मं णाम तत्थ जीव परिहरणकउसल्लं चारणत्तं।''[3]

अर्थ – शंका – जलचारण (ऋद्धि) और प्राकाम्य ऋद्धि में क्या अंतर है ?

समाधान – सघण पृथ्वी, मेरु और समुद्र के भीतर पूरे शरीर से प्रवेश करने की शक्ति को प्राकाम्य ऋद्धि कहते हैं। वहाँ जीवों के परिहार की कुशलता का नाम चारणत्व है।

अर्थात् समुद्र आदि में पूरे शरीर के साथ प्रवेश कर सकने की शक्ति

1-3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-79

को प्राकाम्य ऋद्धि कहा है तथा चारण ऋद्धि में गमन को और दोनों ऋद्धियों में जीवों के परिहार की कुशलता को मुख्य माना है।

सरल भाषा में कहे तो ''पूरे शरीर के साथ प्रवेश'' को प्राकाम्य ऋद्धि तथा जल का स्पर्श करते हुए गमन करना चारण ऋद्धि है।

जलचारण ऋद्धि में जल के आश्रय से गमन होता है; प्राकाम्य ऋद्धि में पूरे शरीर के साथ जलादिक में प्रवेश होता है।

तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार जलचारण ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार है -

अविराहियप्पुकाए, जीवे पद-खेवणेहिं जं जादि ।
धावेदि जलहि-मज्झे सव्वे य जलचारणा रिद्धी ।।[1]

अर्थ - जिस ऋद्धि के द्वारा जलकायिक जीवों की विराधना न करते हुए जो जल पर पादक्षेप करते (पैर रखते) हुए चला जाता है, या दौड़ता है, उसे जलचारण ऋद्धि कहते हैं।

धवलाकार जल पर गमन करना मात्र को ही जल चारण ऋद्धि कहते हैं; जबकि तिलोयपण्णत्तीकार जल पर चलने के साथ दौड़ना भी कहते हैं। शेष व्याख्या में दोनों आचार्यों की समानता है।

आचार्य अकलंक इस ऋद्धि के सम्बन्ध में जलाशयों का जिक्र करते हुए कहते हैं कि -

''जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायान् जीवानविराधयन्तः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशलाः जलचारणाः।''[2]

अर्थ - वापिका (बावड़ी) आदि में जल का सहारा लेकर जलकायिक जीवों की विराधना नहीं करते हुए भूमि के समान जल पर पैरों को उठाने और रखने की कुशलता को प्राप्त ऋषि को जलचारण ऋषि कहलाते हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1045, पृष्ठ-311
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-562

यहाँ अकलंक ने जल पर चलना नहीं लिखा है। उन्होंने लिखा कि जल का आश्रय लेकर पैरों को उठाना-रखना। वहाँ उनका आशय जल के आश्रय से चलना ही है, क्योंकि पैरों को उठाने-रखने को चलना ही कहते हैं। पैरों को उठाना-रखना कहो या चलना कहो - दोनों का एक ही अर्थ है।

आचार्य अकलंक ने दो बातें विशेष लिखी हैं - पहली यह कि बावड़ी आदि जलाशयों का उल्लेख, दूसरी यह कि जल पर पैर उठाने और रखने की।

अकलंक के अनुसार जलकायिक जीवों की विराधना बिना बावड़ी आदि जलाशयों में भूमि की तरह पैर उठाकर रखकर चलने की शक्ति को जलचारण ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि के तथ्यात्मक बिन्दु इसप्रकार हैं -

- इस ऋद्धि का शुद्ध संबंध जल से है।
- इसमें जल का स्पर्श करते हुए या जल का स्पर्श न करते हुए दोनों ही प्रकार के गमन को कहा है।
- वहाँ जलकायिक जीवों की विराधना न होना चारणत्व है।
- भूमि की तरह कदमों को उठाते-रखते हुए गमन होता है।
- जलाशयों का बंधन नहीं है, बावड़ी आदि सभी जलाशयों में गमन माना है।
- जल से संबंध रखनेवाली एक और प्राकाम्य नाम की ऋद्धि है। जलचारण क्रिया ऋद्धि है और प्राकाम्य विक्रिया ऋद्धि है।
- जलचारण ऋद्धि में जल शब्द का प्रयोग है। इसका अर्थ सिर्फ जल ही नहीं है। यहाँ जल शब्द प्रतीकात्मक है। ओस, ओला, कोहरा और बर्फ आदि पर से वहाँ स्थित जलकायिक जीवों की विराधना न करते हुए

गमन करने को भी जलचारण ऋद्धि के अन्तर्गत ही माना है, क्योंकि –

ओसकरवासधूमरीहिमादिचारणाणं जलचारणेसु अंतब्भावो, आउक्काइयजीवपरिहरणकुसलत्तं पडि साहम्मदंसणादो।[1]

अर्थ – ओस, ओला, कुहरा और बर्फ आदि पर गमन करनेवाले चारणों का जलचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनमें जलकायिक जीवों के परिहार की कुशलता के प्रति समानता देखी जाती है।

● जलचारण ऋद्धि का समग्र अर्थ यह हुआ कि जलकायिक जीवों की विराधना न करते हुए जल, ओस, ओलों, कोहरा और बर्फ आदि पर से गमन करने की शक्ति को जलचारण ऋद्धि कहते हैं।

3. अग्नि–चारण–ऋद्धि

परमर्षि स्वस्ति मंगल–पाठ[2] के अनुसार इसका नाम अनलचारण है। इसे वह्निचारण और अग्निशिखा चारण[3] भी कहा गया है। अग्नि, वह्नि और अनल – पयार्यवाची शब्द हैं।

इस ऋद्धि का संबंध अग्नि और अग्निकायिक जीवों की विराधना न होने से है।

धवलाकार की चारण ऋद्धियों की गणना में इसका नाम नहीं है। उन्होंने इस ऋद्धि का अन्तर्भाव तंतुश्रेणी चारण ऋद्धि में किया है। उनके शब्द इसप्रकार हैं –

''धूमग्गिवादमेहादिचारणाणं तंतु–सेडिचारणेसु अंतब्भावो, अणुलोम–विलोमगमणेसु जीवपीडाअकरणसत्तिसंजुत्तादो।''[4]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–81
2. परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक–5, पृष्ठ–78
3. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1050, पृष्ठ–312
4. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–81

अर्थ – धूम, अग्नि, वायु और मेघ आदि के आश्रय से चलनेवाले चारणों का तंतु श्रेणी चारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि अनुलोम और विलोम गमन करने में जीवों को पीड़ा न करने की शक्ति से संयुक्त है।

उनके अनुसार धूम, अग्नि, वायु, मेघ आदि भले ही भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु तंतु श्रेणी में अनुलोम-विलोम गमन तथा वहाँ स्थित जीवों को पीड़ा न पहुँचाने की शक्ति होती है। इसी समानता के कारण से धवलाकार ने अग्निचारण ऋद्धि का अन्तर्भाव तंतुश्रेणीचारण ऋद्धि में माना है। यही कारण है कि उन्होंने अग्निचारण को पृथक् चारण-ऋद्धि नहीं मानी है। आचार्य यतिवृषभ ने चारण-ऋद्धि के बारह भेदों में अग्निशिखाचारण नाम गिनाया, परन्तु उन्हों ने उसे श्रेणीचारण में नहीं गिनाया।

धवलाकार ने जिन धूम, वायु और मेघ का अन्तर्भाव श्रेणीचारण में किया है, तिलोयपण्णत्तीकार ने उन को पृथक्-पृथक् चारण ऋद्धि माना है, जैसे धूमचारण, मरुत् (वायु) चारण, मेघचारण।

तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार इस ऋद्धि का नाम – अग्निशिखाचारण है तथा उसका स्वरूप इसप्रकार है –

अविराहिदूण जीवे अग्गिसिहा संहिए विचित्ताणं ।
जं ताण उवरि गमणं अग्गिसिहा चारणा रिद्धी ।।''[1]

अर्थ – अग्निशिखाओं में स्थित जीवों की विराधना न करते हुए, उन विचित्र अग्निशिखाओं पर से, गमन करानेवाली ऋद्धि को अग्निशिखाचारण ऋद्धि कहते हैं।

आचार्य अकलंक ने इस ऋद्धि का नाम अग्निशिखाचारण ऋद्धि लिखा है। उन्होंने जलचारण और जंघाचारण दो चारण ऋद्धियों का ही वर्णन करके शेष ऋद्धियों के विषय में लिखा कि

''एवमितरे च वेदित्तव्या:'' इसी प्रकार अन्य चारण ऋद्धियों का स्वरूप जानना चाहिए।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1050, पृष्ठ-312

आचार्य अकलंक द्वारा पूर्व में दो चारण ऋद्धियों वर्णन किया है, उनके उस वर्णन के अनुसार इस ऋद्धि का वर्णन इस प्रकार होगा –

अग्निशिखाओं का अवलम्बन लेकर अग्निकायिक जीवों की विराधना न करते हुए भूमि की तरह अग्निशिखाओं पर पैरों को उठाकर, रख कर चलने की कुशलता की शक्ति का नाम अग्निशिखाचारण ऋद्धि है।

इस ऋद्धि के विचारणीय तथ्य –

● यह ऋद्धि अग्नि या अग्निशिखाओं से संबंधित है।

● जैसे पृथ्वी पर चला जाता है, वैसे अग्नि पर चल सकने की यह शक्ति है।

● अग्निकायिक जीवों के परिहार की कुशलता या अग्निकायिक जीवों की विराधना न होना ही अग्निचारणत्व है।

● धवलाकार के अनुसार इस ऋद्धि का अन्तर्भाव श्रेणीचारण ऋद्धि में होता है।

● धवलाकार के अनुसार इस ऋद्धि के द्वारा अनुलोम–विलोम गमन होता है।

● वीर्यान्तराय तथा लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम और नामकर्म के विशिष्ट उदय से इसप्रकार की ऋद्धि की प्राप्ति होती है।

तथा आत्म–आराधना के साथ बँधने वाले उत्कृष्ट, सातिशय पुण्य के उदय से इस प्रकार की ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

यहाँ अन्त में एक **प्रश्न** होता है कि अग्निचारण और अग्नि शिखाचारण में क्या अंतर है?

उसका **उत्तर –** आचार्यों के आशय के अनुसार तो कोई अंतर नहीं है। फिर भी अग्नि पर गमन अग्निचारणत्व है और अग्नि की शिखाओं (लपटों) पर गमन अग्निशिखाचारणत्व है। अग्नि सामान्य शब्द है, जिसमें

अंगार आदि सभी प्रकार की अग्नियों का ग्रहण होता है, अग्निशिखा विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त शब्द है, जिसमें मात्र अग्नि की लपटें यह अर्थ ही ग्रहण किया जायेगा।

अग्नि की शिखा को चोटी मानकर अथवा अनुलोम-प्रतिलोम गमन को श्रेणी चारण कहकर अग्नि के अनुसार गमन अनुलोम-प्रतिलोम गमन मान कर धवलाकार ने अग्निशिखाचारण ऋद्धि का श्रेणीचारण ऋद्धि में अन्तर्भाव किया है।

4. श्रेणी-चारण-ऋद्धि

श्रेणी चारण नाम की चारण-ऋद्धि का वर्णन धवला टीका में ही प्राप्त होता है। सबसे पहले धवलाकार के द्वारा वर्णित इस ऋद्धि के स्वरूप पर विचार करते हैं -

''धूमग्गि-गिरि-तरु-तंतुसंताणेसु उड्ढारोहणसत्तिसंजुत्ता सेडीचारणा णाम।''[1]

अर्थ - धूम, अग्नि, पर्वत और वृक्ष के तंतुओं पर से ऊर्ध्व आरोहण (ऊपर चढ़ने) की शक्ति से संयुक्त ऋषि श्रेणीचारण कहलाते हैं।

धवलाकार के इस वक्तव्य से सुस्पष्ट है कि धुएँ की श्रेणी, अग्नि की श्रेणी, पर्वतों की श्रेणी और वृक्ष के तंतुओं की श्रेणी के आधार से गमन करने की शक्ति श्रेणीचारण ऋद्धि है।

श्रेणी पर्वत की चोटी को भी कहते हैं। यह अर्थ तो यहाँ अभिप्रेत है ही। साथ में श्रेणी का एक और अर्थ कक्षा भी है। धुएँ आदि की जो कक्षा अर्थात् परिधि है, उसके आधार से गमन करना भी चारण ऋद्धि है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है कि धवलाकार ने इस चारण ऋद्धि में धूम अग्नि, वायु और मेघ आदि के आश्रय से गमन करनेवाले

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-80

चारणों का अन्तर्भाव माना है, इसकी व्याख्या में इसे ''तंतुश्रेणी चारण'' नाम से संबोधित किया। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके मत में श्रेणीचारण कहो या तंतुश्रेणीचारण कहो – एक ही अर्थ है। उन्होंने श्रेणीचारण के अलावा तंतुचारण ऋद्धि भी कही है। उससे स्पष्ट है कि वे श्रेणीचारण या तंतुश्रेणीचारण से तंतुचारण ऋद्धि को भिन्न मानते हैं।

यहाँ **प्रश्न** है कि यहाँ श्रेणी का अर्थ क्या है?

उसका **उत्तर** – यहाँ श्रेणी का अर्थ पर्वत की चोटी, धुएँ का गुब्बार, अग्नि की शिखा (लपट), पेड़ के तंतु का ऊपरी सिरा – इत्यादि अनेक अर्थ हैं।

आकाश (द्रव्य) के प्रदेशों की पंक्ति को भी श्रेणी कहते हैं। यह अर्थ यहाँ ग्रहण करें तो आकाश के प्रदेश की पंक्ति के अनुसार उस पंक्ति का उल्लंघन न कर गमन करने की शक्ति को श्रेणीचारण ऋद्धि कहेंगे।

इसी प्रकार के आशय को ग्रहण करके तत्त्वार्थ-सूत्र ग्रंथ की तत्त्वार्थसार वचनिका के रचयिता पण्डित चेतनदास पंक्तिबद्ध सीधे गमन श्रेणीचारण ऋद्धि कहते हैं।[1]

धवलाकार इस ऋद्धि में अनुलोम-प्रतिलोम दोनों प्रकार के गमन को शामिल करते हैं। अनुलोमत्व-प्रतिलोमत्व धुएँ, अग्नि की लपटें, वायु और मेघ के साथ संभव है, पर्वत की श्रेणी (चोटी) के साथ संभव नहीं है; पर्वतों की शृंखला होती है। जैसे अरावली आदि। उनकी शृंखला के अनुसार गमन अनुलोम गमन है तथा विपरीत गमन करना प्रतिलोम गमन करना माने तो यह संभव है। क्योंकि धुआँ जिस दिशा की ओर जा रहा है, उस धुएँ के आश्रय से उसी दिशा में गमन करना अनुलोमत्व है। धुएँ के गमन की दिशा से विरुद्ध दिशा में धुएँ के आश्रय से गमन करना प्रतिलोमत्व है। इसीप्रकार अग्नि की लपटों के साथ तथा वायु व मेघ के साथ भी घटित कर लेना।

1. तत्त्वार्थसार वचनिका, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-470

यहाँ यह अवश्य जानना कि गमन चाहे अनुलोम हो या प्रतिलोम हो, वहाँ स्थित वायुकायिक आदि जीवों की किसी भी प्रकार से विराधना नहीं होती है, न उन्हें बाधा पहुँचती है। यही इस ऋद्धि का चारणत्व है।

यहाँ **शंका** – धवलाकार के अनुसार अग्निचारण ऋद्धि का अन्तर्भाव श्रेणी चारण ऋद्धि में होता है तो तिलोयपण्णत्तीकार ने उसे अलग से क्यों कहा?

उसका **समाधान** – दोनों आचार्यों की प्ररूपणा में अंतर है। वह यह कि धवलाकार चारण ऋद्धियाँ मात्र आठ प्रकार की ही मानते हैं, उनके अनुसार अन्य चारण ऋद्धियों का इन्हीं आठ में अन्तर्भाव होता है। वहीं तिलोयपण्णत्तीकार बारह प्रकार की चारण ऋद्धियों के नाम लिखकर इनके अलावा चारण ऋद्धि अनेक विकल्पों (भेदों) वाली है, हमारे लिए उसका उपदेश प्राप्त नहीं है – ऐसा कहते हैं।

आशय यह है कि धवलाकार के अनुसार चारण ऋद्धियाँ आठ ही हैं और तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार चारण ऋद्धियाँ अनेक हैं।

दोनों आचार्यों के कथनों का सामंजस्य यह है कि संक्षेप में कहे तो चारण ऋद्धियाँ आठ हैं और विस्तार से कहे तो अनेक हैं।

संक्षेप-कथन में धवलाकार ने श्रेणीचारण ऋद्धि में अग्निचारण ऋद्धि का अन्तर्भाव किया है। तिलोयपण्णत्तीकार ने विस्तृत कथन में श्रेणीचारण ऋद्धि से भिन्न अग्निचारण ऋद्धि कही है। कथन शैली का अंतर है, अर्थ का अंतर नहीं है।

इस ऋद्धि के विचारणीय बिन्दु –

- इस ऋद्धि के द्वारा जो गमन होता है, वह श्रेणी के अनुसार होता है, इसलिए इसका नाम श्रेणी चारण है।

- इस ऋद्धि में अनुलोम (अनुसारी) तथा प्रतिलोम (प्रतिसारी) दोनों ही प्रकार से गमन करने की शक्ति होती है।

● गमन चाहे अनुलोम हो या प्रतिलोम हो, उस गमन से वहाँ स्थित जीवों की विराधना न होना ही चारणत्व है।

● श्रेणी शब्द प्रतीकात्मक है। यहाँ पर्वत की चोटी, अग्नि की लपट का शिखर, धुएँ का शिखर, वृक्ष के तंतु का शिखर – इत्यादि अनेक अर्थों में श्रेणी शब्द का प्रयोग हुआ है।

● वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के विशेष-प्रकार के उदय से श्रेणीचारण ऋद्धि की प्राप्ति होती है।

5. फल-चारण-ऋद्धि

फलचारण ऋद्धि का उल्लेख धवला टीका में, तिलोयपण्णत्ती में, परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ में है, राजवार्तिक में नहीं है। राजवार्तिककार ने चारण ऋद्धियों के सात नाम बताकर उसके बाद इत्यादि अनेक प्रकार की चारण ऋद्धियाँ हैं – यह लिखा। उससे यह आशय समझ में आता है कि शायद उनके भावों में फलचारण ऋद्धि गर्भित हो।

फलचारण ऋद्धि फलों पर चल सकने की शक्ति का नाम है। इस ऋद्धि का चारणत्व यह है कि फलचारणऋद्धिधारी मुनिराज के द्वारा फलों के आधार से चलते हुए फलों पर स्थित त्रस जीवों की विराधना नहीं होती है।

फलचारणत्व ऋद्धि में त्रस जीवों का विराधना नहीं होने की मुख्यता है। इस ऋद्धि में ही नहीं, अपितु अब तक की और आगे की सभी ऋद्धियों में स्थावर जीवों की विराधना नहीं होने की मुख्यता कही है।

धवलाकार कहते हैं कि कुंथु, मत्कुण, उद्देही, पिपीलिका (चींटी) आदि पर से चारण ऋद्धिधारी मुनिराज का गमन हो या गमन करते समय ये जीव किसी प्रकार से इनके पैरों के नीचे आ जाये तो इस ऋद्धि के प्रभाव

से उनकी विराधना या हिंसा नहीं होती है। वे कहते हैं कि कुंथु, पिपीलिका आदि पर से गमन करने वाले मुनिराज की ऋद्धि का फलचारण ऋद्धि में अन्तर्भाव होता है। क्योंकि फल पर चल सकने वाले चारण मुनि और कुंथु आदि पर से गमन करने वाले चारण मुनि इन दोनों में त्रस जीवों की विराधना का अभाव है। दोनों के द्वारा त्रस जीवों की हिंसा या विराधना नहीं होती है।

उनके शब्द इस प्रकार हैं –

कुंथुद्देही–मत्कुण–पिपीलियदिचारणाणं फलचारणेसु अंतब्भावो, तसजीवपरिहरणकुसलत्तं पडिभेदाभावादो।[1]

अर्थ – कुंथु जीव, उद्देही जीव, मत्कुण, पिपीलिका आदि पर से संचार करनेवाले चारणों का फलचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि त्रसकायिक जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा कोई भेद नहीं है।

यहाँ **शंका –** किसी फलचारण ऋद्धिधारी मुनि का शरीर सवा पाँच सौ धनुष प्रमाण का हो, वे चींटी या फल पर से गमन करें और वहाँ उन जीवों को बाधा न हो – ये कैसे संभव है?

उसका **समाधान –** जैसे हल्की मध्यम हवा, कोमल किरण या रुई जैसे मुलायम पदार्थों से किसी भी जीव को बाधा होती हुई न देखने में आती है, न सुनने में आई है। फलचारण या अन्य चारण ऋद्धियों के प्रभाव से शरीर के परमाणु हल्की मध्यम हवा, कोमल किरण या रुई जैसे मुलायम पदार्थों के जैसे परिमणित हो जाने से ऋद्धिधारी मुनि का शरीर भले ही सवा पाँच सौ धनुष प्रमाण का हो, वे चींटी या फल पर से गमन करें और वहाँ उन जीवों को बाधा न पहुँचे – यह संभव है।

शरीर में इस तरह का परिणमन शास्त्रों में प्रसिद्ध भी है। केवलज्ञान के प्रभाव से औदारिक शरीर, परम औदारिक शरीर के रूप में स्वतः

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4 भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–81

परिणमित होकर धरती-तल से पाँच हजार धनुष ऊपर जाकर स्थित हो जाता है। जब केवलज्ञान के प्रभाव से ऐसा हो सकता है, तब ऋद्धि से शरीर में पूर्वोक्त प्रकार से परिणमन हो सकने में संदेह भी नहीं करना चाहिए।

आगम श्रद्धा से भी जीवों के बाधारहित गमन को स्वीकार करना चाहिए। अंत में यही समझना चाहिए कि अचिंत्य शक्ति का नाम ही ऋद्धि है।

यहाँ पुनः **शंका –** धवलाकार के मत में कुंथु आदि जीवों पर से संचार करनेवालों का फलचारणों में अन्तर्भाव होता है। शंका यह है कि क्या मुनि कुंथु आदि जीवों पर से संचार करने के विकल्पवाले होते हैं?

उसका **समाधान –** मुनि की तो बात दूर श्रद्धानी श्रावक को भी कुंथु आदि जीवों पर से चलने का विकल्प नहीं आता है। धवलाकार का आशय इतना जानना कि फलचारण ऋद्धिधारी के गमनकाल में पैरों के नीचे कुंथु आदि जीव आ जावें तो ऋद्धि के बल से उनकी हिंसा नहीं होती।

अब तक हमने फलचारण ऋद्धिधारी मुनिराज की फलों पर चलने की बात की थी, आचार्य यतिवृषभ कहते हैं कि इस ऋद्धि के प्रभाव से फलों पर से फलचारण ऋद्धिधारी मुनिराज दौड़ लगायें, तो भी उनके द्वारा फलों में रहनेवाले जीवों की विराधना नहीं होती है, उनके शब्द निम्नप्रकार से हैं –

अविराहिदूण जीवे, तल्लीणे वणफलाण विविहाणं।
उवरिम्मि जं पधावदि, स च्चिय फलचारणा रिद्धी।।[1]

अर्थ – जिस ऋद्धि के प्रभाव से विविध प्रकार के वनफलों में रहनेवाले जीवों की विराधना न करते हुए, उनके ऊपर से मुनिराज दौड़ते हुए जाते हैं, उस ऋद्धि को निश्चित रूप से फलचारण ऋद्धि जानना।

यहाँ **शंका –** आचार्य यतिवृषभ के कथन में संदेह नहीं है, फिर

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1047, पृष्ठ-312

भी मन में यह शंका हो रही है कि मुनिराज के अट्ठाइस मूलगुणों में एक मूलगुण यह है कि मुनि ईर्यासमिति का पालन करते हैं। ईर्यासमिति से मुनिराज गमन करते समय आगे की चार हाथ भूमि का शोधन करते हुए चलते हैं, ऐसा शास्त्र-वचन है, उक्त ऋद्धि के स्वरूप में यतिवृषभ फलचारण ऋद्धिधारी मुनिराज दौड़ते हुए जाते हैं - ऐसा कहा। क्या मुनिराज दौड़ते हुए जाते हैं। यदि दौड़ते हुए जाते हैं, तो उनके द्वारा ईर्यासमिति का पालन कैसे होता है?

उसका **समाधान** - यहाँ, मुनिराज दौड़ते हुए ही जाते हैं - ऐसा आशय नहीं है। यदि फलचारण ऋद्धिधारी मुनिराज दौड़कर जायें तो भी उनके द्वारा फलाश्रित त्रसजीवों की विराधना नहीं होती है - ऐसा आशय जानना। यहाँ ऋद्धि की शक्ति, सामर्थ्य बताई है। न कि मुनिराज दौड़ते हुए जाते हैं - यह बताने का अभिप्राय है। दौड़ तो वे लगाए जिनको जाने की जल्दी हो। आत्मस्वरूप में संतुष्टि प्राप्त करनेवाले मुनिराजों को कहीं जाने की जल्दी नहीं होती है। रही बात ईर्यासमिति के पालन की तो उसके संबंध में यह जानना कि जिनके शरीर के द्वारा जीवों के विराधना या हिंसा होती है, उनके द्वारा चार हाथ भूमिशोधन का नियम पाला जाता है। यहाँ भूमिशोधन लिखा है, आकाश शोधन नहीं। यहाँ चारण मुनि के द्वारा भूमितल का स्पर्श नहीं हो रहा है, फलों का स्पर्श हो रहा है, जिसका स्पर्श हो रहा है, उसमें स्थित जीवों की हिंसा तो दूर, विराधना भी नहीं होती है। फिर, वे सामान्य गति से गमन करें या तीव्र गति से गमन करें - कोई फर्क नहीं पड़ता। वैसे चारण ऋद्धि के द्वारा एक समय में सैकड़ों योजन गमन होता है, उस सैकड़ों योजन गमन को ही यहाँ दौड़ना कहा हो।

आचार्य अकलंक ने मात्र दो चारण ऋद्धियों का ही स्वरूप बताया है। आगे लिखा कि इसी प्रकार अन्य चारण ऋद्धियों का स्वरूप जानना, उनके अभिप्राय को ध्यान में रखकर उनके द्वारा इस ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार होना चाहिए -

''फलमुपादाय वन्यफलादिषु त्रसकायान् जीवानविराधयन्त: भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशला: फलचारणा:।''

अर्थ – वन्य-फलादि में स्थित त्रसकाय जीवों की विराधना न करते हुए वन्यफलों के ऊपर से पृथिवी की तरह गमन करने (पैर उठाने रखने) में कुशल फलचारण ऋषि कहलाते हैं।

इस फलचारण ऋद्धि का सार यह है कि फलचारण ऋद्धि के द्वारा फलों के आधार से मुनिराज चल सकते हैं, ऐसे चलते हुए भी उनके द्वारा फलों के आश्रय से रहनेवाले त्रस जीवों की विराधना या हिंसा नहीं होती है। त्रसकायिक जीवों की हिंसा या विराधना न होना ही इस ऋद्धि का चारणत्व है।

वीर्यान्तराय और लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के विशेष प्रकार के उदय से फलचारण ऋद्धि प्रकट होती है।

6. पुष्प–चारण–ऋद्धि

इस चारण ऋद्धि का नाम धवला टीका में, तिलोयपण्णत्ती में, राजवार्तिक में और परमर्षि स्वस्ति मंगल–पाठ आदि लगभग सभी ग्रंथों में मिलता है। इस ऋद्धि का सरल–सा भाव है कि जिस ऋद्धि के द्वारा फूलों में स्थित जीवों की विराधना न करते हुए पृथ्वी की तरह फूलों के ऊपर से गमन किया जाता है, उस ऋद्धि को पुष्पचारण ऋद्धि कहते हैं।

पुष्प अर्थात् फूल या फूलों पर गमन करने से संबंधित यह ऋद्धि है।

परमर्षि स्वस्ति मंगल–पाठ में इस ऋद्धि को प्रसूनचारण ऋद्धि कहा है। अर्थ में कोई अंतर नहीं है, क्योंकि प्रसून–पुष्प पर्यायवाची शब्द हैं।

धवलाकार ने इस ऋद्धि का नाम आठ चारण ऋद्धियों में गिनाया है, परन्तु इसके स्वरूप के वर्णन में इतना ही लिखा कि जलचारण की तरह

पुष्पचारण का स्वरूप जानना चाहिए। उनके भाव के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार होगा –

''भूमीए इव पुप्फत्थजीवाणं पीडमकाऊण पुप्फमफुसंता जहिच्छाए पुप्फगमण–समत्था रिसओ पुप्फचारणा णाम।''

अर्थ – जो ऋषि पुष्प में स्थित जीवों को पीड़ा न पहुँचा कर पुष्प को न छूते हुए इच्छानुसार भूमि की तरह पुष्प पर से गमन करने में समर्थ होते हैं, वे पुष्पचारण ऋषि कहलाते हैं।

धवलाकार की तरह तत्त्वार्थवार्त्तिककार ने भी पुष्पचारण ऋद्धि के विषय में यह लिखा कि जलचारण की तरह पुष्पचारण ऋद्धि का स्वरूप जानना, उनके भावों के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार होगा –

''पुष्पमुपादाय पुष्पादिषु पुष्पस्थितजीवानविराधयन्तः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशलाः पुष्पचारणाः।''

अर्थ – पुष्पादि में जीवों की विराधना न करते हुए पुष्पों के ऊपर से पृथ्वी की तरह गमन करने (पैर उठाने–रखने) में कुशल पुष्पचारण ऋषि कहलाते हैं।

तिलोयपण्णत्तीकार इस ऋद्धि का स्वरूप निम्नप्रकार से कहते हैं –

अविराहिदूण जीवे तल्लीणो बहुविहाण पुप्फाणं ।
उवरिम्मि जं पसप्पदि सा रिद्धी पुप्पचारणा णाम ।।[1]

अर्थ – जिस ऋद्धि के प्रभाव से फूलों में रहनेवाले बहुत प्रकार के जीवों की विराधना न करते हुए उनके ऊपर से चले जाते हैं, वे पुष्पचारण ऋषि कहलाते हैं।

तिलोयपण्णत्तीकार ने पत्रचारण ऋद्धि को पुष्पचारण से भिन्न मानकर पत्रचारण ऋद्धि का स्वरूप बताया है, परन्तु धवलाकार ने पुष्पचारण ऋद्धि में ही पत्रचारण ऋद्धि का अन्तर्भाव माना है। न केवल पत्रचारणों का

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1048, पृष्ठ–312

अपितु अंकुरचारणों का, तृणचारणों का, प्रवालचारणों का भी पुष्पचारणों में ही अन्तर्भाव माना है, उनके अनुसार अंकुरों पर से, तृण (घास) पर से, प्रवाल पर से गमन करनेवालों का पुष्पचारणों में ही अन्तर्भाव इसलिए होता है, क्योंकि इन सभी में हरितकाय जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा समानता है।

उनके शब्द इसप्रकार हैं –

''पत्तंकुर–तण–पवालादिचारणाणं पुप्फचारणेसु अंतब्भावो, हरिदकाय परिहरणकुसलत्तं पडि भेदाभावो।''[1]

अर्थ – पत्र, अंकुर, तृण, प्रवाल आदि पर से गमन करनेवालों का पुष्पचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि हरितकाय जीवों के परिहार की कुशलता की अपेक्षा इन सब में भेद का अभाव है। अर्थात् उनमें समानता है।

धवलाकार ने आदि शब्द लिखकर यह दर्शाया है कि जिन–जिन ऋद्धियों में हरितकाय जीवों की विराधना नहीं होती है, उन–उन ऋद्धियों का अन्तर्भाव पुष्पचारणों में ही जानना चाहिए।

इस ऋद्धि का सार यह है कि फूलों के आश्रय से रहनेवाले जीवों की विराधना न करते हुए सभी प्रकार के फूलों के ऊपर से पृथ्वी की तरह कदम रखते हुए सैकड़ों योजन गमन की शक्ति को पुष्पचारण ऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धि को प्राप्त ऋषि को पुष्पचारण ऋषि कहते हैं।

जीव सहित पदार्थ को सचित्त कहते हैं, पुष्प भी सचित्त हैं। एक पुष्प के आश्रय से असंख्यात जीव रहते हैं। इसलिए पुष्प या पुष्पित अभक्ष्य है तथा सचित्त द्रव्य होने से पूजन में भी इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। यहाँ **शंका** होती है कि जिस फूल को भोजन में अभक्ष्य और पूजन में निषिद्ध माना है, उसके ऊपर से ऋषि के द्वारा गमन क्यों कर होता है?

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–81

उसका **समाधान** – पुष्पचारण ऋद्धिधारी मुनि इस ऋद्धि के द्वारा फूलों के ऊपर गमन करते ही हैं, ऐसा नहीं समझना; इस ऋद्धि से ऐसी शक्ति उनको प्राप्त होती है कि फूलों के ऊपर से गमन करें तो न फूल टूटते हैं, न मसले जाते हैं, न उन के आश्रय से रहनेवाले जीवों की हिंसा या विराधना होती है। ऋद्धियों के स्वरूप में मुनि के किस-किस प्रकार की शक्तियाँ प्रकट होती हैं, यह बताया है। न कि यह बताया कि मुनि ऋद्धियों का प्रयोग करते हैं। ऋद्धिधारी मुनियों के कषाय की मंदता इतनी अधिक होती है कि बहुतर ऋषियों को तो ऋद्धि प्राप्त हुई है या नहीं – इसका भी ज्ञान नहीं होता है, न वे उसका पता लगाने का प्रयास करते हैं। जैसे विष्णुकुमार मुनि को अणिमा, महिमा, आप्ति आदि ऋद्धियाँ प्राप्त थीं, परन्तु उनको पता नहीं था। उनकी ऋद्धियों को सागरचन्द्र आचार्य ने अवधिज्ञान से जाना था और पुष्पदन्त नामक क्षुल्लक को बताया था, उस पुष्पदन्त नाम के क्षुल्लक के द्वारा उनको यह पता चला कि उनको ऋद्धियाँ प्रकट हैं।

मुनि ऋद्धियों का ज्ञान नहीं करते, मान नहीं करते और प्राय: प्रयोग भी नहीं करते हैं। ज्ञान इसलिए नहीं करते, क्योंकि ऋद्धियाँ मोक्षमार्ग में साधक नहीं हैं, प्रयोजनभूत भी नहीं हैं। ऋद्धियाँ प्राप्त होने का मान भी नहीं करते, क्योंकि कषायों का पोषण करना मुनिधर्म नहीं है। कदाचित् तीर्थवंदना, देवदर्शन या शंकानिराकरण के प्रयोजन से प्रयोग करते हैं।

फूलों पर से गमन करना लोकशिक्षा से विरुद्ध है, इसलिए मुनि फूलों पर से गमन नहीं करते हैं। यहाँ तो सिर्फ इतना ही जानना कि मुनि को इसप्रकार की शक्ति प्रकट होती है कि मुनि फूलों पर से गमन करें या गमन करते समय फूल पर पैर पड़ जाये तो उनके द्वारा जिस शक्ति के कारण फूलों में स्थित जीव की विराधना नहीं होती है, उस शक्ति को पुष्पचारण ऋद्धि कहते हैं।

सारांश यह है कि पुष्पचारण ऋद्धिधारी मुनि के द्वारा हरितकाय

जीवों की हिंसा या विराधना नहीं होती है। जिस शक्ति के प्रकट होने पर गमन करते समय हरितकाय जीवों की हिंसा नहीं होती है, उस शक्ति को पुष्पचारण ऋद्धि कहते हैं।

पुष्पचारण ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के विशेष प्रकार के उदय से प्रकट होती है।

7. तन्तु-चारण-ऋद्धि

तन्तुचारण ऋद्धि का वर्णन लगभग सभी शास्त्रकारों ने किया है। तन्तुचारण ऋद्धि का अलग से वर्णन धवलाकार, राजवार्त्तिकार ने नहीं किया है। धवलाकार और वार्तिककार ने लिखा कि जलचारण की तरह तन्तुचारण ऋद्धि का स्वरूप जानना चाहिए। यहाँ तन्तु शब्द का अर्थ क्या है? तिलोयपण्णत्तीकार ने इस ऋद्धि का वर्णन किया है, जिसमें मकड़ी के जाले के रेशे या धागे को तंतु कहा है। इसलिए तंतु शब्द का अर्थ मकड़ी के जाले का धागा/तंतु समझना चाहिए।

मकड़ी का जाला प्राय: सभी ने देखा होगा। मकड़ी के जाले के तंतु बहुत ही पतले होते हैं। वे तंतु आड़े-तिरछे होते हैं। मकड़ी के जाले के तंतुओं पर पैर रखते हुए वहाँ स्थित जीवों के विराधना न करते हुए गमन करने की शक्ति को तंतुचारण ऋद्धि कहा।

मकड़ी का रेशा महीन और थोड़ा-सा भी वजन सहने में असमर्थ होता है। उतने महीन रेशे पर संतुलन बनाना कठिन होता है। उस पर शरीर के वजन के साथ चलने पर वह रेशा टूटे नहीं। यह इसी ऋद्धि के कारण से होता है। उस पर पैर रखते हुए गमन करने की शक्ति इस ऋद्धि से प्राप्त होती है। कदाचित किसी मुनि को इस ऋद्धि के साथ महिमा नाम की ऋद्धि प्रकट हो तो वे मुनि महिमा शक्ति से सुमेरु जितना बड़ा शरीर बनावें और मकड़ी के रेशे के ऊपर से इस ऋद्धि के प्रभाव से चलें तो भी वे मकड़ी के रेशे पर चलने में समर्थ होते हैं और इनके उस पर चलने पर रेशा टूटता भी नहीं है।

मकड़ी के रेशे पर चलते हुए मकड़ी के रेशे का न टूटना इस ऋद्धि का चारणत्व नहीं है, अपितु वहाँ विद्यमान जीवों की विराधना न होना इस ऋद्धि का चारणत्व है, क्योंकि जिनधर्म में अहिंसा ही चारित्र है और अहिंसा ही चारणत्व है। रेशे के टूटने से वहाँ स्थित किसी जीव को तथा जाले में स्थित मकड़ी के बाधा होगी।

यहाँ मकड़ी के जाले का रेशा प्रतीकमात्र जानना। मकड़ी के जाले के रेशे के समान महीन सभी प्रकार के तन्तुओं पर से चल सकने की शक्ति की प्राप्ति तंतुचारण ऋद्धि है।

तिलोयपण्णत्तीकार के शब्दों में इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है–

मक्कडय–तंतु–पंती–उवरिं आदि लघुओ–तुरिद–पद–खेवे।
गच्छेदि मुणि–महेसी, सा मक्कड–तंतु–चारणा रिद्धी।।[1]

अर्थ – जिस शक्ति के द्वारा महर्षि मुनि शीघ्रता से किए गए पद–विक्षेप में अत्यन्त लघु होते हुए मकड़ी के रेशे की पंक्ति आदि पर से गमन करने में समर्थ होते हैं, उस शक्ति को मकड़ी–तंतु–चारण ऋद्धि कहते हैं।

धवलाकार ने धूमचारण, वायुचारण, अग्निचारण और मेघचारण आदि चारणों का तंतुश्रेणीचारणों में अन्तर्भाव किया है –

''धूमग्गिवादमेहादिचारणाणं तंतुसेडिचारणेसु अंतब्भावो, अणुलोम–विलोम–गमणेसु जीवपीडा–अकरणसत्तिसंजुत्तादो।''[2]

अर्थ – धुआँ, अग्नि, वायु, मेघादि पर से चलनेवाले चारणों का तंतुश्रेणीचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि अनुलोम–विलोम गमन करते हुए जीवों को पीड़ा न करने की शक्ति से युक्त होते हैं।

यहाँ तिलोयपण्णत्तीकार का लघु शब्द विचारणीय है, उसके दो

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1054, पृष्ठ–313
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–81

अर्थ हो सकते हैं - 1. ऋद्धि के प्रभाव से शरीर इतना छोटा हो जाये कि उस शरीर से मकड़ीजाल के दो रेशों बीच से निकल जाये, 2. हल्का।

धुआँ, अग्नि, वायु, मेघादि ऐसे पदार्थ हैं, जिन पर थोड़ा-सा वजन पड़े या हवा का झोंका भी आये तो वे बिखरते हैं, इसीप्रकार मकड़ी के जाले का रेशा होता है, इसलिए धवलाकार ने तंतुश्रेणीचारणों में धूमचारण आदि चारणों का अन्तर्भाव किया है। वहाँ अनुलोम-विलोम गमन तो उनके गमन की विशेषता है तथा जैसे वह रेशा वजन नहीं सह सकता, वैसे धुँआ, अग्नि लपट, वायु, मेघ भी वजन नहीं सह सकते।

इस ऋद्धि का आशय यह है कि मकड़ी के रेशे के समान महीन, आड़े-तिरछे धागों पर वहाँ के जीवों को बाधा न पहुँचाते हुए भूमि की तरह उन रेशों पर पैर रखते हुए सैकड़ों योजन चलने की शक्ति को तंतुश्रेणीचारण ऋद्धि कहते हैं।

यहाँ **प्रश्न** – मकड़ी के रेशों पर से सैंकड़ों योजन गमन की शक्ति को तन्तुचारण कहा है, परन्तु लोक में सैंकड़ों योजन का मकड़ी का जाला कहीं भी नहीं दिखाई देता है, फिर भी ऐसा क्यों कहा?

उसका **समाधान** – यहाँ मकड़ी का जाला सैंकड़ों योजन का होता है या नहीं होता है - यह नहीं बताया है, मात्र गमन की शक्ति को बताया है।

अन्तर्भाव करने के संबंध में धवलाकार ने तंतुश्रेणीचारण शब्द का प्रयोग किया है, स्पष्ट उल्लेख न होने से धूम, अग्नि, वायु, मेघ आदि चारणों का तंतुचारण और श्रेणीचारण दोनों ऋद्धियों में अन्तर्भाव मानकर वर्णन किया ऐसा प्रतीत होता है।

तन्तुचारण ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय, कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उत्कृष्ट उदय से प्रकट होती है।

8. बीजांकुर-चारण-ऋद्धि

बीजांकुर चारण ऋद्धि का नाम तिलोयपण्णत्ती या राजवार्त्तिक में नहीं है। धवला में बीजचारण नाम मिलता है और परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ में बीजांकुर चारण नाम मिलता है। तिलोयपण्णत्ती और राजवार्तिक में बीजांकुर चारण नाम नहीं होने पर भी दोनों ही आचार्यों ने इत्यादि अनेक प्रकारवाली चारण-ऋद्धियाँ मानी हैं; अत: उनके भावों में इसका स्वरूप विद्यमान होगा।

धवलाकार ने बीजचारण ऋद्धि को चारण-ऋद्धि के आठ भेदों में से एक मानी है। और अंकुरचारण ऋद्धि का अन्तर्भाव पुष्पचारण ऋद्धि में किया है -

पत्तंकुरतण-पवालादिचारणाणं पुप्फचारणेसु अंतब्भावो। हरिदकायपरिहरणकुसलत्तेण साहम्मादो।।[1]

अर्थ - पत्र, अंकुर, तृण, प्रवाल आदि चारणों का पुष्पचारणों में अन्तर्भाव होता है। हरितकाय जीवों के परिहरण की कुशलता की अपेक्षा समानता है।

धवलाकार के कथन से स्पष्ट है कि बीजचारण और अंकुरचारण दोनों भिन्न-भिन्न ऋद्धियाँ हैं। इन दोनों ऋद्धियों को एक मानने पर धवलाकार के द्वारा बतायी आठ चारण ऋद्धियों की संख्या सात हो जायेगी, क्योंकि पुष्पचारण में अन्तर्भाव करने पर एक बीज ऋद्धि कम हो जायेगी और चारण ऋद्धियों की संख्या सात रह जायेगी। इसलिए धवलाकार के अनुसार बीज ऋद्धि भिन्न और अंकुर ऋद्धि भिन्न है तथा अंकुर ऋद्धि का पुष्पचारण ऋद्धि में अन्तर्भाव होता है।

बीज ऋद्धि का और बीजांकुर ऋद्धि का वर्णन किसी भी आचार्य ने नहीं लिखा है, सिर्फ धवलाकार ने इतना ही लिखा कि जलचारण ऋद्धि

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-81

की तरह बीजचारण ऋद्धि का स्वरूप जानना। परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ में बीजांकुरचारण ऋद्धि का तो मात्र नाम ही मिलता है। मंगलपाठ में ऋद्धियों के मात्र नाम ही हैं, स्वरूप किसी का भी नहीं है।

धवलाकार के जलचारण ऋद्धि के वर्णन के अनुसार बीजचारण ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार होगा –

भूमीए इव बीजत्थजीवाणं पडिमबीजफुसंता जहिच्छाए बीजगमण–समत्था–रिसओ बीजचारणा णाम।

अर्थ – जो ऋषि, जीव जिसमें विद्यमान है, ऐसे बीजों के जीवों को पीड़ा न पहुँचाते हुए और बीज को न छूते हुए इच्छानुसार भूमि के समान जीवगर्भित बीजों पर से गमन करने में समर्थ होते हैं, उन्हें बीजचारण ऋषि कहते हैं।

वार्तिककार के अनुसार बीजचारण ऋषि का स्वरूप इस प्रकार होगा –

''बीजमुपादाय बीजस्थितजीवानविराधयन्तः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेप–कुशलाः बीजचारणाः।''

अर्थ – बीजस्थित जीवों की विराधना न करते हुए बीज के ऊपर से भूमि की तरह पैरों का निक्षेप करते हुए चलने में कुशल होते हैं, वे ऋषि बीजचारण कहलाते हैं।

बीजांकुर चारण ऋद्धि के पक्ष में इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार होगा –

बीजांकुरमुपादाय बीजांकुरस्थितजीवानविराधयन्तः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशलाः बीजांकुरचारणाः।

अर्थ – बीजों से अंकुरित अंकुरों में स्थित जीवों की हिंसा या बाधा न करते हुए भूमि की तरह पादक्षेप करते हुए सैकड़ों योजन गमन कर सकने की शक्ति को बीजांकुर चारण ऋद्धि कहते हैं।

बीजचारण ऋद्धि में वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा या विराधना न होना ही बीजचारण ऋद्धि का चारणत्व है।

यहाँ बीजांकुर शब्द प्रतीकात्मक है। उसमें स्वतः उत्पन्न होनेवाले घास-फूस का भी ग्रहण करना।

यह ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के उत्कृष्ट उदय से प्रकट होती है।

इन आठ चारण ऋद्धियों के वर्णन के बाद अब उन चारण ऋद्धियों का वर्णन करते हैं, जिनका वर्णन तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रंथों में है। ऐसी छह ऋद्धियों का वर्णन तिलोयपण्णत्ती में है, एक का वर्णन राजवार्तिक में है और एक ऋद्धि का वर्णन धवलाटीका में है। उसका स्वरूप इसप्रकार है -

1. पत्र-चारण-ऋद्धि

पत्रचारण ऋद्धि का नाम राजवार्तिक और तिलोयपण्णत्ती दो ग्रंथों में है। इस ऋद्धि के बारे में राजवार्तिककार कहते हैं कि इसका स्वरूप जलचारण ऋद्धि की तरह जानना चाहिए। राजवार्तिककार के भावों के अनुसार इसका स्वरूप इसप्रकार होगा -

''पत्रमुपादाय पत्रस्थितजीवानविराधयन्तः भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशलाः पत्रचारणाः।''

अर्थ - जो ऋषि पत्राश्रित जीवों की विराधना न करते हुए पृथ्वी की तरह पत्रों पर पादक्षेप करते हुए चलने में कुशल होते हैं, उन्हें पत्रचारण ऋषि कहते हैं।

तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार इसका स्वरूप इसप्रकार है -

अविराहिदूण जीवे, तल्लीणे बहुविहाण पत्ताणं।
जा उवरि वच्चदि मुणी, सा रिद्धी पत्तचारणा णामा।।[1]

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1049, पृष्ठ-312

अर्थ – जिस (शक्ति) के द्वारा मुनि बहुत प्रकार के पत्तों के आश्रित जीवों की विराधना न करते हुए उनके ऊपर से गमन करने में समर्थ होते हैं, उस ऋषि को पत्रचारण ऋषि कहते हैं तथा उनकी उस (शक्ति) को पत्रचारण ऋद्धि कहते हैं।

धवलाकार ने पत्रचारण ऋद्धि का अन्तर्भाव पुष्पचारण ऋद्धि में किया है –

''पत्तंकुर-तण-पवालादिचारणाणं पुप्फचारणेसु अंतब्भावो।''[1]

अर्थ – पत्र, अंकुर, तृण, प्रवाल आदि चारणों का पुष्पचारणों में अन्तर्भाव होता है।

पत्रचारण ऋद्धि में वनस्पतिकायिक और पत्राश्रित त्रसजीवों की विराधना न होना ही चारणत्व है।

II. धूम-चारण-ऋद्धि

पत्रचारण ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के विशेष प्रकार के उदय से प्रकट होती है।

धूमचारण ऋद्धि का वर्णन एकमात्र तिलोयपण्णत्ती ग्रंथ में ही मिलता है। उसके अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है –

अह-उड्ढ-तिरिय पसरं धूमं अवलंविऊण जं देंति।
पद-खेवे अक्खलिया सा रिद्धी धूमचारणा णामा।।[2]

अर्थ – जिस ऋद्धि (की शक्ति) से मुनि नीचे, ऊपर, आड़े, तिरछे फैलने वाले धुएँ का अवलंबन देकर अस्खलित (एक-सी गति से)

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-81
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1050, पृष्ठ-312

पादक्षेप करते हुए गमन करते हैं, उस (शक्ति) को धूमचारण ऋद्धि कहते हैं।

धवलाकार ने धूमचारण ऋद्धि का अन्तर्भाव तंतुश्रेणीचारण ऋद्धि में किया है –

"धूमग्गिवादमेहादिचारणाणं तंतुसेडिचारणेसु अंतब्भावो।"[1]

अर्थ – धूम, अग्नि, वायु, मेघ आदि चारणों का तंतुश्रेणीचारणों में अन्तर्भाव होता है। धूमचारण ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों क विशिष्ट क्षयोपशम तथा नामकर्म के विशेष प्रकार के उदय से प्रकट होती है।

III. मेघ–चारण–ऋद्धि

मेघचारण ऋद्धि का वर्णन एकमात्र तिलोयपण्णत्ती ग्रंथ में ही मिलता है। उसके अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार है –

अविराहिदूण जीवे, अपुकाए बहुविहाण मेघाणं ।
जं उवरि गच्छइ मुणी सा रिद्धी मेघचारणा णाम ।।[2]

अर्थ – जिस ऋद्धि (की शक्ति) से मुनि जलकायिक जीवों को पीड़ा न पहुँचाते हुए बहुत प्रकार के मेघों पर से गमन करते हैं, उस (शक्ति) को मेघचारण नामक ऋद्धि कहते हैं।

धवलाकार ने मेघचारण ऋद्धि का अन्तर्भाव तन्तुश्रेणी चारणों में किया है –

"धूमग्गिवादमेहादिचारणाणं तंतुसेडिचारणेसु अंतब्भावो।"[3]

अर्थ – धूम, अग्नि, वात, मेघादि चारणों का तंतुश्रेणी चारणों में

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-81
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1051, पृष्ठ-312
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-81

अन्तर्भाव होता है। जलकायिक जीवों की विराधना न होना ही मेघचारण ऋद्धि का चारणत्व है।

मेघचारण ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के विशेष प्रकार के उदय से प्रकट होती है।

IV. धारा-चारण-ऋद्धि

धाराचारण ऋद्धि का वर्णन एकमात्र तिलोयपण्णत्ती ग्रंथ में ही मिलता है। उसके अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है -

अविराहिय तल्लीणे, जीवे घण-मुक्क-वारिधाराणं ।
उवरिं जं जादि मुणी, सा धारा चारणा रिद्धी।।[1]

अर्थ - जिस ऋद्धि (की शक्ति) से मुनि मेघों से छोड़ी गई जल-धाराओं में स्थित (जलकायिक) जीवों की विराधना न करते हुए धाराओं का अवलंबन कर गमन करते हैं, उस (शक्ति) को धाराचारण ऋद्धि कहते हैं।

जलकायिक जीवों की विराधना न होने की समानता होने से धवलाकार ने धाराचारण ऋद्धि का अन्तर्भाव जलचारणों में किया है -

आउक्काइयजीवपरिहरणकुसलत्तं पडि साहम्मदंसणादो।''

ओस-करवास-धूमरी-हिमादिचारणाणं जलचारणेसु अंतब्भावो।[2]

अर्थ - ओस, ओला, कोहरा, बर्फ आदि चारणों का जलचारणों में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इनमें जलकायिक जीवों के परिहार की कुशलता की समानता देखी जाती है।

यद्यपि धवलाकार ने धारा शब्द का स्पष्ट रूप से प्रयोग नहीं किया

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1053, पृष्ठ-313
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-1

है, परन्तु इतना अवश्य है कि 'ओस, ओला, कोहरा, बर्फ आदि' पदार्थ जल से संबंधित हैं, धारा-चारण ऋद्धि में धारा पदार्थ भी जल से संबंधित है, इससे अनुमान है कि धाराचारण का जलचारणों में अन्तर्भाव होता है।

धाराचारण ऋद्धि में जलकायिक और जलाश्रित जीवों के परिहार की कुशलता या उन जीवों की विराधना का अभाव है।

जलकायिक और जलाश्रित जीवों की विराधना न होना ही इस ऋद्धि का चारणत्व है।

धाराचारण ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के विशेष प्रकार के उदय से प्रकट होती है।

V. ज्योतिश्चारण-ऋद्धि

ज्योतिश्चारण ऋद्धि का वर्णन एकमात्र तिलोयपण्णत्ती ग्रंथ में ही मिलता है, उसके अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है -

अह-उड्ढ-तिरिय-पसरे किरणे अविलंबिऊण जोदीणं।
जं गच्छेदि तवस्सी सा रिद्धी जोदिचारणा णाम।।[1]

अर्थ - जिस ऋद्धि (की शक्ति) से तपस्वी ज्योतिषी देवों के विमानों की नीचे-ऊपर और तिरछी फैलनेवाली किरणों का अवलंबन लेकर गमन करते हैं, उस (शक्ति) को ज्योतिश्चारण ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि में किरणों में स्थित जीवों की विराधना न करते हुए गमन होता है - ऐसा अर्थ उसमें गर्भित जानना तथा वार्तिककार के ऋद्धियों के स्वरूप के अनुसार किरणों के आश्रय से भूमि की तरह किरणों पर पैर रखते हुए सैकड़ों योजन गमन की शक्ति समझना।

यह ऋद्धि सूर्य, चन्द्र, आदि ज्योतिषी देवों के विमानों की किरणों के आश्रय से गमन कर सकने की सामर्थ्यवाली जानना। सूर्यविमान की

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1055, पृष्ठ-313

किरणों के आश्रय से आतप नामकर्म के उदयवाले जीव पाये जाते हैं, चन्द्रविमान की किरणों के आश्रय से उद्योत नामकर्म के उदयवाले जीव पाये जाते हैं। इस ऋद्धि में उन आतप, उद्योत नामकर्म के उदयवाले जीवों की विराधना का अभाव जानना। उन जीवों की विराधना का अभाव ही इस ऋद्धि का चारणत्व है।

सूर्यविमान की किरणों की अपेक्षा इस ऋद्धि का अग्निचारण ऋद्धि में तथा चन्द्रविमान की किरणों की अपेक्षा इस ऋद्धि का जलचारणों में अन्तर्भाव हो सकता है, परन्तु किरणें, अग्नि और जल ये तीनों भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले पदार्थ हैं, इसको ध्यान में रखने पर उक्त प्रकार से अन्तर्भाव नहीं भी हो। यथायोग्य जान लेना।

ज्योतिश्चारण ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के विशेष प्रकार के उदय से प्रकट होती है।

VI. मरुच्चारण-ऋद्धि

मरुच्चारण ऋद्धि का वर्णन एकमात्र तिलोयपण्णत्ती ग्रंथ में ही मिलता है। मरुच्चारण शब्द दो शब्दों के मेल से बना है, उसमें एक शब्द मरुत् और दूसरा शब्द चारण है। मरुत् शब्द का अर्थ वायु है। इसलिए इस ऋद्धि को वायुचारण ऋद्धि भी कह सकते हैं।

तिलोयपण्णत्ती ग्रंथ के अनुसार इसका स्वरूप इसप्रकार है -

णाणाविह-गदि-मारूद पदेस-पंतीसु देंति पदखेवे।
जं अक्खलिया मुणिणो सा मारूद चारणा रिद्धी।।[1]

अर्थ - जिस ऋद्धि (की शक्ति) से मुनि नाना (अनेक) प्रकारकी गति से युक्त वायु के प्रदेशों की पंक्तियों पर अस्खलित (एक-सी) गति से

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1056, पृष्ठ-314

पदविक्षेप (पैर रखने की क्रिया) करते हैं, उस (शक्ति) को मरुच्चारण/ मरुत् चारण ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि में वायु में स्थित वायुकायिक जीवों की विराधना न करते हुए गमन होता है – इतना अर्थ गर्भित जानना, क्योंकि वायु में स्थित वायुकायिक जीवों की विराधना न होना ही इस ऋद्धि का चारणत्व है।

धवलाकार ने इस ऋद्धि का तंतुश्रेणीचारण ऋद्धि में अन्तर्भाव करते हुए लिखा है –

''धूमग्गिवादमेहादिचारणाणं तंतुसेडिचारणेसु अंतब्भावो।[1]

अर्थ – धूम, अग्नि, वायु, मेघ आदि चारणों का अन्तर्भाव तंतुश्रेणी चारणों में होता है।

मरूच्चारण ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के विशेष प्रकार के उदय से प्रकट होती है।

1. आकाशचारण–ऋद्धि

आकाशगामी ऋद्धि और आकाशचारण ऋद्धि ये दोनों भिन्न–भिन्न ऋद्धियाँ हैं। आकाशगामी क्रिया ऋद्धि का दूसरा भेद है। आकाशचारण ऋद्धि–क्रिया ऋद्धि के पहले भेद चारण ऋद्धियों में से एक है। दोनों के स्वरूप में भी अंतर है। आकाश चारण ऋद्धि का नाम एकमात्र धवलाटीका में ही मिलता है। धवलाकार ने चारण ऋद्धियों के आठ भेद कहे हैं, उनमें से आकाशचारण एक भेद है। धवलाकार के अनुसार आकाशचारण ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार है –

''चउहि अंगुलेहिंतो अहियपमाणेण भूमीदो उवरि आयासे गच्छंता आगासचारणा णाम।''[1]

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-81

अर्थ – चार अंगुलों से अधिक प्रमाण भूमि के ऊपर आकाश में गमन करनेवाले ऋषि आकाशचारण ऋषि कहलाते हैं।

धवलाकार के अनुसार चार अंगुल प्रमाण तक की भूमि पर गमन करना जंघाचारण ऋद्धि है तथा चार अंगुल से अधिक प्रमाण भूमि के ऊपर आकाश में गमन करना आकाशचारण ऋद्धि है। इस ऋद्धि से चार अंगुल से अधिक प्रमाण भूमि के ऊपर भूमि की तरह पैर उठाने-रखने की क्रिया सहित गमन होता है।

शंका – आकाशगामी और आकाशचारण – इन दो ऋद्धियों में क्या अंतर है?

समाधान – धवलाकार ने इस प्रकार की शंका उत्पन्न कर उसका समाधान किया है, उनके शब्द इस प्रकार हैं –

''आगासचारणाणमुवरि उच्चमाणआगासगामीणं च को विसेसो?

उच्चदे-जीवपीडाए विणा पादुक्खेवेण आगासगामिणो आगासचारणा णाम। पलियंक-काउसग्ग-सयणासण-पादुक्खे-वादि-सव्वपयारेहि आगासे संचरणसमत्था आगासगामिणो।''[1]

अर्थ – शंका – आकाशचारण और आगे कही जानेवाली आकाशगामी में क्या विशेष है?

समाधान – कहते हैं – जीव पीड़ा के बिना, पैर उठाकर आकाश में गमन करनेवाले आकाशचारण कहलाते हैं। पल्यंकासन, कायोत्सर्गासन, शयनासन, पैर उठाकर इत्यादि सभी प्रकारों से आकाश में गमन करने में समर्थ ऋषि आकाशगामी कहलाते हैं।

आकाशचारण और आकाशगामी दोनों ऋद्धियों के गमन में जीवों

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-80

को पीड़ा नहीं पहुँचती है। इतना तो तय है, आकाशचारण ऋद्धि में भूमि की तरह पैर उठाकर आकाश में गमन होता है। जैसे पृथ्वी पर सामान्य गमन होता है, वैसे आकाश में गमन होता है। आकाशगामी ऋद्धि से मुनि पल्यंक आदि किसी भी आसन से या पैर उठाकर भूमि की तरह सभी प्रकार से गमन कर सकते हैं। आकाशचारणों की तरह पैर उठाकर रखने की आवश्यकता आकाशगामियों के नहीं होती। यह जरूर है कि आकाशगामी अपनी इच्छा से पैर उठाकर चलना चाहे तो चल सकते हैं।

यहाँ **प्रश्न** – आकाशचारण ऋद्धि में पैर उठाकर आकाश में गमन किया जाता है और आकाशगामी ऋद्धि में भी इसीप्रकार गमन हो सकता है, तब यह कैसे पता चले कि पैर उठाकर आकाश में गमन हो रहा है, वह कौन-सी ऋद्धि से हो रहा है?

उसका **उत्तर** – यह सही है कि आकाशचारण और आकाशगामी दोनों ऋद्धियों में आकाश में पैर उठाकर गमन होता है। आकाश में पैर उठाकर गमन करनेवाले मुनि को देखकर यह जानना है कि वह गमन कौन-सी ऋद्धि से हो रहा है?

परन्तु इतना समझ में आता है कि जो मुनि आकाशगामी ऋद्धि के धारी हैं, वे आकाश में पैर उठाकर या पैर उठाये बिना दोनों प्रकार से गमन कर सकते हों, तब पैर उठाकर गमन करने का विकल्प क्यों करेंगे? आकाशगामी ऋद्धि को प्राप्त मुनि चाहे जिस आसन से आकाश में गमन कर सकते हैं, इसलिए वे गमन की इच्छा होने पर जिस आसन में होंगे, उसी आसन से गमन करेंगे। अनावश्यकरूप से पैर उठाकर गमन क्यों करेंगे? सामान्यपने तो ऐसा ही है, परन्तु इतना अवश्य है कि आकाशगामी ऋद्धिधारी मुनि की पैर उठाकर चलने की इच्छा हो तो वे पैर उठाकर भी चल सकते हैं।

भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में पैर उठाकर गमन करनेवाले

मुनि को देखकर इतना तो निश्चित है कि वे मुनि आकाशचारण या आकाशगामी ऋद्धि के धारी हैं। वहाँ वे मुनि किस ऋद्धि से गमन कर रहे हैं – यह तो वे मुनि या अवधिज्ञानधारी अन्य मुनि या सर्वज्ञ भगवान जान सकते हैं; अन्य कोई नहीं। इसलिए कर्तव्य पूरे करने चाहिए, क्योंकि हमारा पहला कर्तव्य ऋद्धिधारी को नमस्कार का है, हमारा दूसरा कर्तव्य ऋद्धि के निर्णय का है, यदि ऋद्धि का निर्णय हो सकता हो तो। ऋद्धि का निर्णय नहीं हो रहा हो उसका निर्णय सर्वज्ञ पर छोड़ देना चाहिए।

गमन के समय मार्ग-स्थित जीवों को पीड़ा न पहुँचना इस ऋद्धि का चारणत्व है।

शास्त्रों में आकाश-चारण ऋद्धिधारी मुनि को **देवर्षि** कहा है।

यह ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

चारण ऋद्धियों का सारांश

अब तक हमने पढ़ा है कि चारण अर्थात् चलना, जैसे जलचारण अर्थात् जल पर चलना। चारण का अर्थ चलना है – यह तो ठीक; परन्तु चारणत्व क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर धवलाकार के शब्दों में इसप्रकार है –

''तत्थ जीवपरिहरणकुसलत्तं चारणत्तं।''[1]

अर्थ – वहाँ (चारण ऋद्धियों में) जीवों के परिहार (रक्षा) के कौशल को चारणत्व है।

इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि सभी चारण ऋद्धियों में गमन करते समय जिस पदार्थ पर से गमन करते हैं, वहाँ के जीवों की न हिंसा होती है, न उनको किसी प्रकार की बाधा पहुँचती है, न उनकी किसी प्रकार से

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-79

विराधना होती है। गमन करते समय मार्ग में स्थित पुष्पादि पदार्थों के आश्रित जीवों को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचना ही चारण ऋद्धियों का चारणत्व है।

चारण ऋद्धि जिन्हें प्रकट होती है, ऐसे मुनिराज को भी चारण ही कहते हैं। यहाँ ऋद्धि का नाम भी चारण है तथा यह ऋद्धि जिनको प्रकट होती है, उनका नाम भी चारण कहा है।

प्रश्न – चारण कौन हैं?

उत्तर – जैसा कि ऊपर पढ़ा है कि जिस मुनि को चारण ऋद्धि प्राप्त होती है, वह मुनि चारण कहलाते हैं। तथा धवलाकार के अनुसार चरण कहो या चारित्र कहो या संयम कहो या पापक्रिया-निरोध कहो - इन चरण, चारित्र, संयम और पापक्रियानिरोध - चारों शब्दों का अर्थ एक ही है, ये चारों शब्द पर्यायवाची हैं, इनमें अर्थात् पापक्रियाओं का निरोध (नाश) करने में जो निपुण, कुशल होते हैं; वे चारण कहलाते हैं।

यहाँ **शंका** – मुनि पापरूप क्रिया अर्थात् विषय-भोग-परिग्रह के त्यागी होते हैं, यह तो समझ में आता है, परन्तु उनके द्वारा आहार-विहार आदि होते हैं, उन आहार-विहार आदि क्रियाओं में हिंसा होने से वे पापक्रियाओं के निरोधी कैसे कहलायेंगे?

उसका **समाधान** – आपका यह कहना सही है कि मुनि के आहार-विहार आदि होते हैं, और आहार-विहार आदि की क्रियाओं में हिंसा होती है, परन्तु किसी बाह्य-क्रिया से पुण्य या पाप का निर्धारण नहीं होता है, क्योंकि गृहस्थ की आहार की क्रिया से अशुभ प्रकृतियों का बंध होने से वह अशुभ कहलाती है, वहीं मुनि की आहारचर्या शुभ प्रकृतियों के बंधवाली होने से शुभ कहलाती है।

क्रियाओं के प्रयोजन या लक्ष्य से भी क्रिया के शुभत्व या अशुभत्व का निर्णय होता है, जैसे मुनि क्षुधाशांति, प्राणरक्षा, धर्म, संयम और

वैयावृत्ति के लिए आहार लेते हैं, इसलिए मुनि की आहार की चर्या शुभ बंधवाली कहलाती है।[1] वहीं गृहस्थ शरीर कांति, शरीरवृद्धि बलवृद्धि, आयुवृद्धि, स्वाद के लिए आहार लेते हैं, इसलिए गृहस्थ की आहार की क्रिया अशुभ बंधवाली कहलाती है।

मुनि शरीर में प्रमाद महसूस हो तो उपवास ग्रहण करते हैं और शरीर में शिथिलता महसूस हो तो आहार लेते हैं। उनके न उपवास का आग्रह होता है, न आहार का आग्रह होता है। आहार के लिए किसी से याचना नहीं करते हैं, अंतराय टालकर आहार लेते हैं। इसलिए यह जानना की मुनि की आहारचर्या और गृहस्थ की आहार की क्रिया में दिन-रात के समान भेद है। इसीलिए मुनि की आहारादि क्रियायें पापक्रियानिरोधी जानना। तथा यहाँ पापक्रियानिरोधत्व ही चारणत्व कहा है।

यहाँ एक और **शंका** है कि चारणऋद्धियाँ किस कारण से प्रकट होती हैं?

उसका **समाधान** – चारण ऋद्धियाँ चारित्र मोहनीय कर्म के विशेष क्षयोपशम तथा वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के विशिष्ट उदय से और अन्तरंग में परिणामों की विशेष विशुद्धि से होती हैं।

और अंत में भी षट्खण्डागम के सूत्र के शब्दों से चारण ऋद्धिधारियों को नमस्कार करके चारण ऋद्धियों का वर्णन पूरा करते हैं –

णमो चारणाणं।[2]

अर्थ – चारण ऋद्धिधारक जिनों को नमस्कार हो।

यहाँ क्रिया-ऋद्धि के प्रथम भेद चारण ऋद्धि का वर्णन पूर्ण हुआ। अब उसके दूसरे भेद आकाशगामी ऋद्धि का वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

---

1. चर्चासंग्रह, चर्चा क्रमांक-205,206, पृष्ठ क्रमांक-84
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-17

प्रश्न – चारण ऋद्धियों की अन्य कोई विशेषता क्या है?

उत्तर – चारण ऋद्धि धारी चौमासे में भी कहीं भी आ-जा सकते हैं।

यहाँ **शंका –** ऐसा है, तब तो चारण ऋद्धिधारी चौमासे का नियम ग्रहण नहीं करेंगे?

उसका **समाधान –** चौमासे में एक स्थान पर रहने का नियम उत्सर्ग है। यह नियम अनादि से है, क्योंकि आषाढ़ादि वर्षा-मासों में विकलत्रय जीवों की प्रचुरता होती है। यह नियम अहिंसा महाव्रत में गर्भित है। चूँकि चारण ऋद्धिधारी से जीवहिंसा नहीं होती है, इसलिए वे इसके अपवाद हैं।

जिस शक्ति से आकाश में गमन होता है – उसे आकाशगामी ऋद्धि नहीं कहते हैं, क्योंकि विद्याधर विद्या के द्वारा, देव भी दैविक शक्ति के द्वारा तथा कोई लेपादि[1] के द्वारा आकाश में गमन करते हैं, उन सबको आकाशगामी ऋद्धि निश्चितरूप से ही नहीं है।

1. आकाश-गामी-ऋद्धि

णमो आकासगामीणं।।[2]

अर्थ – आकाशगामी ऋद्धिधारी जिनों को नमस्कार हो।

आकाशगामी ऋद्धि क्रिया-ऋद्धि के दो भेदों में से दूसरा भेद है। इस ऋद्धि के नभस्तलगामी आदि अनेक नाम हैं। यह ऋद्धि भी चारण ऋद्धियों की तरह गमन से संबंधित है।

यहाँ शंका – यह ऋद्धि, चारण-ऋद्धियों की तरह गमन से संबंधित है, तो इसे चारण-ऋद्धियों से भिन्न क्यों कहा? चारण-ऋद्धियों में सम्मिलित क्यों नहीं किया?

---

1. आचार्य पूज्यपाद पैरों में गगनगामी लेप लगाकर विदेहक्षेत्र जाया करते थे। (सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, पृष्ठ-80)
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र.19, पृष्ठ-84

उसका **समाधान** – यह सही है कि आकाशगामी ऋद्धि, चारण-ऋद्धियों की तरह गमन से ही संबंधित है, परन्तु यह चारण-ऋद्धियों से भिन्न स्वरूप-वाली होने से इसे चारण-ऋद्धियों से भिन्न कहा है। चारण-ऋद्धियों में गमन का आधारभूत कोई न कोई पदार्थ होता है, उस पदार्थ को छूकर या बिना छुए धरती की तरह डग (कदम) भरते हुए चला जाता है, जबकि आकाशगामी ऋद्धि के गमन में आधारभूत कोई पदार्थ नहीं होता है, धरती की तरह डग भरने की आवश्यकता नहीं है, बैठकर, खड़े होकर, सोकर चाहे जैसे आसन से गमन की शक्ति होती है।

आकाशगामी ऋद्धि के द्वारा आकाश में इच्छानुसार गमन होता है। चारण-ऋद्धियों में इच्छानुसार गमन नहीं होता है, जैसे जलचारण ऋद्धिधारी मुनि, जलचारण ऋद्धि से जल पर ही गमन कर सकते हैं, जलचारण ऋद्धि से अग्नि पर से गमन नहीं कर सकते। आकाशगामी ऋद्धि में कोई बंधन नहीं है। यही कारण है कि आकाशगामी ऋद्धि को चारण-ऋद्धियों में शामिल न करके चारण-ऋद्धियों से भिन्न कहा है।

आकाशगामी ऋद्धि चारण-ऋद्धियों की तुलना में विशेष अधिक पुण्य के फल से या वीर्यान्तराय, लाभान्तराय तथा चारित्रमोहनीय कर्म के विशेष क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के विशेष उदय से प्रकट होती है।

धवलाकार के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है –

''पलियंक-काउसग्ग-सयणासण-पादुक्खेवादि-सव्वपयारेहि आगासे संचरणसमत्था आगासगामिणो।[1]

अर्थ – पल्यंकासन, कायोत्सर्गासन, शयनासन, पैर उठाकर आदि सभी प्रकार से आकाश में गमन की शक्तिवाले मुनि आकाशगामी होते हैं और उनकी उस शक्ति को आकाशगामी ऋद्धि कहते हैं। तथा

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-80

''आगासे जहिच्छाए गच्छंता इच्छिदपदेसं माणुसुत्तर-पव्वयावरुद्धं आगासगामिणो त्ति घेत्तव्वा।''[1]

अर्थ – आकाशगामी आकाश में मानुषोत्तर पर्वत से घिरे हुए इच्छित-प्रदेशों में इच्छानुसार कहीं पर भी गमन करनेवाले होते हैं।

यहाँ देव और विद्याधरों का ग्रहण नहीं करना, यद्यपि वे आकाश में गमन करने के कारण आकाशगामी कहलाते हैं, परन्तु जीवों के वध परिहार की कुशलता देव और विद्याधरों के गमन में नहीं पायी जाती है। जीवों के वध-परिहार की कुशलता मात्र ऋद्धिधारी मुनियों के गमन में ही पायी जाती है।[2]

धवलाकार के अनुसार यह ऋद्धि तप के बल से प्राप्त होती है।[3]

तिलोयपण्णत्तीकार आकाशगामी ऋद्धि को गगनगामिनी, नभस्तलगामी ऋद्धि कहते हैं। उन्होंने इस ऋद्धि का जो स्वरूप बताया है, वह लगभग वैसा ही है, जैसा धवलाकार ने बताया है –

उट्ठीओ आसीणो, काउस्सग्गेण इदरेणं।।
गच्छेदि जिए गयणे, सा रिद्धी गयण-गामिणी णामा।[4]

अर्थ – जिस ऋद्धि के द्वारा कायोत्सर्ग अथवा अन्य प्रकार से ऊर्ध्व (स्थित) होकर या बैठकर आकाश में गमन किया जाता है, वह गगनगामिनी (आकाशगामी) नामवाली ऋद्धि है।

इस ऋद्धि का राजवार्तिककार ने भी लगभग वैसा ही स्वरूप बताया है, जैसा धवलाकार और तिलोयपण्णत्तीकार ने बताया है –

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-84
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-85
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-85
4. तिलोयपण्णत्ती, भाग-2, गाथा-1042, पृष्ठ-310,311

''पर्यङ्कावस्था निषण्णा वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धार-विधिमन्तरेण आकाशगमनकुशला आकाशगामिनः।''[1]

अर्थ – पर्यंकासन में अथवा कायोत्सर्ग आसन में स्थित शरीर से पैरों को उठाये बिना आकाश में गमन करने में कुशल मुनि को आकाशगामी मुनि कहते हैं। उनकी इसप्रकार से आकाश में गमन कर सकने की शक्ति को आकाशगामी ऋद्धि कहते हैं।

आकाशगामी ऋद्धि में 45 लाख योजन मानुषोत्तर पर्वत के भीतरी क्षेत्र में कहीं भी इच्छानुसार गमन करने की शक्ति होती है। आसन का कोई बंधन नहीं है, बैठे-बैठे पल्यंकासन से, या खड़े-खड़े कायोत्सर्गासन से या लेटे-लेटे शयनासन से किसी भी आसन से गमन कर सकने की शक्ति होती है। आकाश में तीर्थंकर की तरह डग भरते हुए या बिना डग भरते हुए गमन करने की शक्ति होती है। इसमें गमन की शक्ति असंख्यात योजन की होती है। इतनी तीव्र गति से गमन होने पर भी मार्ग के जीवों की विराधना नहीं होती है।

आकाशगामी ऋद्धिधारी मुनि भगवन्तों को नमस्कार के साथ ऋद्धि का वर्णन पूरा करते हैं-

णमो आकासगामीणं।।[2]

अर्थ – आकाशगामी जिनों को नमस्कार हो।

इस प्रकार क्रिया ऋद्धियों का वर्णन पूर्ण हुआ।

****

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-19, पृष्ठ-84

अध्याय–4

3. विक्रिया–ऋद्धियाँ

णमो विउव्वणपत्ताणं।।[1]

विक्रिया ऋद्धि प्राप्त जिनों को नमस्कार हो।

प्रश्न – विक्रिया किसे कहते हैं?

उत्तर – विशेष प्रकार की क्रिया को विक्रिया कहते हैं।

प्रश्न – वह विशेष प्रकार की क्रिया कौन-सी है?

उत्तर – शरीर को छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, अप्रतिघाती, विचित्ररूपवाला, अनेकरूपवाला आदि अनेक प्रकार और अनेक गुणवाला बना सकने की क्रिया को विशेष क्रिया कहा है।

क्रिया ऋद्धियों में शरीर से गमन संबंधी चर्चा थी। विक्रिया ऋद्धि में शरीर को छोटा-बड़ा-हल्का-भारी-अदृश्य करने, अनेक आकार रूप धारण करने, पर्वत आदि से निकालने, हाथ से सूर्य-चन्द्रादि को छूने आदि की चर्चा है।

जिन ऋद्धियों की चर्चा इस प्रकरण में करेंगे, वे ऋद्धियाँ मुनिराजों को ही प्रकट होती हैं। सामान्यतः विक्रिया देव, नारकी, विद्याधर, चक्रवर्ती, तिर्यंचों के भी होती है।[2] मुनियों की विक्रिया और देवादि की विक्रिया में बहुत अन्तर है।

प्रश्न – शास्त्रों में विक्रिया किसे कहा गया है?

उत्तर – धवलाकार के अनुसार-विविध गुणों एवं ऋद्धि से

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-15, पृष्ठ-75
2. ब्र.रायमल्ल, चर्चासंग्रह, चर्चा-78, पृष्ठ-29

युक्त होने को अथवा विविध गुणवाली ऋद्धि से युक्त होने को विक्रिया कहते हैं -

विविहगुणइड्ढिजुत्तं वेउव्वियमिदि।[1]

अर्थ – नाना प्रकार गुण व ऋद्धियुक्त होना ही विक्रिया है।

प्रश्न – वे विविध गुण कौन से हैं?

उत्तर – शरीर को अनेक प्रकार से बदल सकना ही यहाँ विविधगुणत्व है। अर्थात् शरीर को अनेक प्रकार से बदलने को विक्रिया कहते हैं।

प्रश्न – विक्रिया ऋद्धि के भेद कितने हैं?

उत्तर – विक्रिया ऋद्धि के धवलाकार वीरसेन आचार्य के अनुसार आठ, आचार्य अकलंक, आचार्य यतिवृषभ, श्रुतसागर सूरि के अनुसार अनेक हैं। परमर्षि स्वस्ति मंगल-पाठ के अनुसार ग्यारह हैं।

प्रश्न – विक्रिया-ऋद्धि के भेदों के संबंध में भिन्नता क्यों है?

उत्तर – वीरसेनाचार्य के अलावा शेष आचार्यों ने विक्रिया ऋद्धि के अनेक भेद माने हैं। वीरसेनाचार्य ने विक्रिया ऋद्धि आठ भेदवाली ही मानी है -

विउव्वणमट्ठविहं।[2]

अर्थ – विक्रिया आठ प्रकार की होती है।

भले ही वीरसेनाचार्य ने विक्रिया आठ प्रकार की बतायी है, परन्तु जब वे विक्रिया का वर्णन करते हैं, तब कहते हैं कि विविध गुण व ऋद्धि से युक्त होना विक्रिया है। गुण व ऋद्धि अनेक प्रकार के हैं, इससे उनके मत में भी विक्रिया अनेक प्रकार की सिद्ध होती है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-76
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-76

आचार्य यतिवृषभ विक्रिया के भेदों के संबंध में कहते हैं –

"................................... विविह-भेएहिं।

रिद्धि-विकिरिया णामा, समणाणं तव-विसेसेण।।"[1]

अर्थ – विक्रिया-ऋद्धि विविध भेदवाली है, जो श्रमणों को तप विशेष से प्राप्त होती है।

आचार्य अकलंक देव के अनुसार –

"विक्रियागोचरा ऋद्धिरनेकविधा।"[2]

अर्थ – विक्रिया से संबंधित ऋद्धि अनेक प्रकार की है।

"विक्रियर्द्धिः अणिमादिभेदैरनेकप्रकारा।"[3]

अर्थ – विक्रिया ऋद्धि अणिमा आदि भेदों से अनेक प्रकार की है। यद्यपि इन आचार्यों ने विक्रिया के अनेक प्रकार बताये हैं, परंतु जब इस ऋद्धि के नामों की बात आई, तब ग्यारह नाम गिनाये हैं।

विक्रिया ऋद्धि के परमर्षि स्वस्ति-मंगल-पाठ में, तिलोयपण्णत्ती में, राजवार्तिक में, तत्त्वार्थवृत्ति में ग्यारह नाम गिनाये हैं, इसलिए विक्रिया ऋद्धि ग्यारह प्रकार की है – ऐसी प्रसिद्धि हुई।

विक्रिया ऋद्धि के ग्यारह नाम इसप्रकार हैं –

1. अणिमा, 2. महिमा, 3. लघिमा, 4. गरिमा, 5. कामरूपित्व, 6. ईशत्व, 7. वशित्व, 8. प्राकाम्य, 9. प्राप्ति, 10. अप्रतिघात, 11. अन्तर्धान।

धवलाकार ने 1. गरिमा, 2. अन्तर्धान, 3. अप्रतिघात के अलावा शेष आठ को विक्रिया-ऋद्धि के भेद माने हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1034, पृष्ठ-308
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-562
3. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-313

विक्रिया ऋद्धि के नामवाले उद्धरण इसप्रकार हैं –

अणिमा महिमा लघिमा गरिमा पत्तीय तह अ पाकम्मं।
ईसत्त वसित्ताइं अप्पडिघादंतधाणा य।।
रिद्धी हु कामरूवा एवं रुवेहि विविह–भेएहिं।
रिद्धि–विकिरिया णामा, समणाणं तवविसेसेण।।[1]

अर्थ – अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान और कामरूप–इस प्रकार अनेक भेदों से युक्त विक्रिया नाम की ऋद्धि तपविशेष से श्रमणों के हुआ करती है।

''विक्रियागोचरा ऋद्धिरनेकविधा अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वमप्रतिघातोऽन्तर्धानं काम–रूपित्वमित्येवमादिः।''[2]

अर्थ – विक्रियागोचर ऋद्धि अनेक प्रकार की है, अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्धान, कामरूपित्व इत्यादि।

अणिम्नि दक्षा कुशला महिम्नि, लघिम्नि शक्ता कृतिनो गरिम्णि।
सकामरूपित्ववशित्वमैश्यं, प्राकाम्यमन्तर्धिमथाप्तिमाप्ता।
तथाप्रतिघात गुणप्रधाना, स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।[3]

अर्थ – अणिमा में दक्ष, महिमा में कुशल, लघिमा में समर्थ, गरिमा में सफल, कामरूपित्व, वशित्व, ईशत्व, प्राकाम्य, अन्तर्धान, आप्ति, अप्रतिघात गुणों में प्रधान सभी परम ऋषि हमारा मंगल करें।

इन पंक्तियों में पूर्व कहे अनुसार ही विक्रिया ऋद्धि के ग्यारह

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1033–34, पृष्ठ–308
2. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–562
3. परमर्षिस्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक–6,7 पृष्ठ–78

नाम कहे हैं। धवलाकार के अनुसार विक्रिया के आठ नाम -

''अणिमा महिमा लहिमा पत्ती पागम्मं ईसित्तं वसित्तं कामरूवित्तमिदिं विउव्वणमट्ठविहं।''[1]

अर्थ - अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, कामरूपित्व इसप्रकार विक्रिया आठ प्रकार की होती है।

उक्त उद्धरणों से सिद्ध है कि सिर्फ धवलाकार ने विक्रिया के आठ भेद माने हैं, शेष आचार्यों ने ग्यारह भेद गिनाकर विक्रिया अनेक भेदवाली कही है।

प्रत्येक तीर्थंकर भगवान के सात प्रकार के गण (संघ) होते हैं - 1. पूर्वधर (पूर्वों के ज्ञान के धारी), 2. शिक्षक, 3. केवलज्ञानधारी, 4. विपुलमति मन:पर्ययज्ञानधारी, 5. अवधिज्ञानधारी, 6. वादित्व ऋद्धिधारी और 7. विक्रिया ऋद्धिधारी।

विक्रिया ऋद्धि की विशेषता के कारण तीर्थंकर के सात प्रकार के संघ में विक्रिया ऋद्धिधारी की गणना हुई है। ऋषभदेव के शासनकाल में विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या 20,600 थी[2], महावीर के शासन काल में विक्रिया ऋद्धिधारी 900 थे।[3]

तीर्थंकर का संघ 'सप्तविध संघ' होता है। केवलज्ञानधारी को छोड़कर शेष छह प्रकार के मुनि अन्य गणधर आदि आचार्यों के संघ में हुआ करते हैं। तीर्थंकर के संघ की दो विशेषताएँ - 1. वह मात्र मुनियों का संघ है। 2. वही संघ एकमात्र ऐसा संघ है, जिसमें केवलज्ञानी होते हैं।

प्रत्येक तीर्थंकर के सात गणों के नामों को बतानेवाली गाथा तिलोयपण्णत्ती गंथ में हैं -

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-75
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1110, पृष्ठ-329
3. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1172, पृष्ठ-343

पुव्वधर-सिक्ख-ओही-केवलि-वेउव्वि-विपुलमदि-वादी।
पत्तेक्कं सत्त-गणा, सव्वाणं तित्थ-कत्ताणं।।[1]

अर्थ - सभी तीर्थकर्ताओं में प्रत्येक तीर्थंकर्ता के पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी, विक्रिया ऋद्धिधारी, विपुलमति और वादी ये सात गण होते हैं।

इन सात गणों में पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवलज्ञानी, विपुलमति और वादी ये छह गण बुद्धि ऋद्धि से संबंधित हैं तथा विक्रियाधारी गण विक्रिया ऋद्धि से संबंधित है।[2]

प्रश्न - विक्रिया-ऋद्धि, मुनि के ही होती है, यह तो जाना, पर जिज्ञासा है कि विक्रिया, मुनि के अतिरिक्त और किस-किसके पायी जाती है?

उत्तर - विक्रिया नाम की ऋद्धि मात्र मुनियों के ही होती है, यह तो स्पष्ट है। मुनि के अतिरिक्त कर्मभूमि के मनुष्य, तिर्यंच, भोगभूमि के मनुष्य-तिर्यंच के पर्याप्त दशा में, चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती, देव, नारकी, बादर अग्निकाय-बादर वायुकाय पर्याप्त जीव - इनके विक्रिया होती है।

इनमें से देव, भोगभूमि के मनुष्य-तिर्यंच, चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती के पृथक्, अपृथक् दोनों प्रकार की विक्रिया होती हैं। नारकी, कर्मभूमि के मनुष्य-तिर्यंच, अग्निकाय, वायुकाय जीव, बादर पर्याप्त जीव-इनके अपृथक् विक्रिया ही पायी जाती है।

बादरतेऊवाऊ पंचिंदियपुण्णगा विगुव्वंति।
ओरालियं सरीरं विगुव्वणप्पं हवे जेसिं।।[3]

अर्थ - बादर तैजस्कायिक बादर वायुकायिक, संज्ञी पंचेन्द्रिय

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1109, पृष्ठ-329
2. गोम्मटसार, गाथा-233
3. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-233, पृष्ठ-371

पर्याप्त तिर्यंच और मनुष्य, भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंच अपने-अपने औदायिक शरीर को विक्रियारूप परिणमाते हैं।

सभी ऐसा नहीं करते, किन्तु जिन जीवों का औदारिक शरीर ही विक्रियारूप होता है, वे जीव अपृथक् विक्रिया करते हैं। भोगभूमिया और चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया करते हैं।

पृथक् विक्रिया उसे कहते हैं-जिससे एक ही शरीर के अनेक शरीर किए जावे, और अपृथक् विक्रिया उसे कहते हैं, जिसमें मूल एक ही शरीर को (मूल शरीर को) सिंह, सर्प आदि अनेक रूप में परिणमावें, भिन्न-भिन्न शरीर न बना सके।[1]

प्रश्न – पृथक् विक्रिया के अनेक शरीरों में उपयोग एक ही रहता है या भिन्न-भिन्न?

उत्तर– पृथक् विक्रिया के अनेक शरीरों में उपयोग एक ही रहता है, क्योंकि उन शरीरों से की जानेवाली क्रियाएँ एक ही जाति की होती हैं। विक्रिया के द्वारा चक्रवती, देव, जुगलिया, अर्धचक्रवर्ती अनेक स्त्रियों आदि भोगों को एक ही काल में भोगते हैं, इन्द्र एक ही काल में हजार जीभें (जिह्वाएँ) बनाकर भगवान की भक्ति करता है, हजार नेत्र बनाकर भगवान अनुपम रूप को निहारता है, एक हजार हाथ बनाकर एक हजार कलशों से एक ही काल में भगवान का अभिषेक करता है। इन सब में उपयोग एक ही रहता है, क्योंकि क्रियाएँ एक ही जाति की होती है।[2]

अब प्रत्येक विक्रिया ऋद्धि के स्वरूप का विचार करते हैं।

1. अणिमा-विक्रिया-ऋद्धि

शरीर की अवगाहना नामकर्म के उदय से भिन्न-भिन्न होती है। मुनि के शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना 525 धनुष की होती है और जघन्य

1. चर्चा संग्रह, चर्चा-138, पृष्ठ 63-64 (अलवर प्रकाशन)
2. चर्चा संग्रह, चर्चा-139, पृष्ठ 64 (अलवर प्रकाशन)

अवगाहना साढ़े तीन हाथ प्रमाण होती है। मध्यम अवगाहना अनेक प्रकार की होती है, नामकर्म के उदय से प्राप्त चाहे जिस अवगाहनावाले शरीर को अणुप्रमाण बना सकने की शक्ति को अणिमा ऋद्धि कहते हैं।

धवलाकार के अनुसार इस ऋद्धि से बड़े से बड़े शरीर को संकुचित करके अणुप्रमाण बनाया जाता है –

महापरिमाणं सरीरं संकोडिय परमाणुपमाणसरीरेण अवट्ठाणमणिमाणाम।।[1]

अर्थ – महापरिमाणवाले 525 धुनष प्रमाण शरीर को संकुचित करके परमाणु प्रमाण शरीर से स्थित होना अणिमा नाम की ऋद्धि है।

कर्मभूमि के मनुष्य की उत्कृष्ट अवगाहना 525 धनुष की होती है, मुनि कर्मभूमि (के आर्यखंड) में ही हुआ करते हैं। इसलिए मुनि की उत्कृष्ट अवगाहना 525 धनुष होती है और जघन्य अवगाहना 3 1/2 (साढ़े तीन) हाथ की होती है।

''सूक्ष्मशरीरविधानमणिमा।।''[2]

अर्थ – शरीर को सूक्ष्म अर्थात् अणु जितना बनाने का विधान अणिमा ऋद्धि है।

''अणुशरीरविकरणमणिमा।।''[3]

अर्थ – मूल शरीर को अणुप्रमाण शरीर के रूप में बदलना अणिमा ऋद्धि है।

''अणुतणु–करणं अणिमा।''[4]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4 भाग–1, पुस्तक 9, पृष्ठ–75
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–313
3. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–562
4. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1035, पृष्ठ–309

अर्थ – मूल शरीर को अणुप्रमाण में बदलना अणिमा ऋद्धि है।

यतिवृषभ, अकलंक, श्रुतसागर इस ऋद्धि में शरीर को अणु प्रमाण बनाने के अलावा अन्य विशेषताओं को भी कहते हैं। उनके अनुसार शरीर को अणुप्रमाण बना लेना तथा अणुप्रमाण छिद्र में उस शरीर के साथ प्रवेश करना तथा प्रवेश करके वहाँ चक्रवर्ती के सेना की रचना करने की शक्ति अणिमा ऋद्धि होती है –

''अणु-तणु-करणं अणिमा अणुच्छिदे पविसिदूण तत्थेव।
विकिरदि खंधावारं णिस्सेसं चक्कवट्टिस्स।।''[1]

अर्थ – शरीर को अणुप्रमाण बना लेना तथा उस अणुप्रमाण शरीर के द्वारा अणुप्रमाण छेद में प्रवेश करके वहाँ चक्रवर्ती की सम्पूर्ण सेना की रचना करना अणिमा ऋद्धि है।

''अणुशरीरविकरणमणिमा, विसछिद्रमपि
प्रविश्याऽऽसित्वा तत्र च चक्रवर्तिपरिवारविभूतिं सृजेत्।।''[2]

अर्थ – शरीर को अणुप्रमाण बना लेना अणिमा है तथा उससे कमलनाल के सूक्ष्म छेद में प्रवेश करके वहाँ बैठकर चक्रवर्ती के परिवार (सेना) के वैभव की रचना करना अणिमा ऋद्धि है।

जैन आगमों में विष्णुकुमार मुनि की कथा प्रसिद्ध है। विष्णुकुमार मुनि ने अणिमा ऋद्धि से शरीर छोटा बनाया था।[3]

यहाँ **शंका** – मुनिराज को अणिमा ऋद्धि से क्या लाभ है?

उसका **समाधान** – मुनिराज को इस ऋद्धि से शरीर छोटा करने से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि शरीर के छोटा-बड़ा होने में सुख-दुख

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1035, पृष्ठ-309
2. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-562
3. हरिवंशपुराण, सर्ग-22

का संबंध नहीं है। सुमेरु पर्वत और प्रथम स्वर्ग के इन्द्रक ऋतु विमान के बीच आड़े बाल जितना अंतर है। कदाचित् किसी मुनिराज को वहाँ जाकर ध्यान करने का विकल्प आये तो इस ऋद्धि के द्वारा पूर्ण हो सकता है।

अणिमा ऋद्धि का तात्पर्य यह नहीं कि अणु जितना छोटा शरीर बनाना ही अणिमा है, अपितु मूल शरीर को इच्छानुसार चाहे जितना छोटा बनाना अणिमा ऋद्धि है। अणु जितना छोटा शरीर बनाना अणिमा ऋद्धि की चरम सीमा है।

अणिमा शब्द अणु शब्द से इमनिच् प्रत्यय करके बनता है। ऋद्धि में अणु शब्द का अर्थ सूक्ष्म/छोटा है।

यह ऋद्धि सूक्ष्म नामकर्म के विशिष्ट उदय से, वीर्यान्तराय, लाभान्तरायकर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से तपोबली को प्राप्त होती है।

2. महिमा–विक्रिया–ऋद्धि

जीवों के शरीरों की अवगाहना नामकर्म के उदय से भिन्न–भिन्न होती है। मुनि के शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना 525 धनुष की होती है और जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ प्रमाण होती है तथा मध्यम अवगाहना अनेक प्रकार की है। नामकर्म के उदय से प्राप्त जिस किसी प्रकार की अवगाहना वाला शरीर हो, उस शरीर को मेरुप्रमाण बना सकने की शक्ति को महिमा ऋद्धि कहते हैं।

महिमा ऋद्धि में शक्ति इतनी अधिक होती है कि उससे शरीर को मेरु से भी बड़ा बनाया जा सकता है, परंतु मनुष्य शरीर मनुष्यलोकप्रमाण ही बड़ा हो सकता है, मनुष्यलोक ऊँचाई में मेरुप्रमाण ही है, इसलिए इस ऋद्धि में जगह मेरु प्रमाण शरीर को बड़ा करना – ये शब्द आये हैं।

महिमन् शब्द से इमनिच् प्रत्यय जोड़कर महिमा शब्द बनता है।

धवलाकार के अनुसार परमाणुप्रमाण देह को मेरु-गिरि के समान करना महिमा नाम की विक्रिया है -

परमाणु-प्रमाण-देहत्थस्स मेरुगिरिसरिससरीरकरणं महिमा णाम।[1]

धवलाकार ने '**देहत्थस्स**' शब्द लिखा है, उसका हिन्दी अनुवादकर्ता ने देह स्थित वस्तु को मेरुप्रमाण बना लेना महिमा नाम की विक्रिया ऋद्धि कहा है।

धवलाकार के मत में कदाचित् देह परमाणु-प्रमाण अर्थात् छोटी हो तो भी इस ऋद्धि के द्वारा, उसे मेरु जितना बड़ा बनाया जा सकता है।

अथवा दोनों ऋद्धियाँ प्रकट हों, सो अणिमा ऋद्धि से शरीर को अणु जितना बनाया हो, फिर महिमा ऋद्धि से उसी शरीर को मेरुप्रमाण बड़ा बनाएँ।

श्रुतसागर के अनुसार शरीर को बड़ा बना सकने की शक्ति को महिमा ऋद्धि कहते हैं -

''महाशरीर विधानं महिमा।''[2]

श्रुतसागर यह नहीं बताते कि कितना बड़ा बनाना, वे सरल भाषा में इतना ही कहते हैं कि शरीर को बड़ा बनाना ही महिमा नाम की ऋद्धि है।

आचार्य अकलंक के अनुसार शरीर को मेरु से भी बड़ा बना सकने की शक्ति महिमा ऋद्धि में है -

''मेरोरपि महत्तरशरीरविकरणं महिमा।''[3]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-75
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-313
3. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-313

आचार्य अकलंक के अनुसार महिमा ऋद्धि में शरीर को बड़ा बना सकने की शक्ति तो इतनी होती है कि उस शक्ति से शरीर को मेरु से भी बड़ा बना लें, परंतु मनुष्य शरीर मनुष्य-लोक से बड़ा नहीं हो सकता। मनुष्य-लोक की ऊँचाई मेरुप्रमाण है। इसलिए मुनि महिमा ऋद्धि से शरीर को मेरु जितना ही बना सकते हैं, उससे बड़ा नहीं।

धवलाकार की तरह तिलोयपण्णत्तीकार भी शरीर को मेरु प्रमाण बना सकने को महिमा ऋद्धि कहते हैं -

''मेरुवमाणदेहा महिमा।''[1]

इस ऋद्धि का आशय इतना ही है कि शरीर को मेरु जितना या उससे भी बड़ा बना सकने की शक्ति ही महिमा ऋद्धि है।

हनुमान राम के कहने से सीता के समाचार लेने के लिए गए, तब उन्होंने त्रसरेणु प्रमाण शरीर को बनाया।

त्रसरेणुप्रमाणं स्वशरीरमकृताद्भुतम्।[2]

इसका उदाहरण अणिमा ऋद्धि की तरह विष्णुकुमार मुनि की कथा में जानना, जिसमें उन्होंने शरीर को बड़ा बनाया था।[3]

महिमा ऋद्धि के वर्णन में दो बाते समझ में आती है कि अन्य शास्त्रकारों के अनुसार शरीर को मेरु जितना बड़ा बना सकना या धवलाकार के अनुसार शरीर-स्थित वस्तु को मेरु जितना बड़ा बना सकते की शक्ति महिमा नाम की ऋद्धि कहते हैं।

इस वर्णन को सुनकर **जिज्ञासा** होती है कि शरीर को मेरु प्रमाण बड़ा बनाना ही क्यों बताया है?

उसका **समाधान** यह है कि मनुष्यलोकप्रमाण शरीर को बड़ा बना सकने की शक्ति महिमा ऋद्धि में होती हैं। 45 लाख योजन ढाई

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1036, पृष्ठ-309
2. उत्तरपुराण, पर्व-58, श्लोक-279, पृष्ठ-297
3. हरिवंशपुराण, सर्ग-22

द्वीप प्रमाण तिर्यक् तथा सुमेरु प्रमाण ऊर्ध्व मनुष्यलोक या मध्यलोक है, इसलिए महिमा ऋद्धि के वर्णन में सर्वत्र मेरुप्रमाण शब्द बताया है। परन्तु महिमा ऋद्धिधारी मुनि में शक्ति तो उससे बड़ा शरीर बनाने की होती है – ऐसा आशय जानना।

यहाँ **शंका** है कि मुनि को महिमा ऋद्धि से क्या लाभ है?

उसका **समाधान** – मुनि ऋद्धियों की प्राप्ति से और तो कोई प्रयोजन समझ में नहीं आता कि कदाचित् साक्षात् जीवन्त परमात्मा तीर्थंकर, केवली, श्रुतकेवली, अकृत्रिम या सातिशय कृत्रिम जिनबिंब के दर्शन का भाव हो, ऋद्धि से पूर्ति हो सके तो कर लें।

वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से तथा बादर नामकर्म के विशिष्ट उदय से यह महिमा ऋद्धि प्रकट होती है।

3. लघिमा–विक्रिया–ऋद्धि

लघु शब्द से इमनिच् प्रत्यय करके लघिमा शब्द बनता है, जिसका अर्थ लघु कर सकने की शक्ति है। यहाँ लघु का अर्थ – हल्का है। शरीर को हल्का (कम वजनवाला) कर सकने की शक्ति, लघिमा ऋद्धि कहलाती है।

यहाँ इस ऋद्धि से शरीर को हल्का कम भार वाला होना ही जानना। ऐसा नहीं जानना कि केवलज्ञान होने पर, जैसे शरीर परम औदारिक होकर 5000 धनुष ऊपर जाता है, वैसे अपने आप ऊपर जाता हो। इस ऋद्धि से शरीर हल्का होता है, ऊपर अपने आप नहीं जाता। मुनि की इच्छा हो तो ऊपर जाये, नहीं तो नहीं।

प्रश्न – शरीर को कितना हल्का कर सकने की शक्ति लघिमा ऋद्धि कहलाती है?

उत्तर – शरीर को वायु से भी हल्का कर सकने की शक्ति,

लघिमा ऋद्धि कहलाती है। यही तिलोयपण्णत्तीकार कहते हैं -

''अणिलाउ लहुतरो लहिमा।''[1]

अर्थ - (शरीर को) वायु से भी लघुतर (हल्का अथवा पतला) करने को लघिमा-विक्रिया-ऋद्धि कहते हैं।

अकलंक भी यही अर्थ बताते हैं -

''वायोरपि लघुतरशरीरता लघिमा।।''[2]

अर्थ - शरीर का वायु से भी लघुतर (हल्का अथवा पतला) करना लघिमा नाम की विक्रिया (ऋद्धि) है।

श्रुतसागर भी इसी अर्थ को सरल भाषा में बताते हैं-

लघुशरीर-विधानं लघिमा[3]

अर्थ - शरीर को लघु बनाना लघिमा नाम की विक्रिया (ऋद्धि) है।

इस विक्रिया के संबंध में धवलाकार का आशय तो पूर्ववत् है, परन्तु शब्द-रचना भिन्न है-

''मेरुपमाणसरीरेण मक्कडतंतुहि परिसक्कणणिमित्तसत्ती लघिमा णाम।''[4]

अर्थ - मेरुप्रमाण शरीर से मकड़ी के तंतुओं पर से परिसंचरण (चलने) में निमित्तभूत शक्ति का नाम लघिमा विक्रिया (ऋद्धि) है।

इनका आशय यह है कि शरीर आकार में चाहे मेरु जितना हो, परन्तु वह शरीर इस शक्ति से इतना हल्का हो जाता है कि उससे मकड़ी के तंतुओं पर से चला जा सकता है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1036
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36
3. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36
4. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9

प्रश्न – तंतुचारण क्रिया और लघिमा विक्रिया – इन दोनों ऋद्धियों में क्या अन्तर है? क्योंकि तंतुचारण ऋद्धि में भी यही कहा था कि मकड़ी के जाले पर चल सकने की शक्ति का नाम तंतुचारण ऋद्धि है और यहाँ धवलाकार भी वही अर्थ कह रहे हैं?

उत्तर – तंतुचारण ऋद्धि में मकड़ी के तंतुओं पर चल सकने का कौशल बताया है, लघिमा विक्रिया ऋद्धि में चल सकने का कौशल नहीं बताना है, अपितु शरीर का इस ऋद्धि के द्वारा हल्का होना बताया है। यही दोनों में अंतर है। चल सकने की कुशलता चारण ऋद्धि कहलाती है और शरीर को (वायु से भी) हल्का करा सकने की कुशलता विक्रिया ऋद्धि कहलाती है।

प्रश्न – लघिमा विक्रिया ऋद्धि से शरीर हवा से भी हल्का हो जाता है, उस शक्ति से लोकाकाश के अंत तक जाना चाहिए?

उत्तर – नहीं, ऋद्धि से मनुष्य शरीर मनुष्यलोक से बाहर नहीं जा सकता। अर्थात् लघिमा ऋद्धि से शरीर लोक के अंत तक नहीं ले जा सकता है, क्योंकि कोई भी ऋद्धि हो, चाहे जितनी शक्तिशाली हो, परंतु वह सिद्धान्तविरोधिनी नहीं होती है। शरीर को लघिमा ऋद्धि से हवा से भी हल्का करके गुब्बारे की तरह ऊपर ले जाया जा सकता है। परन्तु कहाँ तक? यह तो मुनि की इच्छा पर है, क्योंकि यह ऋद्धि मुनि की इच्छा पर निर्भर होती है, परंतु मेरु से ऊपर नहीं मानुषोत्तर से बाहर नहीं।

कोई भी ऋद्धि चाहे जितनी सामर्थ्यवाली हो, सिद्धान्तों का उल्लंघन करने में असमर्थ ही होती है। ऋद्धि मुनि के होती है, मुनि मनुष्य हैं, वे ऋद्धि के द्वारा मनुष्य-क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकते, मनुष्य-क्षेत्र तिर्यक् में 45 लाख योजन ढाई द्वीप प्रमाण तथा ऊर्ध्व में सुमेरु शिखर प्रमाण है। लोकाकाश के अंत तक जाने का ऊर्ध्वगमन स्वभाव तो मुक्त जीव के व्यक्त होता है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव जीव का है, जड़

शरीर का नहीं। लोकाकाश के अंत तक निगोदिया जीव पाये जाते हैं, वे वहाँ ऋद्धि से नहीं गये हैं, स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं, इसलिए यह जानना कि मनुष्य शरीर अपनी मर्यादा प्रमाण सुमेरुप्रमाण ही बड़ा हो सकता है, उससे बड़ा नहीं। अर्थात् हल्का हो तो भी सुमेरु से आगे नहीं।

यहाँ **शंका** – मुनिराज को लघिमा ऋद्धि से क्या लाभ है?

उसका **समाधान** – इस ऋद्धि से शरीर अपने आप हल्का हो जाता है। लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि 'कम सामान, सफर आसान' वैसे शरीर हल्का हो तो ध्यान गमन आदि शारीरिक क्रियायें सहज सुगम हो जाती हैं। तीर्थवंदना, तीर्थंकरादि के दर्शनादि भी सहज-सुगम हो जाते हैं।

यह ऋद्धि औदारिक शरीर से संबंधित है। अगुरुलघु नामकर्म के विशिष्ट उदय से, वीर्यान्तराय और लाभान्तराय कर्मों के विशेष क्षयोपशम से प्रकट होती है।

4. गरिमा-विक्रिया-ऋद्धि

गुरु शब्द से इमनिच् प्रत्यय जोड़कर गरिमा शब्द बनता है, जिसका अर्थ है, गुरु अर्थात् भारी कर सकने की शक्ति। यहाँ गुरु शब्द का अर्थ – भारी (वजनदार) है। शरीर को गुरु (वजनदार) कर सकने की शक्ति, गरिमा ऋद्धि कहलाती है।

प्रश्न – शरीर को कितनी भारी कर सकने की शक्ति, गरिमा ऋद्धि कहलाती है?

उत्तर– शरीर को वज्र से भी (असंख्यात गुणा अधिक) भारी कर सकने की शक्ति, गरिमा ऋद्धि कहलाती है। यही तिलोयपण्णत्तीकार कहते हैं –

''वज्जाहिंतो गुरुवत्तणं च गरिमा त्ति भण्णंति।''[1]

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1036

अर्थ – शरीर को वज्र से भी अधिक भारी (गुरुता युक्त) कर लेने को गरिमा ऋद्धि कहते हैं।

आचार्य अकलंक भी यही बताते हैं –

''वज्रादपि गुरुतर–देहता गरिमा।''[1]

अर्थ – शरीर को वज्र से भी अधिक गुरु (भारी) करना गरिमा नाम की विक्रिया (ऋद्धि) है।

श्रुतसागर भी इसी अर्थ को सरल भाषा में बताते हैं –

''गुरुशरीर–विधानं गरिमा।''[2]

अर्थ – शरीर को गुरु (भारी) बनाना गरिमा नाम की विक्रिया (ऋद्धि) है।

धवलाकार ने विक्रिया के आठ भेद बताये हैं, उनमें गरिमा नाम की विक्रिया नहीं बतायी है। गरिमा को धवलाकार ने विक्रिया क्यों नहीं माना है, इस प्रश्न का उत्तर धवलाकार या सर्वज्ञ ही दे सकते हैं, क्योंकि इस संबंध में धवलाकार ने कुछ नहीं लिखा है।

या हो सकता है यह ऋद्धि उनके भावों में हो तथा लेखनी में न आयी हो। यह ऋद्धि लघिमा ऋद्धि से विलोम (विपरीत) है। चूंकि लघिमा का वर्णन कर चुके हैं, इसलिए हो सकता है, यह ऋद्धि उनके भावों में हो या बल ऋद्धि के साम्यवाली जानकर इसे अलग से न कहा हो।

प्रश्न – इस ऋद्धि का कोई उदाहरण है?

उत्तर – रावण के द्वारा कैलाश पर्वत उठाये जाने पर जिनालय जीव–जन्तुओं के रक्षा के भाव से बाली मुनि ने[3] शरीर को इस ऋद्धि के द्वारा थोड़ा–सा ही भारी किया था, जिससे पर्वत रावण के हाथ से धीरे–

---

1. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय–3, सूत्र–36
3. आचार्य रविषेण, पद्मपुराण, भाग–1, पर्व–9, श्लोक–217, पृष्ठ–213

धीरे मुकुट पर आया। रावण का मुकुट टूट गया, सिर पर आया भार तब रावण रोने लगा, घुटने जमीन पर टिक गए। मंदोदरी ने पति के प्राणों की भिक्षा माँगी। मुनि बाली ने क्षमाभाव से अँगूठे का भार हटा लिया।

बालक महावीर ने इन्द्र की शंका को दूर करने शरीर को भारी अर्थात् वजनदार किया था। कोई कहे कि ये बल ऋद्धि के कार्य हैं। नहीं, बल ऋद्धि से पदार्थ उठाये जाते हैं, न कि पटके या दबाये जाते हैं।

यहाँ **शंका** – अणिमा आदि ऋद्धियों से शरीर को छोटा-बड़ा-हल्का-भारी किया जाता है, इससे जीव को क्या लाभ है? इनसे किस प्रयोजन की सिद्धि होती है?

समाधान – अणिमा आदि ऋद्धियों से शरीर को छोटा-बड़ा आदि किया जाता है। इनसे शरीर को ही छोटा-बड़ा आदि किया जाता है, जीव को नहीं, क्योंकि छोटा-बड़ा आदि की क्रियाएँ शरीर (जड़) में ही घटित होती हैं, जीव में नहीं। संसारावस्था में जीव शरीरप्रमाण होता, उससे छोटा या बड़ा नहीं।

शरीर की क्रिया से जीव को न लाभ है, न हानि है। इनसे या किसी भी ऋद्धि से मुनिसाधनारूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। साधना पुरुषार्थ का कार्य है, ऋद्धियों का नहीं। पूर्व में विष्णुकुमार मुनि ने ऋद्धि के द्वारा उपसर्ग दूर किया- ऐसा पढ़ा था, परन्तु उपसर्ग दूर करने का कार्य भी मुनि का कर्तव्य नहीं। गृहस्थों का कर्तव्य है। अत: किसी भी ऋद्धि के द्वारा आत्मसाधनारूप या मुनिधर्मरूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है।

पुन: **शंका** – इनसे किसी प्रयोजन की सिद्धि ही नहीं है, तो शास्त्रों में इनका वर्णन क्यों किया है?

उसका **समाधान** – ऋद्धियों से साधनारूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है, फिर भी शास्त्रों में इनका विशेष-वर्णन देखा जाता है, क्योंकि आत्मसाधना के काल में मुनियों के ऋद्धिरूप अचिंत्य-शक्तियाँ

प्रकट होती हैं, आत्मसाधना के काल में कैसी-कैसी अचिंत्य-शक्तियाँ प्रकट होती हैं? - इसका ज्ञान कराने के लिए शास्त्रों में ऋद्धियों का विशेष-वर्णन देखा जाता है। तथा ऋद्धियों के लक्ष्य से ऋद्धियाँ प्रकट नहीं होती हैं, आत्मा का लक्ष्य होने पर स्वयमेव ही ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं।

सामान्यतः जो शक्तियाँ नहीं देखी जाती ऐसी अचिंत्य अलौकिक शक्तियाँ आत्मा की उपासना से स्वयमेव प्रकट होती हैं - इतना ही ऋद्धियों के वर्णन करने का प्रयोजन है। इससे आत्मा की उपासना के लाभ बताये हैं।

गरिमा ऋद्धि का आशय इतना ही है कि इस ऋद्धि से शरीर जैसे वज्र अभेद्य, भारी होता है; वैसे शरीर भी अभेद्य, भारी होता है, परंतु अंतर इतना है कि वज्र दूसरे वज्र से भेद्य होता है, परन्तु गरिमा ऋद्धि से किसी भी प्रकार से शरीर भेद्य नहीं होता है।

प्रश्न - वज्रवृषभ नाराच संहनन और गरिमा ऋद्धि में क्या अन्तर है?

उत्तर - वज्रवृषभ नाराच संहनन में हड्डी, शिराएँ, कीले ही वज्र की तरह होने से मात्र हड्डी आदि ही अभेद्य होते हैं, गरिमा ऋद्धि में सम्पूर्ण शरीर अभेद्य होता है।

यह ऋद्धि अगुरुलघु, नामकर्म के विशिष्ट उदय से वीर्यान्तराय तथा लाभान्तरायकर्म के विशेष क्षयोपशम से प्रकट होती है।

5. प्राप्ति-विक्रिया-ऋद्धि

धरतीतल पर बैठे-बैठे उंगली आदि से सूर्य, चन्द्र, मेरुशिखर आदि को छू सकने की शक्ति को प्राप्ति कहते हैं। ऐसी शक्ति की प्राप्ति को ही कहीं **प्राप्ति** और कहीं **आप्ति** नाम की विक्रिया ऋद्धि कहा है।

तिलोयपण्णत्तीकार इसका स्वरूप इसप्रकार बताते हैं –

भूमीए चेट्ठतो अंगुलि–अग्गेण सूर–ससि–पहुदिं।
मेरुसिहराणि अण्णं जं पावदि पत्ति रिद्धी सा।[1]

अर्थ – भूमि पर बैठे हुए ही अंगुली के अग्रभाग से सूर्य आदि तथा मेरुशिखर आदि ऊँची वस्तुओं को जिस शक्ति के द्वारा प्राप्त किया (छुआ) जाता है, उसे प्राप्ति नाम की विक्रिया (ऋद्धि) कहते हैं।

यही अकलंक भी कहते हैं –

''भूमौ स्थित्वाऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखरदिवाकरादिस्पर्शन–सामर्थ्यं प्राप्तिः।''[2]

अर्थ – भूमि पर बैठकर अंगुली के अग्रभाग से मेरु के शिखर, सूर्य आदि का स्पर्श कर सकने की सामर्थ्य को प्राप्ति नाम की विक्रिया ऋद्धि कहते हैं।

इसी प्रकार श्रुतसागरजी ने भी लिखा है –

''भूमिस्थितोऽप्यङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखरचन्द्र सूर्यादिस्पर्शन–सामर्थ्यं प्राप्तिरुच्यते।[3]

अर्थ – भूमि पर रहते हुए भी अंगुली के अग्रभाग से मेरु के शिखर, चन्द्र, सूर्य आदि का स्पर्श करने की शक्ति का नाम प्राप्ति ऋद्धि है।

धवलाकार का भी यही कहना है–

''भूमिट्ठियस्स करणे चंदाइच्चबिंबच्छिवणसत्ती पत्ती णाम।''[4]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1037, पृष्ठ–309
2. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–563
3. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–313
4. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–75

अर्थ – भूमि पर स्थित रहकर हाथ से चन्द्र, सूर्य बिम्बों को छू सकने की शक्ति प्राप्ति विक्रिया (ऋद्धि) कही जाती है।

जिस ऋद्धि से हाथ लम्बा करने की इच्छा हो तो हाथ लम्बा हो जाये, अंगुली लम्बा करने का भाव हो तो अंगुली लंबी हो जाये, हाथ या अंगुली से सूर्य बिम्ब, मेरुशिखर आदि को छूने की इच्छा हो तो छू सके, उस ऋद्धि को प्राप्ति ऋद्धि कहते हैं।

यहाँ हाथ या अंगुली कितनी लंबी कर सकते हैं? ऐसी जिज्ञासा हो तो उसका समाधान यह है कि हाथ आदि को लम्बा कर सकने का शक्ति कितनी भी अधिक हो, परन्तु मनुष्य शरीर या मनुष्य-शरीर का अवयव विद्या या ऋद्धि के द्वारा भी मानुषोत्तर पर्वत से पार नहीं जा सकता, अत: तिर्यक् रूप से हाथ आदि को लम्बा कर सकने की सीमा मानुषोत्तर पर्वत तक ही है। ऊर्ध्व में ज्योतिषी देवों के सूर्य, चन्द्र आदि के विमान 790 योजन से 900 योजन में अर्थात् एक सौ दस योजन तक पाये जाते हैं, मेरु एक लाख चालीस योजन ऊँचा है, इतनी ऊँचाई मेरु शिखर की है, अत: ऊर्ध्व दिशा में मेरु की हजार योजन की नींव छोड़कर निन्यानवें हजार चालीस योजन सीमा जानना। तिर्यक् 45 लाख योजन 99,040 ऊर्ध्व योजन, सीमाओं से भी अधिक ऊँगली आदि को लम्बा कर सकने की शक्ति आत्मसाधक मुनिवरों में पायी जाती है, परंतु प्राप्ति ऋद्धि से तिर्यक् में मानुषोत्तर ऊर्ध्व में मेरुपर्वत के शिखर को छू सकते हैं, क्योंकि प्राप्ति ऋद्धि से भी मानवक्षेत्र की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। ऋद्धियों के वर्णन में मनुष्य के शरीर की सीमाएँ बतायी गई हैं, ऋद्धि की शक्तियों की नहीं; ऋद्धियों की शक्तियाँ इससे भी अधिक सीमावाली होती हैं।

यहाँ **प्रश्न** – महिमा ऋद्धि में शरीर को मेरु जितना बड़ा बनाया जाता है और आप्ति ऋद्धि से मेरुशिखर को छुआ जाता है। तब प्रश्न होता है कि दोनों ही ऋद्धियों में क्या अन्तर है?

उसका **उत्तर** – प्रत्येक विक्रिया ऋद्धि का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। यदि उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न नहीं होता तो आचार्य उनको भिन्न-भिन्न क्यों कहते? आचार्यों ने महिमा और आप्ति ऋद्धियाँ भिन्न-भिन्न कही हैं, इसलिए उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न है।

महिमा ऋद्धि से शरीर मेरु जितना बड़ा बनाया जाता है। प्राप्ति या आप्ति ऋद्धि से धरती पर बैठे-बैठे शरीर की उंगली आदि से ही मेरु के शिखर या सूर्य आदि ज्योतिषी देवों के विमानों को छूआ जाता है।

जिस ऋद्धि से शरीर को मेरु जितना बड़ा बनाया जाता है, उसे महिमा ऋद्धि कहते हैं। जिस ऋद्धि से शरीर के अवयव उंगली आदि से मेरुशिखर को छुआ जाता है, उसे आप्ति ऋद्धि कहते हैं।

यहाँ पुनः **प्रश्न** – इन ऋद्धियों से मुनिराज के कौन-से प्रयोजन की सिद्धि होती है।

उसका **उत्तर** – इन ऋद्धियों से मुनिराज के मुनिचर्या या आत्मानुभवरूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। परन्तु कदाचित् इन ऋद्धियों के धारी किसी मुनिराज को अकृत्रिम जिन, जिनालय के या साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा के दर्शन का विकल्प हो तथा ऋद्धि का ज्ञान हो, ऋद्धि के प्रयोग का विकल्प हो तो उक्त विकल्प की सिद्धि कर सकते हैं।

यह ऋद्धि अंगोपांग नामकर्म के विशिष्ट उदय तथा वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती है।

6. प्राकाम्य-विक्रिया-ऋद्धि

प्राकाम्य-विक्रिया के सम्बन्ध में तीन तरह का वर्णन मिलता हैं। **एक मत** के अनुसार जल में पृथ्वी की तरह तथा पृथ्वी पर जल की तरह क्रिया करना प्राकाम्य-विक्रिया है। **दूसरे मत** के अनुसार कुलाचल, मेरुपर्वत आदि के भीतर से पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा न पहुँचा कर

उन पर से गमन करने की क्रिया करना प्राकाम्य-विक्रिया है। **तीसरे मत** के अनुसार जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य, सेना आदि करना (बनाना) प्राकाम्य-विक्रिया है।

पहला मत आचार्य यतिवृषभ, अकलंक, श्रुतसागर का है, दूसरा मत आचार्य वीरसेन का है। तीसरा मत श्रुतसागर का है।

पहले मत के प्रतिपादक आचार्य यतिवृषभ प्राकाम्य विक्रिया के सम्बन्ध में लिखते हैं -

सलिले विय भूमीए, उम्मज्ज-णिमज्जणाणि जं कुणदि।
भूमीए वि य सलिले, गच्छदि पाकम्म-रिद्धी सा।।[1]

अर्थ - पृथ्वी पर जल के समान उन्मज्जन-निमज्जन करना तथा जल में पृथ्वी के समान गमन करना वह प्राकाम्य नाम की विक्रिया (ऋद्धि) है।

इसका आशय यह है कि जिससे पृथ्वी में जल की तरह डुबकी लगाना आदि और जल पर पृथ्वी की तरह गमन आदि किया जाये, ऐसी शक्ति को प्राकाम्य ऋद्धि कहते हैं।

आचार्य अकलंक भी प्राकाम्य-विक्रिया का स्वरूप यतिवृषभ के अनुसार ही कहते हैं -

''अप्सु भूमाविव गमनं भूमौ जलं इवोन्मज्जननिमज्जनकरणं प्राकाम्यम्।''[2]

अर्थ - जल पर पृथ्वी की तरह गमन तथा भूमि में जल की तरह निमज्जन-उन्मज्जन (डूबना-ऊपर आना) करना प्राकाम्य विक्रिया है।

तीसरे मत के प्रतिपादक श्रुतसागर सूरि हैं, उनका प्राकाम्य ऋद्धि

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1038, पृष्ठ-309
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-563

का स्वरूप यतिवृषभ और अकलंक के अनुसार है और कुछ भिन्न प्रकार का भी है –

"जले भूमाविव गमनं भूमौ जलं इव मज्जनोन्मज्जनविधानं प्राकाम्यम् अथवा जाति क्रिया–गुण–द्रव्य–सैन्यादिकरणं च प्राकाम्यम्।"[1]

अर्थ – जल पर भूमि की तरह चलना और भूमि में जल की तरह मज्जन–उन्मजन करना, अथवा जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य, सैन्य आदि (को) करना (बनाना) प्राकाम्य नाम की विक्रिया है।

यहाँ **प्रश्न –** श्रुतसागर सूरि ने जाति–क्रिया–गुण–द्रव्य–सैन्य आदि को बना सकने की शक्ति को प्राकाम्य–विक्रिया ऋद्धि कहा है – उसका क्या आशय है?

उत्तर – अन्य आचार्यों ने और श्रुतसागर सूरि ने इस ऋद्धि को जल और पृथ्वी से जोड़कर बताया है, इसलिए जाति–क्रिया–गुण–द्रव्य जो कि पदार्थों के ही धर्म हैं, उन धर्मों को अन्य आचार्यों के अभिप्रायानुसार जल और पृथ्वी पर रहकर जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य से सेना आदि की रचना की रचना करने की सामर्थ्य को प्राकाम्य ऋद्धि कहते हैं। या जल या पृथ्वी से सेना आदि की रचना की सामर्थ्य को प्राकाम्य ऋद्धि कहते हैं। इसप्रकार संगति बिठाने के लिए अनुमान किया है। शेष तो सर्वज्ञ परमात्मा ही यथार्थ अर्थ बता सकते हैं।

दूसरे मत के प्रतिपादक आचार्य वीरसेन के अनुसार प्राकाम्य विक्रिया का अर्थ इसप्रकार है –

"कुलसेल–मेरुमहीहर–भूमीणं बाहमकाऊण तासु गमणसत्ती तवच्छरणबलेणुप्पण्णा पागम्मं णाम।"[2]

---

1. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–313
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–75–76

अर्थ - तपश्चरण के बल से (हिम-भवन आदि) कुलाचल, मेरुपर्वत (आदि पर्वतों) के भीतर से पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा न पहुँचा कर उनमें से गमन शक्ति को प्राकाम्य नामक विक्रिया (ऋद्धि) कहते हैं।

वीरसेन का आशय इतना-सा है कि पर्वतों के भीतर से गमन करने की शक्ति प्राकाम्य विक्रिया (ऋद्धि) है। चारण ऋद्धि के प्रसंग में प्रश्न के उत्तर में वे लिखते हैं कि न केवल पर्वत अपितु किसी भी सघन पृथ्वी, समुद्र आदि के भीतर पूरे शरीर के साथ प्रवेश करने की शक्ति प्राकाम्य नाम की विक्रिया-ऋद्धि है-

''घण-पुढवि-मेरुसायराणमंतो सव्वसरीरेण पवेससत्ती पागम्मं णाम।''[1]

अर्थ - सघण पृथ्वी, मेरु, सागर के भीतर पूरे शरीर के साथ प्रवेश करने की शक्ति को प्राकाम्य विक्रिया कहते हैं।

पहले मत में और दूसरे मत में ''पृथ्वी की तरह जल में तथा जल की तरह पृथ्वी में'' इतने कहने व न कहने का ही अन्तर है, क्योंकि सघन पृथ्वी, पर्वत, कुलाचल, मेरु आदि पृथ्वी के ही भेद हैं तथा सागर आदि जल के भेद हैं। इसलिए पहले और दूसरे में शब्द को का अंतर है, अर्थ का नहीं। इसलिए धवलाकार का आशय भी पहले मत के अनुसार ही है।

प्रश्न - सघन पृथ्वी, पर्वत आदि में से बिना बाधा के निकल जाने को अप्रतिघात-विक्रिया कहा है, जिसका स्वरूप आगे कहा जायेगा, धवलाकार ने उस प्रकार की विक्रिया को प्राकाम्य-विक्रिया कहा है। धवलाकार के अनुसार प्राकाम्य-विक्रिया और अप्रतिघात-विक्रिया में क्या अन्तर है?

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-79

उत्तर – धवलाकार ने विक्रिया-ऋद्धि के आठ ही भेद माने हैं। उन आठ भेदों में अप्रतिघात-विक्रिया ऋद्धि नहीं कही है। संभवत: धवलाकार अप्रतिघात-विक्रिया को प्राकाम्य-विक्रिया के अन्तर्गत मानते हों। इसलिए उन्होंने अप्रतिघात-विक्रिया को पृथक् विक्रिया नहीं माना।

प्रश्न – फिर भी शंका होती है कि जिन आचार्यों ने अप्रतिघात ऋद्धि मानी है, उनके मत में प्राकाम्य और अप्रतिघात में क्या अंतर है?

उत्तर – प्राकाम्य ऋद्धि में पृथ्वी में जल की तरह तथा जल में पृथ्वी की तरह क्रियाओं की मुख्यता है। अप्रतिघात ऋद्धि में पर्वत आदि से बिना बाधा के गमन की मुख्यता है। यही दोनों ऋद्धियों में अंतर है।

प्रश्न – इस ऋद्धि से मुनिराज को क्या लाभ है?

उत्तर – विहार के समय मार्ग में जलाशय आ जाये तो वे विहार में बाधक नहीं हो सकते। इस ऋद्धि से शरीर ऐसा हो जाता है कि पृथ्वी भले ही ठोस हो, उसमें जल की तरह डूबना, ऊपर आना आदि क्रियायें की जा सकती हैं। तथा शरीर ऐसा हो जाता है कि जल पर या जल के भीतर पृथ्वी की तरह उठना-बैठना आदि क्रियायें की जा सकती हैं।

पुनः **प्रश्न** – इस ऋद्धि से पृथ्वी के भीतर जाने पर शरीर धूल से सन जाता होगा या पानी के भीतर जाने पर शरीर पानी से भीग जाता होगा?

उत्तर – ऋद्धियाँ अतिशयरूप अर्थात् चमत्कारिक होती हैं। यहाँ प्राकाम्य आदि ऋद्धियों का अतिशय यही है कि पृथ्वी के भीतर जाने पर भी धूल न चिपके तथा पानी के भीतर जाने पर भी गीला न हो।

यह ऋद्धि सूक्ष्म तथा अप्रतिघात नामकर्म के विशिष्ट उदय तथा वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती है।

7. कामरूपित्व-विक्रिया-ऋद्धि

जिस शक्ति के द्वारा एकसाथ इच्छानुसार अनेक रूपों की रचना की जा सके, उस शक्ति को कामरूपित्व या कामरूप विक्रिया ऋद्धि कहते हैं। सभी शास्त्रकारों का आशय यही है।

धवलाकार के अनुसार -

''इच्छिदरूवग्गहणसत्ती कामरूवित्तं णाम।''[1]

अर्थ - इच्छित रूप के ग्रहण करने की शक्ति का नाम कामरूपित्व नाम की विक्रिया ऋद्धि है।

यही तिलोयपण्णत्तीकार और वार्तिककार का भी मत है -

''जुगवं बहुरूवाणि जो विरयदि कामरूव रिद्धी सा।''[2]

अर्थ - जिससे युगपत् बहुत-से रूप रचे जाते हैं, वह कामरूप ऋद्धि है।

''युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्तिःकामरूपित्वम्।''[3]

अर्थ - एक साथ अनेक आकाररूप विकार (धारण) की शक्ति को कामरूपित्व (विक्रिया ऋद्धि) है।

श्रुतसागर इन अनेक आकारों में मूर्त और अमूर्त आकारों को जोड़ते हुए कहते हैं कि -

''अनेकरूपकरणं मूर्तामूर्ताकारकरणं वा कामरूपिवत्म्।''[4]

अर्थ - अनेक रूपों को (धारण) करना अथवा मूर्त, अमूर्त आकारों को धारण करना कामरूपित्व (विक्रिया ऋद्धि) है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-76
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1041, पृष्ठ-310
3. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-563
4. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314

प्रश्न – मूर्त आकार और अमूर्त आकार से क्या आशय है?

उत्तर – जो आकार देखे हुए हैं, जिनकी कल्पना की जा सकती हैं, वे मूर्त आकार हैं तथा जो आकार पहले कभी देखे नहीं होते, जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती, वे अमूर्त आकार जानना।

जैसे सिंह, हाथी आदि पूर्व में देखे हुए आकार हैं, इसलिए ये मूर्त हैं। हाथी का शरीर शेर का मुँह या शेर का शरीर हाथी का मुँह कभी देखा नहीं, इसलिए ये अमूर्त कहे। मूर्त अर्थात् दृष्ट और अमूर्त अर्थात् नहीं देखे गये।

अथवा प्राणियों के आकार मूर्त तथा पर्वत, शिला आदि के आकार अमूर्त जानना। कामरूपित्व ऋद्धि से सब संभव है।

यहाँ मात्र अनेक आकार धारण करने को कामरूपित्व ऋद्धि मत जानना, क्योंकि इच्छानुसार आकार धारण करने को कामरूपित्व ऋद्धि कहते हैं। वह आकार या रूप एक भी हो सकता है और अनेक आकार या रूप हो सकते हैं।

यह ऋद्धि नामकर्म के विशिष्ट उदय से तथा वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होती है।

8. ईशित्व–विक्रिया–ऋद्धि

प्रभुता की शक्ति को ईशत्व या ईशित्व कहते हैं। आचार्य अकलंक और श्रुतसागर के विचार से तीन लोक की प्रभुता को ईशित्व कहते हैं। तीन लोक में जीव, अजीव दोनों प्रकार के पदार्थ हैं। इसलिए अकलंक और श्रुतसागर के अनुसार जीव, अजीव पदार्थों पर प्रभुता को ईशित्व कहते हैं।

तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार लोक के सभी मनुष्यों पर प्रभुत्व का होना ईशित्व है। परन्तु धवलाकार के अनुसार सभी जीवों और ग्राम

नगर आदि को भोगने की शक्ति ईशित्व है।

तिलोयपण्णत्तीकार के शब्द इसप्रकार हैं –

''णिस्सेसाण–पहुत्तं जणाण ईसत्त णाम रिद्धी सा।''[1]

अर्थ – जिससे सब मनुष्यों पर प्रभुत्व होता है, वह ईशित्व नाम की विक्रिया ऋद्धि है।

अकलंक के शब्दों में –

''त्रैलोक्य–प्रभुता ईशित्वम्।''[2]

अर्थ – तीन लोक की प्रभुता को ईशित्व (नाम की विक्रिया ऋद्धि) कहते हैं। श्रुतसागर भी इसीप्रकार बताते हैं –

''त्रिभुवनप्रभुत्वमीशित्वम्।''[3]

अर्थ – तीन लोक के प्रभुत्व को प्राप्त होना ईशित्व (नाम की विक्रिया ऋद्धि) है।

धवलाकार जीव तथा ग्राम आदि को भोगने की शक्ति को ईशित्व कहते हैं –

''सव्वेसिं जीवाणं गामणयर–खेडादीणं च भुंजणसत्ती तबुप्पण्णा ईसित्तं णाम।''[4]

अर्थ – सब जीवों तथा ग्राम, नगर, खेड़ा आदि को भोगने की तप से उत्पन्न हुई शक्ति ही ईशित्व नाम की ऋद्धि कही जाती है।

प्रश्न –''ईसित्त–वसित्ताणं कधं वेउव्वियत्तं?''

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1039, पृष्ठ–310
2. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–563
3. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–314
4. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–76

उत्तर –''ण, विविहगुणइड्ढिजुत्तं वेउव्वियमिदि तेसिं वेउव्वियत्ताविरोहादो।''[1]

प्रश्न – ईशित्व और (आगे कही जानेवाली) वशित्व में विक्रियापना कैसे संभव है?

उत्तर – नहीं, क्योंकि नानाप्रकार गुण, ऋद्धि से युक्त होना ही विक्रिया है, इसलिए उन दोनों में विक्रियापने में कोई विरोध नहीं है।

धवला के अनुसार शिष्य के शंका हुई थी कि शरीर को छोटा-बड़ा आदि करना विक्रिया ऋद्धि मानी थी, परन्तु यहाँ शरीर को छोटा-बड़ा आदि रूप तो किया नहीं है, मात्र अन्य पर प्रभुता हुई है, वशीकरण हुआ है, इनमें विक्रियापना कैसे घटित होता है?

उसका समाधान करते हुए धवलाकार ने बताया कि शरीर को छोटा-बड़ा आदि करना मात्र ही विक्रिया नहीं है, अपितु अनेक गुणों और ऋद्धियों से युक्त होना भी विक्रिया कहलाती है।

तीन लोक में प्रभुता का होना यह गुण है। इस प्रकार के गुणों से युक्त होना भी विक्रिया ही कहलाती है, क्योंकि इस ऋद्धि से शरीर में इस तरह की दिव्यता प्रस्फुटित होती है कि तीन लोक के प्राणी उस दिव्यता के कारण मुनिराज के सामने नम्र तथा नतमस्तक हो जाते हैं। ऐसी दिव्यता की प्राप्ति जिससे होती है, उसे ईशित्व ऋद्धि कहते हैं।

श्रेणिक चरित्र की कथा के अनुसार श्रेणिक ने शिकार या हिंसाभाव से यशोधर मुनिराज पर 500 शिकारी कुत्ते छोड़े थे, परंतु वे शिकारी कुत्ते यशोधर मुनिराज के सामने नतमस्तक होकर बैठ गये थे। वह इसी ऋद्धि का प्रभाव जानना।

धवलाकार पूर्व में कह चुके हैं कि भोगने की शक्ति को ईशित्व कहते हैं और वे कहते हैं कि अवशी का आकार नष्ट किए बिना प्रभुत्व

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-76

स्थापित होना ईशित्वकरण है।[1] इस ऋद्धि का आशय यह है कि मुनि को इस ऋद्धि के प्रभाव से ऐसी शक्ति प्राप्त है कि वे जीवों और ग्रामादि को भोग सकते हैं, परन्तु मुनि अवस्था में भोगने का भाव नहीं होता है, न प्रभुता का भाव होता है।

जीवादि पदार्थों पर प्रभुत्व होना, वे पदार्थ एक प्रकार से (स्वत: ही) मुनि के अधीन होते हैं, उनका अधीन होना ही ईशित्व है तथा अधीन जीवादि को इच्छानुसार परिणमित करना वशित्व है। यद्यपि मुनि को किसी पदार्थ को अधीन करने का भाव नहीं होता है, न उनको इच्छानुसार परिणमित करने की इच्छा होती है। फिर भी मोक्षगामी मुनियों को तपोबल से ऐसी शक्तियाँ स्वत: प्रकट होती हैं – इतना ही आशय जानना।

यह ऋद्धि लाभान्तराय, भोगोपभोगान्तराय, भोगान्तराय, वीर्यान्तराय कर्मों के विशेष क्षयोपशम से प्रकट होती है।

9. वशित्व-विक्रिया-ऋद्धि

जीवों को वश करने की शक्ति को वशित्व कहते हैं। लोक में वशीकरण शब्द प्रसिद्ध है, जिसका अर्थ है, दूसरे को अपने अधीन करना। लोक में वशीकरण मंत्र की भी चर्चा होती है। द्वादशांग जिनवाणी के बारहवें अंग में दसवाँ विद्यानुवाद पूर्व है; उसमें वशीकरण मंत्र, विद्या आदि का वर्णन है।

वशित्व-विक्रिया ऋद्धि में मंत्र व विद्या आदि के बिना ही जीवों को वश करने की शक्ति पायी जाती है, इसप्रकार की वश करने की शक्ति को वशित्व-विक्रिया-ऋद्धि कहते हैं।

प्रश्न – जीवों को वश करने का अर्थ क्या है?

उत्तर – जीवों को अपनी इच्छा के अनुसार परिणमन कराने को वश करना कहते हैं।

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-77

वशित्व विक्रिया ऋद्धि के स्वरूप के विषय में सभी शास्त्रकारों का मत एक-सा ही है। शास्त्रकारों के इस विषय में शब्द इसप्रकार हैं -

''माणुस-मायंग-हरि-तुरियादीणं सगिच्छाए वट्टायणसत्ती वसित्तं णामा।''[1]

अर्थ - मनुष्य, हाथी, शेर, घोड़े आदि को अपनी इच्छा से वर्ताने की शक्ति का नाम वशित्व (विक्रिया ऋद्धि) है।

''वसमेंति तव-बलेण जं जीवोहा वसित्त-रिद्धी सा।''[2]

अर्थ - तपोबल से उत्पन्न जिस शक्ति के द्वारा जीव-समूह वश में होते हैं, उस शक्ति को वशित्व विक्रिया ऋद्धि कहते हैं।

''सर्वजीववशीकरणलब्धिर्वशित्वम्।''[3]

अर्थ - सभी जीवों को वश करने की लब्धि को वशित्व (विक्रिया) ऋद्धि कहते हैं।

''सर्वप्राणिगणवशीकरणशक्तिर्वशित्वम्।''[4]

अर्थ - सर्व प्राणियों को वश में करने की शक्ति वशित्व (नाम की विक्रिया ऋद्धि) है।

यह ऋद्धि लाभान्तराय और वीर्यान्तराय कर्मों के विशेष क्षयोपशम से प्रकट होती है।

10. अप्रतिघात-विक्रिया-ऋद्धि

यहाँ प्रतिघात का अर्थ रुकावट या बाधा है। 'अ' का अर्थ नहीं

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-76
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1039, पृष्ठ-310
3. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-563
4. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314

है। अप्रतिघात का अर्थ हुआ कि – बिना बाधा या बिना रुकावट के।

जिसके कारण सघन पृथ्वी, पर्वत, पाषाण गमन करने में शरीर को बाधा उत्पन्न नहीं करते, अर्थात् जिसके कारण शरीर बिना बाधा के पर्वत, सघन पृथ्वी, पाषाण आदि में से खुले आकाश की तरह निकल जाता है, वह शक्ति अप्रतिघात नाम की विक्रिया ऋद्धि कहलाती है।

जैसे सूक्ष्म जीव किसी से रुकते नहीं, किसी को रोकते नहीं, उन जीवों का शरीर अप्रतिघाती होता है। वैसे जिस शक्ति से मुनि का शरीर सूक्ष्म जीव की तरह किसी से रुकता नहीं, उस शक्ति को अप्रतिघात ऋद्धि कहते हैं।

यतिवृषभ के अनुसार पर्वत, पाषाण, वृक्ष आदि से शरीर के बिना बाधा के निकल जाने को अप्रतिघात नाम की विक्रिया ऋद्धि है –

सेल–सिला–तरु–पमुहाणब्भंतरं होइदूण गयणं व।
जं वच्चदि सा रिद्धी अप्पडिघादेत्ति गुण णामा।।[1]

अर्थ – जिस शक्ति के बल से शैल (पर्वत), शिला, वृक्ष आदि के भीतर से भी आकाश की तरह गमन किया जाता है, उसे अप्रतिघात (यथा नाम तथा गुण) नामवाली विक्रिया–ऋद्धि कहते हैं।

अकलंक मात्र पर्वत में से आकाश की तरह की गमनशक्ति को अप्रतिघाती विक्रिया मानते हैं –

''अद्रिमध्ये वियतीव गमनागमनमप्रतीघातः।''[2]

अर्थ – पर्वत के भीतर से आकाश की तरह जाने–आने की शक्ति को अप्रतीघात (अप्रतीघाती विक्रिया ऋद्धि) कहते हैं।

आचार्य अकलंक और श्रुतसागर सूरि ने पर्वत शब्द का प्रयोग

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1040, पृष्ठ–310
2. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–563

किया है। वह प्रतीक मात्र जानना। पर्वत, पाषाण, वृक्ष आदि सभी पर्वत शब्द से ग्रहण कर लेना।

श्रुतसागर सूरि भी आचार्य अकलंक की तरह ही इस ऋद्धि का स्वरूप कहते हैं-

''पर्वत-मध्येऽपि आकाश इव गमनमप्रतीघात:।[1]

अर्थ - पर्वत में भी आकाश की तरह गमन को अप्रतीघात (अप्रतिघाती विक्रिया ऋद्धि) कहते हैं।

आचार्य अकलंक और श्रुतसागर सूरि ने पर्वत शब्द का प्रयोग किया है, वह प्रतीकात्मक है। पर्वत शब्द से पर्वत, पाषाण वृक्ष आदि सभी का ग्रहण कर लेना।

वीरसेन ने आठ ही विक्रिया ऋद्धियाँ मानी हैं, उनमें अप्रतिघाती विक्रिया ऋद्धि नहीं है।

यह ऋद्धि अप्रतिघात नामकर्म के उदय से तथा लाभान्तराय, वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होती है।

11. अन्तर्धान-विक्रिया-ऋद्धि

अन्तर्धान शब्द का अर्थ अदृश्य या गायब होना है, यहाँ भी अन्तर्धान का अर्थ अदृश्य ही है। जिस शक्ति के कारण शरीर को अदृश्यता (अर्थात् दूसरे जीव के ज्ञान का विषय नहीं होना) होती है, उसे अन्तर्धान नाम की विक्रिया ऋद्धि कहते हैं।

जैसे परमाणु, वैक्रियक शरीर आदि का अस्तित्व होता है, परन्तु वह सामान्य मत्यादि ज्ञान का विषय नहीं बनते, वैसे मुनि के शरीर का अस्तित्व होता है, परन्तु वह सामान्य मत्यादि ज्ञान का विषय नहीं बनता है। शरीर का सामान्य मत्यादि ज्ञान का विषय न बन सकना ही अंतर्धानत्व है।

---

1. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314

अत: जिस शक्ति के कारण शरीर सामान्य मत्यादि ज्ञान का विषय नहीं बनता, उस शक्ति को अन्तर्धान नाम की विक्रिया ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि का स्वरूप आचार्य यतिवृषभ आदि के शब्दों में इस प्रकार है –

''जं हवदि अद्दिसत्तं अंतद्धारणाभिहाण रिद्धी सा।''[1]

अर्थ – जिस ऋद्धि से (मुनि के शरीर को) अदृश्यता प्राप्त होती है, वह अन्तर्धान नाम की विक्रिया ऋद्धि है।

यहाँ अन्तर्धान का अर्थ अभाव नहीं है, बल्कि अदृश्यता है।

''अदृश्यरूपशक्तिताऽन्तर्धानम्।''[2]

अर्थ – अदृश्य होने रूप शक्ति को अन्तर्धान (नाम की विक्रिया ऋद्धि) कहते हैं।

''अदृष्टरूपताऽन्तर्धानम्।''[3]

अर्थ – अदृष्टरूपता अर्थात् रूप को अदृष्ट बना लेने की शक्ति को अन्तर्धान विक्रिया ऋद्धि कहते हैं।

यह ऋद्धि सूक्ष्म नामकर्म के उदय तथा लाभान्तराय, वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से प्रकट होती है।

वीरसेनाचार्य ने विक्रिया ऋद्धियों की संख्या आठ मानी है, उनमें अन्तर्धान विक्रिया नहीं है।

इस प्रकार विक्रिया ऋद्धियों को वर्णन पूर्ण हुआ है। अब बलऋद्धियों की चर्चा करते हैं।

****

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1040, पृष्ठ-310
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-563
3. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314

अध्याय–5

4. बल–ऋद्धियाँ

मनोवपुर्वाग्बलिनश्च नित्यं स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।[1]

अर्थ – मनबली, कायबली और वचनबली परम ऋषि हमारा नित्य कल्याण करें।

संसार के प्राणियों का बल तीन प्रकार होता है – मनोबल, वचनबल और कायबल। ये तीनों बल पौद्‌गलिक बल हैं, पुद्‌गल से संबंधित हैं। कर्मों के निमित्त से प्रकट होते हैं। आत्मबल इनसे भिन्न है, वह पुरुषार्थ से प्रकट होता है। यहाँ बल का अर्थ शक्ति है। यह पौद्‌गलिक शक्ति श्रुतावरण, इन्द्रियावरण, वीर्यान्तराय के क्षयोपशम, पर्याप्ति नामकर्म और सुस्वरादि नामकर्म के उदय से प्रकट होती है। जो बल है, वह वीर्यान्तराय आदि कर्मों के क्षयोपशम, उदय के अनुसार हीनाधिक प्रकट होता है। तीर्थंकर जन्म से अतुल बल[2] के तथा केवलज्ञान के प्रकट होने पर अनंत बल के धारी होते हैं। उनका अतुल बल शारीरिक है और अनंत बल आत्मिक बल है।

तीर्थंकर के बल से संबधित चर्चा चर्चासंग्रह में इसप्रकार मिलती है –

''12 मल्ल का बल एक सांड में होता है, 10 सांडों का बल एक भैंसे में होता है, 10 भैंसों का बल एक घोड़े में, 1000 घोड़ों का बल एक हाथी में, 500 हाथियों का बल एक नाहर में, 500 नाहरों का बल एक शार्दूल में, 1000 शार्दूलों का बल एक अष्टापद में, 1000 अष्टापदों का बल एक कामदेव में, 2 कामदेवों का बल एक नारायण

1. परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक–6
2. जन्म के दस अतिशयों में से एक अतिशय।

में, 9 नारायणों का बल एक चक्रवर्ती में, 10 लाख चक्रवर्तियों का बल एक व्यंतर में, 10 लाख व्यंतरों का बल एक इन्द्र में होता है। इन सब का बल इकट्ठा करें तो भी तीर्थंकर महाराज के बल के समक्ष समय मात्र भी टिके नहीं।''[1]

उसी चर्चासंग्रह में बल ऋद्धिधारी मुनि के बल की भी चर्चा है।[2]

तथा दीप्त तप ऋद्धि से न केलव दीप्ति बढ़ती है, अपितु शरीर का बल भी बढ़ता है, परन्तु यह बल कायबल ऋद्धि से भिन्न है।[3]

उससे सिद्ध है कि तप से भी बल की प्राप्ति होती है। बल ऋद्धियों का बहिरंग कारण तप है, और अंतरंग कारण (वीर्यान्तराय) कर्म का क्षयोपशम और आभ्यन्तर कारण परिणामों की विशुद्धि है।

प्रश्न – इन बलों से मुनि को क्या लाभ है, जबकि मुनि को ऋद्धियों से कोई प्रयोजन ही नहीं होता है?

उत्तर – मुनि अपने आत्मिक या पौद्गलिक बल का प्रयोग स्वरूप स्थिरता के लिए ही करते हैं। जैसे कायबल हो तो उपवास करके स्वरूप में स्थिर रहते हैं, वचनबल हो तो श्रुत का पाठ करते हैं, मनोबल से श्रुत के अर्थों का चिंतन करते हैं। श्रुत का पाठ और श्रुत के अर्थों का विचार भी स्वरूप की महिमा लाकर स्वरूप में स्थिर रहने के लिए ही करते हैं, इसलिए स्वरूप-स्थिरता का लाभ होना ही मुनियों के लिए बलऋद्धियों से प्राप्त होनेवाला लाभ है।

मनोबल, वचनबल और कायबल – इन तीन बलों में मनोबल जीव और पुद्गल (मनोवर्गणा) से संबंधित है, वचनबल पुद्गल (भाषावर्गणा) से संबंधित है तथा कायबल पुद्गल (आहारवर्गणा) से संबंधित है।

---

1. चर्चासंग्रह, चर्चा-3, पृष्ठ-5
2. चर्चासंग्रह, चर्चा-41, पृष्ठ-16
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-90

बल ऋद्धि के तीन ही भेद हैं, जैसा कि आचार्य यतिवृषभ ने लिखा है –

''बलरिद्धी ति–वियप्पा, मण–वयण–सरीरयाण भेएण।''[1]

अर्थ – मन, वचन, काय के भेद से बल ऋद्धि तीन प्रकार की है।

आचार्य अकलंक का मंतव्य भी इसीप्रकार है –

'बलावलम्बना ऋद्धिस्त्रिविधा मनोवाक्कायभेदात्।''[2]

अर्थ – बल से संबंधित ऋद्धि मनोबल, वचनबल, कायबल के भेद से तीन प्रकार की है।

श्रुतसागर सूरि का मत भी ऐसा ही है –

''बलर्द्धिस्त्रिप्रकारा।''[3]

अर्थ – बल ऋद्धि तीन प्रकार की है।

''मनोवपुर्वाग्बलिनश्च नित्यम्।''[4]

इन तीन बलों के अलावा आत्मबल, बुद्धिबल, तपोबल, आदि बलों के नाम सुने जाते हैं, इनमें आत्मबल जीव के पुरुषार्थ का परिणाम है। बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में होता है, इसलिए बुद्धि बल का अर्थ ज्ञानबल है। तपोबल आत्मिक और शरीरिक दोनों प्रकार का होता है।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1072, पृष्ठ–318
2. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–564
3. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–315
4. परमर्षिस्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक–6, पृष्ठ–77

अब प्रत्येक बल ऋद्धि की चर्चा करते हैं -

1. मनो-बल-ऋद्धि

णमो मणबलीणं।।[1]

मनोबल ऋद्धियुक्त जिनों को नमस्कार हो।

मनोबल ऋद्धि का संबंध विचार करने की शक्ति से है। इस ऋद्धि से विचार की शक्ति में अतिशय-वृद्धि होती है तथा निरन्तर चिंतन करने पर भी मन खेद को प्राप्त नहीं होता है।

यह इस शक्ति की अचिंत्यता ही है कि इससे बारह अंगों का अर्थ मुहूर्त या अन्तर्मुहूर्त में जान लिया जाता है, तथा ऐसा जानने पर भी मन खेद को प्राप्त नहीं होता है।

अन्तर्मुहूर्त मात्र समय में द्वादशांग के समस्त पदार्थों का विचार कर सकने की शक्ति को मनोबल ऋद्धि कहते हैं।

मनोबल ऋद्धि से त्रिकाल-विषयक पदार्थों का विचार होता है। वही धवलाकार कहते हैं -

''बारहंगुद्दिट्ठतिकालगोयराणंतट्ठ-वंजण-पज्जायइण्ण-छद्दव्वाणि णिरंतरं चिंतिदे वि खेयाभावो मणबलो। एसो मणबलो जेसिमत्थि ते मणबलिणो।''[2]

अर्थ - बारह अंगों में निर्दिष्ट त्रिकाल विषयक अनन्त अर्थ व व्यंजन पर्यायों से व्याप्त छह द्रव्यों का निरन्तर चिंतन करने पर भी खेद को प्राप्त न होना मनोबल है। यह मनोबल जिनके हैं, वे मनोबली कहलाते हैं।

धवलाकार के अनुसार अन्तर्मुहूर्त मात्र समय में द्वादशांग विचार करना तथा इतने कम समय में द्वादशांग का विचार करने पर भी मन का

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-35, पृष्ठ-98
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-35, पृष्ठ-98

खेद को प्राप्त न होना मनोबल ऋद्धि है। उनके अनुसार मनोबल तप के प्रभाव से प्राप्त होता है-

''एसो वि मणबलो लद्धी, विसिट्ठ-तवोबलेणुप्पज्ज-माणत्तादो।''[1]

अर्थ - उक्त प्रकार का मनोबल भी लब्धि अर्थात् ऋद्धि है, जो विशिष्ट तपोबल से उत्पन्न होता है।

इस मनोबल का ही प्रभाव है कि बहुत वर्षों में बुद्धिगोचर होने वाला बारह अंगों का अर्थ एक मुहूर्त में चित्त को खेद उत्पन्न न कराते हुए प्रकट होता है -

कधमण्णहा बारहंग्ट्ठो मुहुत्तेणेक्केण बहूहि वासेहि बुद्धि-गोयमावण्णो चित्तखेयं ण कुणेज्ज?[2]

अर्थ - यह इस मन बल ऋद्धि का अतिशय ही है कि अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांग श्रुत के अर्थ का चिंतवन कर लिया जाता है तथा उससे बार-बार लगातार चिंतवन करने पर भी चित्त खेद को प्राप्त नहीं होता है। यदि यह इस ऋद्धि का अतिशय नहीं होता तो बहुत वर्षों में बुद्धिगोचर होनेवाला बारह अंगों का अर्थ मुहूर्तमात्र में प्राप्त होने पर चित्त को खेद उत्पन्न करता। अन्तर्मुहूर्त में अर्थ प्राप्त होने पर भी चित्त में खेद उत्पन्न न होना - इस ऋद्धि का अतिशय है।

आचार्य अकलंक इस ऋद्धि के उत्पत्ति के कारण सहित स्वरूप बताते हैं -

''मनःश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतार्थचिंतनेऽवदाता मनोबलिनः।''[3]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-35, पृष्ठ-98
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-35, पृष्ठ-98
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-564

अर्थ – मन:श्रुतावरण और वीर्यान्तराय के प्रकृष्ट क्षयोपशम से अन्तर्मुहूर्त में ही सकल श्रुतार्थ के चिंतन में निष्णात मनोबली हैं अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में सकल श्रुतार्थ का चिंतन कराने का बल प्रदान करनेवाली मनोबल नाम की बल ऋद्धि है। आचार्य यतिवृषभ भी इसी अर्थ को कहते हैं –

सुद्णाणावरणाए पयडीए वीरियंतरायाए।
उक्कस्स खवोवसमे, मुहत्तमेत्तंतरम्मि सयलसुदं।
चिंतइ जाणइ जीए, सा रिद्धी मणबला णाम।।[1]

अर्थ – श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय – इन दो प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न जिस ऋद्धि के द्वारा मुनि मुहूर्त मात्र काल में सम्पूर्ण श्रुत का चिंतन करता है, उसे जानता है, वह ऋद्धि मनोबल नाम की ऋद्धि है।

मनोबली का स्वरूप स्पष्ट करते हुए श्रुतसागर लिखते हैं कि –

''अन्तर्मुहूर्तेन निखिलश्रुतचिंतनसमर्था ये ते मनोबलिन:।''[2]

अर्थ – अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत का चिंतन करने में समर्थ मुनियों को मनोबली कहते हैं।

यहाँ श्रुत के अर्थ का चिंतन के समय के विषय में तीन प्रकार के विचार मिलते हैं –

1. अकलंक, श्रुतसागर सूरि के अनुसार श्रुतार्थ का चिंतन अन्तर्मुहूर्त में होता है, 2. यतिवृषभ के अनुसार मुहूर्त में तथा 3. वीरसेन ने समय की मर्यादा नहीं बतायी है। यथायोग्य जान लेना।

यह मनबल ऋद्धि मनःश्रुतावरण, वीर्यान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

---

1. तिलायेपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1072, 1073, पृष्ठ-318
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-315

2. वचन-बल-ऋद्धि

णमो वचिबलीणं।।[1]

वचन बली ऋषियों को हमारा नमस्कार हो।

यह ऋद्धि वचनबल से संबंधित है। इस ऋद्धि से ऋषि बारह अंगों का बार-बार वाचन, प्रतिवाचन करके भी खेद को प्राप्त नहीं होते हैं। अत: जिस वचन-शक्ति से बारह अंगों को बार-बार वाचन करे, प्रतिवाचन करे, फिर भी कण्ठ, जीभ आदि में शुष्कता या शरीर में शिथिलता न हो, उस शक्ति को वचनबल ऋद्धि कहते हैं। अथवा जिस शक्ति के कारण से जीभ, कंठ आदि में शुष्कता तथा शिथिलता के बिना मुहूर्त या अन्तर्मुहूर्त में ही सम्पूर्ण श्रुत का पाठ किया जाये, उस शक्ति को वचनबल ऋद्धि कहते हैं। धवलाकार के शब्दों में इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है -

''बारसंगाणं बहुवारं पडिवाडिं काऊण वि जो खेयं ण गच्छइ सो वचिबलि।''[2]

अर्थ - बारह अंगों का बहुत बार प्रतिवाचन करके भी जो ऋषि खेद को प्राप्त नहीं होता है, उस ऋषि को वचनबली कहते हैं। धवलाकार के अनुसार इस ऋद्धि की प्राप्ति तपोबल से होती है -

''तवोमाहप्पुप्पाइदवयणबलो वचिबली।''[3]

अर्थ - तप के महात्म्य से जिसने वचन बल को उत्पन्न किया है, वह वचनबली है।

यतिवृषभ इस ऋद्धि की उत्पत्ति का कारण जिह्वेन्द्रियावरण,

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-36, पृष्ठ-98
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-36, पृष्ठ-98
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-36, पृष्ठ-99

नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम को बताते हुए कहते हैं कि-

जिब्भिंदिय-णोइंदिय-सुदणाणावरण-विरिय-विग्घाणं।
उक्कस्स-खवोवसमे मुहुत्तमेत्तंतरम्मि मुणी।।
सयलं पि सुदं जाणइ उच्चारइ जीए विप्फुरंतीए।
असमो अहीण-कंठो, सा रिद्धी वयण-बल णामा।[1]

अर्थ - जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली जिस शक्ति से मुनि श्रमरहित और अहीनकंठ होते हुए मुहूर्त मात्र में सकल श्रुत को जान लेते हैं एवं उसका उच्चारण कर लेते हैं, उस शक्ति को वचनबल नाम की ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि का स्वरूप आचार्य अकलंक इसप्रकार कहते हैं -

''मनोजिह्वाश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमातिशये सत्यन्तर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्थाः सततमुच्चैरुच्चारणे सत्यपि श्रमविरहिता अहीनकण्ठाश्च वाग्बलिनः।''[2]

अर्थ - मन, जिह्वा श्रुतावरण, वीर्यान्तराय के अतिशय क्षयोपशम होने पर अन्तर्मुहूर्त में सकल श्रुत का उच्चारण करने में समर्थ तथा निरन्तर उच्चारण करने पर भी श्रमरहित और अहीन कण्ठवाले ऋषि वचनबली कहलाते हैं।

श्रुतसागर सूरि संक्षिप्त शब्दों में इस ऋद्धि को इसप्रकार निरूपित करते हैं -

''अन्तर्मुहूर्तेनाखिलश्रुतपाठशक्तयो ये ते वचोबलिनः।''[3]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1074-1075, पृष्ठ-318
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-564
3. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-315

अर्थ – अन्तर्मुहूर्त में सम्पूर्ण श्रुत का पाठ करने की शक्तिवाले वचनबली कहलाते हैं।

प्रश्न – लोक में किसी के वचनों से सर्प, बिच्छू आदि के जहर दूर होते देखे जाते हैं, उसका वचन बल ऋद्धि से कोई संबंध है अर्थात् क्या उनके वचन-बल ऋद्धि है?

उत्तर – नहीं, उनके वचनबल ऋद्धि नहीं है, ऋद्धियाँ मुनियों के ही होती हैं। लोक में किसी के वचनों से सर्पादि के जो दूर होते देखे जाते हैं, वे उनके पुण्य के उदय से है, लोक में जिसके पुण्य का उदय होता है, वह जिस निमित्त से जिन अक्षरों को जोड़ता है, उन अक्षरों के निमित्त से उस प्रकार के विष आदि दूर होते हैं। पुण्य के उदय से उसे वचनसिद्धि होती है। इसीप्रकार का शंका-समाधान चर्चासंग्रह में है –

''**प्रश्न** – लौकिक में किसी स्त्री-पुरुष के सर्प-बिच्छू का विष चढ़ा हो तो वह मंत्र से उतर जाता है। जैनेतरों में भी अनेक प्रकार के मंत्रों से प्रत्यक्ष कार्य की सिद्धि दिखाई देती है और मंत्र के अक्षर का कोई अर्थ नहीं, सो क्या रहस्य है?

उत्तर – जिसके पुण्य का उदय होवे, उसके अज्ञानमय तपश्चरण से भी वचन चलता है तथा उसके नाम के प्रभाव से जिस बात का मंत्र वह जोड़ता है, वह सिद्ध होता है- ऐसा जनना। और जिनमत में भी ऐसे ही अनादि-निधन बीजाक्षर हैं, वे अक्षर आगे-पीछे रखने से जिस-जिस जाति का मंत्र हो उस कार्य की सिद्धि होती है, वस्तु का स्वरूप जानना। इस तरह मंत्र, तंत्र, औषधि, तपश्चरण की अचिन्त्य शक्ति है – ऐसा जानना।''[1]

यहाँ वचनबल ऋद्धि से श्रुत के पाठ-प्रतिपाठ के समय के विषय में तीन प्रकार में तीन प्रकार के विचार मिलते हैं – 1. अकलंक और

---

1. चर्चासंग्रह, चर्चा-108, पृष्ठ-43

श्रुतसागर सूरि श्रुत के पाठ-प्रतिपाठ का समय अन्तर्मुहूर्त बताते हैं, 2. यतिवृषभ मुहूर्त मात्र कहते हैं तथा वीरसेन समय की मर्यादा नहीं कहते हैं। यथायोग्य जान लेना।

यह वचनबल ऋद्धि श्रुतावतरण व वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा जिह्वेन्द्रिय नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

3. काय-बल-ऋद्धि

णमो कायबलीणं।।[1]

कायबली ऋषियों को हमारा नमस्कार हो।

काय अर्थात् शरीर, उसके बल को कायबल कहते हैं। उस बल को धारण करनेवाले ऋषि को कायबली कहते हैं।

महिनों तक, वर्षपर्यन्त प्रतिमायोग, धारण करने पर भी शरीर में शिथिलता न होना, यह जिस शक्ति से होता है, उस शक्ति को कायबल ऋद्धि कहते हैं। अथवा हाथ की कनिष्ठिका (सबसे छोटी) ऊँगली के ऊपर तीनों लोकों को उठा सकने की शक्ति, न केवल उठा सकने की बल्कि उठाकर अन्यत्र रख सकने की शक्ति को कायबल ऋद्धि कहते हैं।

राजवार्तिककार अकलंक के अनुसार मासिक, वार्षिक आदि प्रतिमायोगों को धारण करने के पश्चात् भी शरीर में शिथिलता का न होना जिस शक्ति से होता है, वह कायबल ऋद्धि है। तथा धवलाकार वीरसेन के अनुसार तीनों लोकों को उठा सकने तथा उठाकर अन्यत्र रख सकने की शक्ति कायबल ऋद्धि है। तिलोयपण्णत्तीकार यतिवृषभ के अनुसार मासिक, चातुर्मासिक आदि कायोत्सर्ग धारण करते हुए शरीर में शिथिलता का अनुभव न होना तथा अंगुली के ऊपर तीन लोकों को उठाकर अन्यत्र रख सकने की शक्ति को कायबल कहते हैं।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-37, पृष्ठ-99

धवलाकार के इस ऋद्धिविषयक शब्द इसप्रकार हैं –

''तिहुवणं करंगुलियाए उद्धरिदूण अण्णत्थ ट्ठवणक्खमो कायबली णाम एसा वि कायसत्ती चारित्तविसेसादो चेव उप्पज्जदे, अण्णहाणुवलंभादो।''[1]

अर्थ – तीनों लोकों को हाथ की अंगुली से ऊपर उठाकर अन्यत्र रखने में जो समर्थ हैं, वे कायबली हैं ऐसी कायशक्ति चारित्रविशेष से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि उसके बिना वह पायी नहीं जाती है।

यतिवृषभ के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है –

उक्कस्स खवोवसमे, पविसेसे विरिय-विग्घ-पयडीए।
मास-चउमास-पमुहे काउस्सग्गे वि सम-हीणा।।
उच्चट्ठिय तेल्लोक्कं, झत्ति कणिट्ठंगुलीए अण्णत्थ।
थविदुं जीए समत्था सा रिद्धी काय-बल णामा।।[2]

अर्थ – वीर्यान्तराय प्रकृति का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जिस शक्ति से मुनि के द्वारा मास, चातुर्मास आदिक कायोत्सर्ग करते हुए भी वे श्रमरहित होते हैं तथा शीघ्रता (फूर्ति) से तीनों लोकों को कनिष्ठ अंगुली के ऊपर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने में भी समर्थ होते हैं, वह कायबल नाम की ऋद्धि है।

श्रुतसागर इस ऋद्धि का लगभग उक्त प्रकार का ही स्वरूप मानते हैं –

''मासचातुर्मासषण्मासवर्षपर्यन्तकायोत्सर्गकरणसमर्था अंगुल्यग्रेणापि त्रिभुवनमप्युद्धृत्य अन्यत्र स्थापनसमर्था ये ते कायबलिनः।''[3]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-99
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1076-1077, पृष्ठ-318-319
3. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-315

अर्थ – एक मास, चार मास, छह मास और वर्षपर्यन्त भी कायोत्सर्ग करने की शक्ति तथा अंगुली के अग्रभाग से तीनों लोकों को उठाकर दूसरी जगह रखने का सामर्थ्य जिनमें पायी जाती है, वे कायबली कहलाते हैं। उनकी ऐसी शक्ति को काय बल ऋद्धि कहते हैं।

अकलंक कायबल ऋद्धि में तीन लोक को उठा सकने की चर्चा नहीं करते हैं, मात्र प्रतिमायोगों को धारण कर सकने की चर्चा करते हैं–

''वीर्यान्तरायक्षयोशमाविर्भूताऽसाधारणकायबलत्वात् मासिक चातुर्मासिकसांवत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रमक्लमविरहिता: कायबलिन:।''[1]

अर्थ – जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होनेवाले कायबल से मासिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आदि प्रतिमायोगों को धारण करने पर भी थकावट व क्लान्ति से रहित होते हैं, वे कायबली कहलाते हैं।

यह कायबल, वीर्यान्तराय कर्म के उत्कृष्ट क्षयोपशम से प्रकट होता है। इसप्रकार के कायबल अथवा गरिमा ऋद्धि से प्राप्त बल की चर्चा कथासाहित्य में प्रसिद्ध है। बालक महावीर को सुमेरु पर अभिषेक के समय 1008 कलशों की धारा को बालक सह पायेगा या नहीं ऐसी शंका होने पर अँगूठे को दबाने पर पर्वत के हिलने का प्रसंग प्रसिद्ध है, वह कायबल की चर्चा का ही प्रसंग है।

''रावण ने भी बालि मुनि से बैर विचार कर कैलाश पर्वत को उठाया था। उस समय बालि मुनि ने वहाँ के जिन–बिम्ब, जिन–मंदिरों, वहाँ के जीवों की रक्षा के लिए पैर का अँगूठा दबाकर कैलाश पर्वत को स्थिर रखना चाहा था।''[2]

---

1. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–564
2. पं. चम्पालाल, चर्चासागर, पृष्ठ–6

बल ऋद्धिधारी मुनि में कितनी शक्ति होती है? इसकी चर्चा चर्चासंग्रह में रायमलजी ने लिखी है –

''प्रथम स्वर्ग के इन्द्र में जम्बूद्वीप पलटने की, सर्वार्थसिद्धि के देवों में तीन लोक उठा लेने की सामर्थ्य है, परन्तु ऐसी कषाय नहीं है, इसलिए ऐसी बुद्धि नहीं उपजती। तीर्थंकर और बललब्धि ऋद्धिधारी मुनियों में तीन लोक उठा लेने की शक्ति से भी अनन्त गुनी शक्ति होती है, किन्तु उठाते नहीं। ऐसा क्यों? वास्तव में तो अकृत्रिम-वस्तु चलाने से कहीं चल नहीं सकती, अथवा उनके ऐसी संक्लेशरूप कषाय नहीं होती, अतः ऐसी शक्ति ही जानना।''[1]

तीर्थंकरों के जन्म के दस अतिशयों में से एक अतिशय तीर्थंकर का जन्म से अतुल बलधारी होना है।

यह कायबल ऋद्धि अन्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा नामकर्म के उदय से प्रकट होती है।

इसप्रकार अनेक स्थानों पर बलऋद्धियों की चर्चा प्रथमानुयोग में मिलती है।

कायबल ऋद्धि का वर्णन दो आधारों पर किया है, एक प्रतिमा योगों को धारण करने के आधार पर और दूसरा तीनों लोकों को उठाने के आधार पर।

प्रश्न – प्रतिमायोग का अर्थ क्या है?

उत्तर – प्रतिमा (मूर्ति) की तरह अचल अवस्था में स्थिर होने को प्रतिमायोग कहते हैं।

बल ऋद्धियों का सारांश यह है कि आगमों में बल तीन प्रकार का बताया है – मनोबल, वचनबल और कायबल। इन बलों के अनुसार बल ऋद्धियाँ तीन हैं – मनोबल ऋद्धि, वचनबल ऋद्धि, कायबल ऋद्धि।

---

1. चर्चासंग्रह, चर्चा-41, पृष्ठ-16

जिन मुनियों को मनोबल ऋद्धि प्रकट होता है, वे मनोबली, जिनको वचनबल ऋद्धि प्रकट होता है, वे वचनबली तथा जिनको कायबल ऋद्धि प्रकट होता है, वे कायबली कहलाते हैं।

मनोबल ऋद्धि से मुहूर्त अन्तर्मुहूर्त मात्र समय में सम्पूर्ण द्वादशांग के अर्थों का विचार करते हैं, फिर भी उनका मन खेद को प्राप्त नहीं होता है। वचन बल ऋद्धि से द्वादशांग के शब्दों का बार-बार उच्चारण करते हैं, कायबल से प्रतिमायोग, कायोत्सर्गों को लम्बे समय तक धारण करते हैं - इन सब बलों का उपयोग मुनिराज स्वरूप में रहने के लिए करते हैं।

बल ऋद्धियाँ मनःश्रुतावरण, श्रुतज्ञानावरण, जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से प्रकट होती हैं अर्थात् बलऋद्धियाँ क्षायोपशमिक ऋद्धियाँ हैं।

इस प्रकार बल ऋद्धियों की चर्चा पूर्ण हुई।

****

मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के काल में एक मधुपिंगल नाम के मुनि हुए थे। उनके शरीर के लक्षणों को देखकर एक निमित्तज्ञानी ने कहा था कि इस युवक के चिह्न राज्य के भोग के हैं -

पुरमेकं तनुस्थित्यै विशतो वीक्ष्य लक्षणम्।
कश्चिन्नैमित्तिको यूनः पृथ्वीराज्यार्हदेहजैः।।246।।
लक्षणैरेष भिक्षाशी किल किं लक्षणागमैः।
इत्यनिन्दत्तदाकर्ण्य परोऽप्येवमभाषत।।247।।

ये वन में नग्न क्यों हैं? इससे लगता है कि हमारे लक्षणशास्त्र झूठे हैं। वहीं पास खड़े दूसरे लक्षणशास्त्रों ने कहा - लक्षणशास्त्र सच्चे हैं, इनके साथ छल हुआ है। - आचार्य गुणभद्र, उत्तरपुराण-67

अध्याय-6

5. तप-ऋद्धियाँ

अब क्रमप्राप्त तप ऋद्धियों की चर्चा प्रारंभ करते हैं। तपों से संबंधित ऋद्धियों को तप ऋद्धियाँ कहते हैं।

यह तो ठीक, परंतु तप किसे कहते हैं? यह विचार करते हैं -

इच्छानिरोधस्तपः।[1]

अर्थ - इच्छाओं को रोकने का नाम (भाव) तप है।

उपवासादि द्रव्य तप हैं। रोकने और रुकने में अंतर है। पाप के उदय से इच्छाएँ दबती हैं, रुकती हैं, मिटती नहीं हैं। पाप का उदय हो या पुण्य का उदय आत्मस्वरूप के अवलोकन रूप सामर्थ्य से इच्छाओं का उत्पन्न न होना ही वास्तविक तप है।

आत्मस्वरूप की रुचि के कारण बाह्य प्रवृत्ति का मंद होना, बाह्यप्रवृत्ति के मंद होने से विषय-कषाय की भावना का मंद होना, विषय कषाय की भावना मंद होने से विषय-भोगों का अपने आप त्याग होना, उस समय भविष्य में प्रमाद न हो, एतदर्थ नियम या यम लेकर त्याग करना, इसप्रकार के त्याग को उपचार से तप कहते हैं। निश्चय से अपने चैतन्य स्वरूप में वृत्तियों का स्थिर होना तप है।

''**स्वस्वरूपे प्रतपनं तपः।**[2]''

अर्थ - स्व-स्वरूप में प्रतपन (स्थिर रहना) ही तप है।

यह तप निश्चय से तप है, अनशन आदि व्यवहार तप हैं।

---

1. मोक्षपंचाशत्, गाथा-48 एवं धवला खण्ड-5, भाग-4, पुस्तक-13, सूत्र 26, पृष्ठ 54
2. प्रवचनसार, गाथा-79, तात्पर्यवृत्ति टीका

प्रश्न – तप एक ही प्रकार का है या अनेक प्रकार है?

उत्तर – वास्तव में स्वरूप साधनरूप तप तो एक ही प्रकार का है, बाह्यक्रिया यथाशक्ति अनेक प्रकार की होती है, अत: बाह्यक्रिया रूप बाह्य तप अनेक प्रकार का है। ऋद्धि के प्रकरण में इस बाह्य-क्रियारूप तप के मुख्यरूप से सात भेद बताकर तप ऋद्धियाँ सात प्रकार की कही हैं। तप ऋद्धियों के नामों में तथा क्रम में भिन्नता है। तप ऋद्धियों की संख्या के विषय में लगभग सभी आचार्य एकमत हैं। सभी ने तपऋद्धियों की संख्या सात ही मानी है। उन तप ऋद्धियों के सात नाम इसप्रकार हैं –

1. उग्र-तप-ऋद्धि, 2. दीप्त-तप-ऋद्धि, 3. तप्त-तप-ऋद्धि, 4. महा-तप-ऋद्धि, 5. घोर-तप-ऋद्धि, 6. घोर-पराक्रम-तप ऋद्धि, 7. अघोरगुण-ब्रह्म-तप ऋद्धि।

यही कहा है –

''घोरतपो महातप उग्रतपो दीप्ततपस्तप्ततपो घोरगुण-ब्रह्मचरिता घोरपराक्रमता चेति तप-ऋद्धिः सप्तधा।''[1]

श्रुतसागर के अनुसार ऋद्धियों का क्रम भिन्न है तथा अघोरगुणब्रह्म तप के स्थान पर घोरगुणब्रह्मचरिता नाम है, परंतु दोनों का भाव एक ही है।

दीप्तं तप्तं च तथा महोग्रं, घोरं तपो घोरपराक्रमस्था:।
ब्रह्मापरं घोर गुणाश्चरन्त:, स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।[2]

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठकार के अनुसार ऋद्धियों का क्रम भिन्न है, परन्तु नाम वे ही हैं। तथा आचार्य अकलंक के अनुसार –

''तपोऽशयर्द्धिः सप्तविधा उग्र-दीप्त-तप्त-महा-घोर-तपो-वीरपराक्रम-घोर-ब्रह्मचर्यभेदात्।''[3]

---

1. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314
2. परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक-8, पृष्ठ-77
3. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अध्याय 3, सूत्र 36, पृष्ठ 563

अकलंक के अनुसार क्रम पूर्वोक्त है, परन्तु घोरपराक्रम के स्थान पर वीरपराक्रम नाम है। तथा आचार्य अकलंक ने तप शब्द का प्रयोग पहली पाँच ऋद्धियों के साथ किया है, छठी ऋद्धि को वीरपराक्रम कहा तथा सातवीं को घोर बह्मचर्य नाम से कहा।

आचार्य अकलंक ने छठी, सातवीं ऋद्धि के साथ भले ही तप शब्दों का प्रयोग नहीं किया हो तो भी उनकी गिनती तप ऋद्धियों में होने से वे दोनों तप ऋद्धियाँ ही जानना।

धवलाकार ने भी आठ ही तपों का वर्णन किया है, अत: उनके अभिप्रायानुसार तप-ऋद्धियाँ आठ भी हो सकती हैं। उनके नाम और क्रम पूर्वानुसार है।

1. उग्र तप 2. दीप्त तप 3. तप्त तप 4. महा तप 5. घोर तप 6. घोर पराक्रम 7. घोर गुण 8.अघोर गुण ब्रह्मचारी - इन आठ जिनों को धवलाकार ने नमस्कार किया है। धवला के मूल सूत्रों तथा उनकी टीकाओं में ऋद्धि शब्द का प्रयोग नहीं है। ऋद्धि शब्द का प्रयोग पहले छह उग्र से घोर पराक्रम तक हिंदी अनुवाद कर्ता ने किया है। इसलिए यह स्पष्ट नहीं होता कि वे तप ऋद्धियों की संख्या कितनी मानते हैं। हाँ, इतना स्पष्ट है कि वे आठ प्रकार के तप मानते हैं। उनमें तप ऋद्धियाँ कितनी हैं, स्पष्ट नहीं।

धवलाकार के द्वारा निरूपित तपों के नाम तथा क्रम उनके द्वारा रचित सूत्रों में है, वह तप ऋद्धियों के वर्णन में आयेगा।

तवाणमुक्कट्ठफलं णिव्वुई, अवरमणुक्कट्ठफलं।[1]

अर्थ - तप का उत्कृष्ट फल मोक्ष है, तथा ऋद्धियाँ आदि अनुत्कृष्ट फल है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड 4, भाग 1, पुस्तक 9, पृष्ठ 89-90

प्रश्न – उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थ सूत्र में –

अनशनावमौदर्य–वृत्तिपरिसंख्यान–रसपरित्याग–विविक्त–शय्यासन–कायक्लेशा बाह्यं तपः।[1]

प्रायश्चित्त–विनय–वैयावृत्य–स्वाध्याय–व्युत्सर्ग–ध्यानान्युत्तरम्।[2]

अर्थ – अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश – ये छह बाह्य तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान – ये छह अन्तरंग तप हैं।

प्रश्न – इन बारह तपों में और तपऋद्धि के सात तपों में क्या भेद हैं?

उत्तर – अनशन आदि बारह प्रकार के तप हैं। इन तपों में पहले छह तप शारीरिक तप है। प्रायश्चित्त आदि छह अन्तरंग तप मानसिक भाव रूप तप हैं। टोडरमलजी के अनुसार ये सभी तप बहिरंग तप ही हैं।[3]

शारीरिक तप और मानसिक भावरूप तप क्रियारूप हैं। तपऋद्धियों में तप की शक्तियाँ बताई हैं। इसलिए यही क्रिया को तप तथा तप की शक्ति को तप ऋद्धि जानना।

वास्तव में तप की शक्तियों को ही तपऋद्धियाँ कहा है।

उमास्वामी जी ने जो तप का वर्णन किया है, वह संवर–निर्जरा क प्रकरण में क्षमा आदि दश धर्मों के अन्तर्गत किया है।

उमास्वामीजी और ऋद्धियों के तपों में अन्तर यह है कि जैसे

---

1. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय–9, सूत्र–19
2. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय–9, सूत्र–20
3. पंडित टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय–7, पृष्ठ–232

उमास्वामीजी ने अनशन (उपवास) का वर्णन किया है, वह अनशन तप अनियमरूप है। ऋद्धियों के उग्र तप में उपवास (अनशन) का वर्णन है, वह उपवास (अनशन) नियमरूप तप है। उग्रतप में दीक्षा के समय एक, दो आदि उपवास का नियम लिया हो वह नियमरूप उपवास है, वहाँ एक विशेष तथ्य यह है कि उन उपवासों में उपसर्ग और अन्तराय से बाधा आये तो उपवासों की संख्या बढ़ती है, घटती नहीं।

सामान्यतया से दोनों तप ही हैं। दश धर्मों के तप सामान्य तप हैं, ऋद्धियों के तप असामान्य, अतिशयवन्त तप हैं। ऋद्धि के तप विशेष होने से कोई विरला ही तपता है। दश धर्मों के तप इच्छारूप तप हैं। ऋद्धियों में तप ग्रहण करने के बाद नियम से करना ही करना है, उसमें इच्छा काम नहीं करती। ऋद्धियों के तपों की संख्या तथा दृढ़ता निरंतर बढ़ती है, घटती नहीं।

यही उन दोनों तपों में अन्तर है।

अनशन आदि तप, ऋद्धियों के तपों में गर्भित हैं। जैसे अनशन बाह्यतप उग्र तप में गर्भित है। अवमौदर्यतप महातप में गर्भित है, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशयनासन, कायक्लेश तप ये सब घोर, महाघोर, घोरपराक्रम तपों में गर्भित हैं। प्रायश्चित्त आदि सभी अन्तरंग तप अघोरगुण ब्रह्म तप में गर्भित होते हैं।

इसप्रकार तप और तप ऋद्धियों का सुमेल जानने के बाद अब प्रत्येक तप ऋद्धि के स्वरूप पर विचार करते हैं –

1. उग्र–तप–ऋद्धि

णमो उग्गतवाणं।।[1]

उग्र–तप धारी जिनों को हमारा नमस्कार हो।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, सूत्र–22, पृष्ठ–87

दीक्षा के समय धारण किए गए उपवास जीवनपर्यन्त धारण करना उग्र-तप कहलाता है।

अथवा जिस शक्ति से दीक्षा के समय स्वीकार किए गए उपवासों को जीवन पर्यन्त धारण किया जाता है, उस शक्ति को उग्रतप ऋद्धि कहते हैं।

मरण समय तक तप को धारण करना, किसी भी स्थिति में धारण किये हुए तप का त्याग नहीं करना, यही इस तप ऋद्धि की उग्रता है। इसीलिए इसे उग्र तप कहा है। उग्र तप के दो प्रकार हैं -

''उग्गतवा दुविहा उग्गुग्गतवा अवट्ठिदुग्गतवा चेदि।''[1]

अर्थ - उग्र-तप दो प्रकार का है - 1. अवस्थित उग्र-तप, 2. उग्र-उग्र (उग्रोग्र) तप।

I. **अवस्थित उग्र-तप -** दीक्षा के समय एक उपवास का नियम लेकर दीक्षा ली हो, जीवन पर्यन्त उस एक उपवास का त्याग न करने संबंधी तप उग्र-तप कहलाता है।

एक उपवास करनेवाले मुनि आहार के लिए गए, वहाँ अंतराय हुआ, तब उनके दो उपवास हुए, अब जीवनपर्यन्त दो उपवास करते रहना अर्थात् दो-दो उपवासों के बाद ही पारणा करना-इस क्रम को जीवनपर्यन्त निभाया जाये तो उस तप को अवस्थित उग्र-तप कहते हैं।

दीक्षा के समय उपवास का नियम होता है। इच्छानुसार उपवास का नियम लेकर दीक्षा ली जाती है। वह संख्या में एक, दो आदि कितने ही हो सकते हैं। आदिनाथ ने छह माह के उपवास का नियम लेकर दीक्षा ली थी। वह या वे उपवास दीक्षा के उद्देश्य से था या थे। जरूरी नहीं कि आगे करते ही रहें, परंतु उनको जीवन भर के लिए धारण करें तो वह या वे उपवास करना उग्र तप कहलाता है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-22, पृष्ठ-87

इस तप में अन्तराय या उपसर्ग के कारण उपवासों की संख्या बढ़ती जाती है, बढ़ी हुई उस संख्या को जीवन पर्यन्त घटाते नहीं, इसे अवस्थित उग्र-तप कहते हैं।

उग्र-उग्र तप में उपवासों की संख्या बढ़ायी जाती है, अवस्थित उग्र-तप में उपवासों की संख्या अपनी इच्छा से बढ़ाई नहीं जाती, इसमें उपवासों की संख्या तो बढ़ती है, परन्तु वह संख्या अपनी इच्छा से नहीं, अपितु अंतराय या उपसर्ग के कारण से बढ़ती है।

उपवासों की संख्या अवस्थित उग्र तप में तथा उग्रोग्र तप में दोनों ही बढ़ती है। अवस्थित उग्र तप में उपसर्ग व अंतरायों के कारण से बढ़ती है। उग्रोग्र तप में नियम से बढ़ायी जाती है तथा उपसर्ग, अंतराय से भी बढ़ती है।

यहाँ **प्रश्न –** क्या उपवास करना ही तप है? क्योंकि कायोत्सर्ग, प्रतिमायोग, विविक्त शयनासन आदि क्रियाओं को तप (के अन्तर्गत) कहा है, यहाँ मात्र उपवास को ही तप कह रहे हो?

उसका **उत्तर –** यहाँ उपवास मात्र को तप कहा है, उसका आशय यह जानना कि उपवास ही तप नहीं है, उपवास के द्वारा तप को समझाया गया है। यहाँ उपवास को भी ढंग से समझना जरूरी है कि उपवास किसे कहते हैं? इसका सटीक उत्तर है –

विषयकषायाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः।।[1]

अर्थ – जहाँ विषय, कषायों के त्याग के साथ आहार का त्याग होता है, वहाँ उस क्रिया को उपवास कहते हैं, अन्यथा विषय, कषायों

1. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ की गाथा 377 (उववासं कुव्वंतो...) की शुभचंद्राचार्यकृत संस्कृत टीका में उद्धृत श्लोक तथा मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय 7, पृष्ठ 231 पर उद्धृत श्लोक

के त्याग के बिना मात्र आहार के त्याग को उपवास नहीं लंघन कहते हैं। और कहा है –

स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात्।
उपवास सन् स्वाद्य–खाद्य–पेय–विवर्जनम्।।[1]

अर्थ – इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को हटाकर इन्द्रियों में लीन करते हुए स्वाद, खाद्य, पेय पदार्थों का त्याग करना उपवास कहलाता है।

उपवास को अन्य प्रकार से भी परिभाषित किया है – उसमें मन का उपवास ध्यान है, वचन का उपवास मौन है तथा शरीर का उपवास निराहारता है। पाँच इन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों के त्यागपूर्वक निज चैतन्य स्वरूप में रहना तथा रहने का प्रयत्न करना यह उपवास कहलाता है। सभी व्रतों, नियमों, यमों का भी यही प्रयोजन है कि स्वरूप की स्थिरता के लक्ष्य से विषयों, कषायों का त्याग हो।

ऐसा भी नहीं कि उपवास करनेवाला मात्र आहार का त्याग करता है, उपवास करनेवाला श्मशान आदि विकट से विकट एकान्त स्थानों पर प्रतिमायोगरूप, विविक्तशयनासन रूप, कायोत्सर्ग आदि कठोर तप विशेष प्रकार से करता ही है।

यहाँ उपवास के द्वारा समझाया है उसका अर्थ ऐसा नहीं उग्र–तप तपनेवाला तपस्वी उपवास ही करता है, वह कायोत्सर्ग, प्रतिमायोग, विविक्त शयनासन तप भी आचरता है।

अवस्थित–उग्र–तपस्वी का स्वरूप धवलाकार के अनुसार इस प्रकार है –

''दिक्खट्ठमेगोववासं काऊण पारिय, पुणो एक्कहंतरेण

---

1. अनगारधर्मामृत, अध्याय–7, श्लोक–12

गच्छंतस्स किंचिणिमित्तेण छट्ठोववासो जादो। पुणो तेण छट्ठोववासेण विहरंतस्स अट्ठामोववासो जादो। एवं दसम-दुवालसादिक्कमेण हेट्ठा ण पदंतो जाव जीविदंतं जो विहरदि अवट्ठिदुग्गतवो णाम।''[1]

अर्थ - दीक्षा के लिए एक उपवास करके पारणा करें, पश्चात् एक दिन के अन्तर से ऐसा करते हुए किसी निमित्त से पष्ठोपवास हो गया। फिर उस षष्ठोपवास से विहार करते हुए अष्टमोपवास हो गया। इस प्रकार दशम-द्वादश आदि के क्रम से नीचे न गिरकर जो जीवन-पर्यन्त विहार करता है, वह अवस्थित-उग्र-तप ऋद्धि का धारक कहा जाता है।

तिलोयपण्णत्ती में आचार्य यतिवृषभ ने भी अवस्थित उग्र-तप ऋद्धि का स्वरूप लगभग इसप्रकार बताया है -

दिक्खोपवासमादिं, कादुं एक्कंतरोव वासाणि।
कुव्वाणो जिण-णिब्भर-भत्ति-पसत्तेण चिंतेण।।
उप्पण्ण-कारणंतर जादे छट्ठट्ठमादि उववासे।
हेट्ठं ण जादि जीए, सा होदि अवट्ठिदोग्ग-तव-रिद्धी।।[2]

अर्थ - दीक्षार्थ एक उपवास करके (पारणा करें और पुनः) एक-एक दिन का अंतर देकर उपवास करता जाए। पुनः कुछ कारण पाकर षष्ठभक्त, पुनः अष्टमभक्त (पुनः दशम भक्त, पुनः द्वादशभक्त) इत्यादि क्रम से नीचे न गिरकर जिनेन्द्र की भक्तिपूर्वक प्रसन्न-चित्त से उत्तरोत्तर मरणपर्यन्त उपवासों को करते जाना, यह उग्र-तप-ऋद्धि है।

आचार्य अकलंक ने उग्र-तप ऋद्धि के दो प्रकार नहीं माने, उनके अनुसार उग्र-तप ऋद्धि एक प्रकार की ही है। उनके अनुसार उग्रतप तपस्वी का स्वरूप है -

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-89
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1061-1062, पृष्ठ-315

''चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशपक्षमासाद्यनशनयोगेष्वन्यतम–योगमारभ्य आमरणादनिर्वतका उग्रतपसः।''[1]

अर्थ – चार, छह, आठ, दस, बारह (दिन), पक्ष (पन्द्रह दिन), मास (तीस दिन) आदि योगों में किसी योग का आरंभ कर उससे मरणपर्यन्त न हटानेवाले उग्र–तपस्वी होते हैं। (उनकी इसप्रकार की तप करने की शक्ति उग्र–तप ऋद्धि जानना।)

श्रुतसागर सूरि ने जीवनपर्यन्त शब्द का उल्लेख न करके मात्र इतना ही कहा कि पंचमी, अष्टमी आदि को उपवास करना, आहार न मिलने पर तीन, चार, पाँच उपवास करनेवाले उग्र तपस्वी होते हैं –

''उग्रतपः – पञ्चम्यामष्टम्यां चतुर्दश्याञ्च गृहीतोपवासव्रता अलाभद्वये अलाभत्रये वा त्रिभिरूपवासैश्चतुर्भिरुपवासैः पञ्चभिर्वोपवासैः कालं निर्गमयन्ति इत्येवं प्रकारा उग्रतपसः।''[2]

अर्थ – उग्र तप–पंचमी, अष्टमी, चतुर्दशी में स्वीकृत उपवासव्रत को (आहार का) लाभ न होने पर उसी उपवास को दो, तीन, चार, पाँच आदि बढ़े हुए उपवासों के साथ काल–यापन करनेवाले उग्र तपस्वी होते हैं।

अवस्थित उग्र तप ही अकलंक और श्रुतसागर के अनुसार उग्रतप ऋद्धि है।

अवस्थित उग्रतप ऋद्धि का आशय इतना ही है कि दीक्षा के समय जितने उपवास ग्रहण किये थे, उतने उपवासों को निरन्तर जीवनपर्यन्त करते रहना, उसमें कमी न करना, अंतराय आने पर उपवासों की संख्या बढ़ जाये तो उस बढ़ी हुई संख्या में कमी न करना जीवनपर्यन्त उसका

---

1. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–563
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–314

निर्वाह करना उग्र तप है, ऐसे तप करने की शक्ति को या शक्ति की प्राप्ति को उग्र तप ऋद्धि कहते हैं।

प्रश्न – तप और उग्रतप में क्या अन्तर है?

उत्तर – शरीर में प्रमाद जानकर एक-दो आदि उपवास करना तप है तथा उन उपवासों में जीवनपर्यन्त धारण करना उग्र तप है।

II. उग्र-उग्र (उग्रोग्र)-तप-ऋद्धि

दीक्षा के उपवास (दीक्षोपवास) से प्रारम्भ करके मरण तक एक-एक अधिक उपवास को बढ़ाकर निर्वाह करना, उग्रोग्र तप कहलाता है।

उपवासों को बढ़ाते रहना ही इस तप का उग्र उग्रपना है या उग्रोग्रता है।

तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार उग्रोग्र-तप ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार है-

दिक्खोववासमादिं कादूणं एक्काहिएक्कपचएण।
आमरणं तं जवणं सा होदि उग्गोग्ग-तव-रिद्धी।।[1]

अर्थ - दीक्षोपवास से प्रारम्भ कर एक-एक अधिक उपवास बढ़ाकर मरणपर्यन्त निर्वाह करना, उग्रोग्र तप ऋद्धि है।

दीक्षार्थी एक उपवास का नियम लेकर दीक्षा ले, वह एक उपवास के बाद पारणा करेगा, फिर वह दो उपवास करके पारणा करेगा, इस प्रकार एक-एक उपवास को बढ़ाते रहे, तो उसके उस तप को उग्रोग्र तप कहते हैं। इसप्रकार के उग्रोग्र-तप करने की शक्ति को उग्रोग्र-तप ऋद्धि जानना।

धवलाकार ने भी इस तप का स्वरूप भी इसी प्रकार बताया है, उनके शब्द इसप्रकार हैं -

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1060, पृष्ठ-315

''जो एक्कोववासं काऊण पारिय दो उववासे करेदि, पुणरवि पारिय तिण्णि उववासे करेदि। एवमेगुत्तरवड्ढीए जाव जीविदंतं तिगुत्तिगुत्तो होदूण उपवासे करेंतओ उग्गुग्गतवो णाम।''[1]

अर्थ - जो एक उपवास करके पारणा कर दो उपवास करता है, पश्चात् पारणा कर तीन उपवास करता है, इसप्रकार एक अधिक एक अधिक वृद्धि के साथ जीवनपर्यन्त तीन गुप्तियों से रक्षित होकर उपवास करने वाला हो तो वह उग्रोग्र-तप का धारक है।

धवलाकार के अनुसार यह तपस्वी तीन गुप्तियों से रक्षित होता है। यहाँ शिष्य धवलाकार से **प्रश्न** करता है कि इसप्रकार उपवासों को बढ़ाने के क्रम में छह माह से अधिक उपवास होने से उग्रोग्र तप घटित नहीं होता है? धवलाकार उसका **उत्तर** देते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि छह माह से अधिक उपवास का नियम घातायुष्क मुनि के लिए है अर्थात् घातायुष्क मुनि के ही छह माह से अधिक का उपवास नहीं होता है। अघातायुष्क मुनि के लिए यह नियम नहीं है, क्योंकि अघातायुष्क मुनि का अकालमरण नहीं होता है। घातायुष्क मुनि छह माह से अधिक का उपवास होने पर संक्लेश परिणामवाला होता है। धवलाकार के शब्दों में शंका-समाधान इस प्रकार है -

शंका - एवं संते छम्मासेहिंतो वड्ढिमा उववासा होंति तदो णेदं घडदि त्ति?

समाधान - ''ण एस दोसो, घादाउआणं मुणीणं छम्मासोववासणियमब्भुवगमादो, णाघादाउआणं, तेसिमकाले मरणाभावादो।''[2]

अर्थ - शंका - ऐसा होने (उग्रोग्र-तप में उपवास बढ़ाने) पर

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-87
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-88

छह माहों से अधिक उपवास हो जाते हैं, इस कारण यह (उग्रोग्र) तप घटित नहीं होता है?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि घातायुष्क मुनियों के छह मासों के उपवास का नियम स्वीकार किया है, अघातायुष्क मुनियों के नहीं, क्योंकि उनका (अघातायुष्कों का) अकाल में मरण नहीं होता है।

यहाँ पुन: **शंका – ''अघादाउआ वि छम्मासोववासा चेव होंति, तदुवरि संकिलेसुप्पत्तीदो त्ति?**

समाधान – ''उत्ते होदु णाम ऐसो णियमो ससंकिलेसाणं सोवक्कमाउआणं च, ण संकिलेसविरहिदणिरूवक्कमाउआणं तवोबलेणुप्पण्णविरियंतराइयक्खओवसमाणं तब्बलेणेव मंदी कसायादावेदणीओदयाणमेस णियमो, तत्थ तव्विरोहादो।''[1]

अर्थ – शंका – अघातायुष्क भी छह माह तक का उपवास करनेवाले ही होते हैं, क्योंकि इसके आगे संक्लेश भाव उत्पन्न हो जाते हैं?

समाधान – इसके उत्तर में कहते हैं कि संक्लेश सहित और सोपक्रमायुष्क मुनियों के लिए यह नियम भले ही हो, किन्तु संक्लेशभाव से रहित निरूपक्रमायुष्क और तप के बल से उत्पन्न हुए वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से संयुक्त तथा उसके बल से ही असाता वेदनीय के उदय को मंद कर चुकनेवाले मुनियों के लिए यह नियम नहीं है, क्योंकि इनमें इसका विरोध है। अर्थात् उग्रोग्र तपस्वी जो अघातायुष्क है, उसके छह माह से अधिक का उपवास होता है। यही अन्य शंका-समाधान में धवलाकार कहते हैं-

शंका – ''एरिसी सत्ती महाणस्स तवोबलेण उप्पज्जदि त्ति कधं णव्वदे?

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-88-89

समाधान – एदम्हादो चेव सुत्तादो। कुदो? छम्मासेहिंतो उवरि उववासाभावे उग्गुग्गतवाणुववत्तीदो।''[1]

अर्थ – शंका – तप के बल से ऐसी (उग्रोग्र तप की) शक्ति किसी महाजन अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष के उत्पन्न होती है, यह कैसे जाना जाता है?

समाधान – इसी सूत्र से जाना जाता है, क्योंकि छह माहों से ऊपर उपवास का अभाव मानने पर उग्रोग्र तप नहीं बन सकता।

उक्त शंकाओं और समाधानों का आशय इतना ही है कि घातायुष्क मुनि के छह माह से अधिक का उपवास नहीं होता है, यदि घातायुष्क मुनि छह माह से अधिक का उपवास करे तो उससे उसके संक्लेश परिणाम हो जायेंगे। तथा अघातायुष्क मुनि के छह माह से अधिक का उपवास हो सकता है, क्योंकि उसका अकालमरण नहीं होता तथा उसके उस उपवास से संक्लेश परिणाम नहीं होते हैं।

प्रश्न – यहाँ धवलाकार ने यह तो बताया कि अघातायुष्क मुनि के छह माह से अधिक का उपवास होता है, परन्तु यह नहीं बताया कि उपवास की अधिकतम सीमा कितनी है?

उत्तर – इसका उत्तर श्रुतसागर सूरि ने दिया है कि एक वर्ष के उपवास के बाद मुनि के पारणा होती है, यदि मुनि पारणा न करें तो उनके केवलज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि एक वर्ष से अधिक उपवास नहीं होता है अर्थात् उपवास की अधिकतम सीमा एक वर्ष है। श्रुतसागर सूरि का विवरण इस प्रकार हैं –

''वर्षोपवासे सति पारणा भवति, केवलज्ञानं वोत्पद्यते, अतः परम् उपवासो न भवतीति निश्चयः।''[2]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-89
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314

अर्थ – एक वर्ष के उपवास के उपरान्त पारणा होती है, यदि पारणा नहीं की तो केवलज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिए इससे अधिक उपवास नहीं होता है, ऐसा निश्चय करना।

उग्रोग्र तप या उग्रोग्र तप ऋद्धि के विषय में अकलंक तथा श्रुतसागर ने कुछ नहीं लिखा, क्योंकि उन्होंने उग्र तप के भेद नहीं बताये हैं।

यह उग्र तप ऋद्धि धवलाकार के अनुसार वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होती है तथा इसका उत्कृष्ट फल मोक्ष है–

''एदंपि तवोविहाणं वीरियंतराइयक्खओवसमेण होदि। दोण्णं पि तवाणमुक्कट्ठफलं णिव्वुई, अवरमणुक्कट्ठफलं।''[1]

अर्थ – यह (उग्र) तप का अनुष्ठान वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होता है तथा इन (अवस्थित उग्र, उग्रोग्र) दोनों तपों का उत्कृष्ट फल मोक्ष है, अन्य अनुत्कृष्ट फल है।''

यह तप ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

2. दीप्त–तप–ऋद्धि

''णमो दित्ततवाणं।।''[2]

दीप्त तप ऋद्धि धारक जिनों को हमारा नमस्कार हो।

एक ऐसा विशिष्ट तप जिससे शरीर की कान्ति (तेज) और बल बढ़ते हैं, मुँह, नाक से सुगन्ध निकलती है, ऐसे तप को दीप्त तप कहते हैं। ऐसे तप को करने की शक्ति की प्राप्ति को दीप्त–तप–ऋद्धि कहते हैं।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–89–90
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, सूत्र–23, पृष्ठ–90

यह ऐसा तप है, जिससे शरीर की कान्ति बढ़ती, न केवल कान्ति बढ़ती है, साथ में शरीर का बल भी बढ़ता है, न केवल कान्ति और बल बढ़ते हैं, शरीर से सुगंध निकलती है। अर्थात् कोई तप ऐसे भी होते हैं, जिनके करने पर शरीर में शिथिलता नहीं आती, अपितु बल बढ़ता जाता है।

प्रश्न – अब तक दीप्त तप के बारे में यह तो बताया कि इससे शरीर की दीप्ति और शक्ति बढ़ती है और शरीर से सुगंध निकलती है, परंतु यह नहीं बताया कि वह तप कौन-सा है? व्रत-उपवास क्रिया रूप है या अन्य क्रियारूप?

उत्तर – जिस तप से दीप्ति आदि बढ़ने लगे, उस तप का नाम दीप्त तप कहा गया है। उपवास हो या कायोत्सर्ग हो या प्रतिमायोग हो या अन्य कोई तप हो – बाह्य में चाहे जो तप हो, अंतरंग में परिणामों की विशुद्धि से जब शरीर की कान्ति और बल बढ़ने लगे, शरीर से सुगंध निकलने लगे, तब बाह्य जो कोई तप हो, उसे दीप्त तप कहा जाता है। वह उपवास हो सकता है, कायोत्सर्ग प्रतिमायोग या अन्य कोई भी हो सकता है। प्रायः इस तप के साथ उपवासों को जोड़ा गया है।

यहाँ **प्रश्न** – उक्त प्रकार का विशिष्ट तप पहले होता है या दीप्त-तप-ऋद्धि प्रकट होने पर वह तप होता है?

उसका **समाधान** – वास्तव में बाह्य विरक्ति से तप प्रारम्भ होता है और विरक्ति की वृद्धि के साथ तप में वृद्धि होने लगती है। तप का संबंध विरक्ति से है, शारीरिक शक्ति के साथ तप का संबंध नहीं है। शारीरिक बल के साथ तप का साहचर्य मात्र है। विरक्ति से परिणामों की विशुद्धि बढ़ती जाती है, उस विशुद्धि के फलस्वरूप शरीर में कान्ति बल बढ़ते हैं, मुख-नासिका या सर्वांग से सुगन्ध निकलती है। अर्थात् दीप्त-

तप जैसी ऋद्धियों प्रकट होती है। पहले या बाद का प्रश्न यहाँ नहीं है, दोनों का समकाल है।

जिस ऋद्धि के कारण बड़े-बड़े उपवास करते रहने पर भी शरीर की दीप्ति चंद्र की कला की तरह बढ़ती रहती है, न केवल दीप्ति अपितु शरीर का बल बढ़ता है, मुँह और श्वास से सुगंध निकलती है, उसे दीप्त तप ऋद्धि कहते हैं। अथवा बड़े-बड़े तपों को करने की ऐसी शक्ति जिस से शरीर की कान्ति, मुख से तथा श्वासों से सुगंध निकलती है, उस शक्ति को दीप्त तप ऋद्धि कहते हैं।

दीप्ति का कारण होने से इस तप को दीप्त तप कहा है। यतिवृषभ के अनुसार इस ऋद्धि के कारण न केवल शरीर का बल बढ़ता है, अपितु मन और वचन से भी मुनि बलिष्ठ होते हैं -

बहुविह-उववासेहिं रविसम-वड्ढंत-काय-किरणोहा।
काय-मण-वयण-बलिणो, जीए सा दित्त-तव-रिद्धी।।[1]

अर्थ - जिस ऋद्धि के प्रभाव से मन, वचन और काय से बलिष्ठ ऋषि के बहुत प्रकार के उपवासों द्वारा शरीर की किरणों का समूह (कांतिसमूह) प्रकाश के सूर्य सदृश बढ़ता हो, वह दीप्त-तप ऋद्धि है।

आचार्य वीरसेन के अनुसार दीप्ततप ऋद्धि वाले मुनि के इस ऋद्धि के प्रभाव से शरीर की दीप्ति और बल के बढ़ने से उनके आहार का भी अभाव होता है, उनके शब्दों में इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है -

''दीत्तिहेतुत्वाद्दीप्तं तपः। दीप्तं तपो येषां ते दीप्ततपसः। चउत्थ-छट्ठमादिउव्वासेसु कीरमाणेसु जेसिं तव जणिदलद्धि-माहप्पेण सरीरतेजो पडिदिणं वड्ढदि किंतु बलो वि वडढदि

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1063, पृष्ठ-315

धवलपक्खचंदस्सेव ते रिसओ दित्ततवा। तेसिं ण केवलं दित्ती चेव वड्ढदि, किंतु बलो वि वड्ढदि सरीर बल–मांस–रूहिरोवचएहि विणा सरीरदीत्ति–वुड्ढीए अणुववत्तीदो। तेण ण तेसिं भुत्तो वि, तक्कारणाभावादो। ण च भुक्खादुक्खुवसमणट्ठं भुजंति, तदभावादो।''

तदभावो कुदोवगम्मदे?

दित्ति–बल–सरीरोवचयादो।''[1]

अर्थ – दीप्ति का कारण होने से इस तप को दीप्त कहा है। दीप्त है, तप जिनका, वे (मुनि) दीप्ततप हैं।

चतुर्थ व षष्ठ आदि उपवासों के करने पर जिनके शरीर का तेज तपजनित लब्धि (ऋद्धि) के महात्म्य से प्रतिदिन शुक्लपक्ष के चन्द्र के समान बढ़ता जाता है, वे ऋषि दीप्ततप कहलाते हैं।

उनकी केवल दीप्ति ही नहीं बढ़ती है, अपितु बल भी बढ़ता है, क्योंकि शरीर बल, मांस और रुधिर की वृद्धि के बिना शरीर की दीप्ति की वृद्धि हो नहीं सकती। इसलिए (शरीर बल की वृद्धि के कारण) उनके आहार भी नहीं होता, क्योंकि, उसके कारणों का अभाव है। यदि कहा जाये कि भूख के दु:ख को शान्त करने के लिए वे भोजन करते हैं, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि उनके भूख के दु:ख का अभाव है।

शंका – उस (दुख) का अभाव कहाँ से जाना जाता है?

समाधान – दीप्ति, बल और शरीर की वृद्धि से जाना जाता है।

धवलाकार के अनुसार इस ऋद्धि से शरीर की कांति, बल, मांस, रुधिर आदि बढ़ते हैं। अन्य मनुष्यों के शरीर की कांति, बल,

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–90

मांस और रुधिर आदि पुष्ट आहार से बढ़ते हैं। मुनि के शरीर की कांति, बल, मांस और रुधिर आदि उपवास से बढ़ते हैं – यह यहाँ विशेष है।

शरीर के बल के बढ़ने से उनके आहार नहीं होता है, क्योंकि उनके शरीर के बल के बढ़ने से भूख का अभाव है।

यतिवृषभ और वीरसेन के मत मे सिर्फ इतना-सा अन्तर है कि यतिवृषभ तप से शरीर कान्ति सूर्य के किरणों की तरह बढ़ती बतायी तथा वीरसेन तप से शरीर की कान्ति चन्द्र की कलाओं की तरह बढ़ती बतायी है।

आचार्य अकलंक के अनुसार दीप्त तपस्वी के न केवल काय का, अपितु मन और वाणी का भी बल बढ़ता है, साथ ही मुख और श्वासों से सुगंध निकलती है –

''महोपवास करणेऽपि प्रवर्द्धमानकायवाङ्मानसबला: विगन्धरहितवदना: पद्मोत्पलादिसुरभिनिश्वासा: अप्रच्युत-महादीप्तिशरीरा: दीप्ततपस:।''[1]

अर्थ – बड़े-बड़े उपवास करने पर भी जिनके शरीर-वाणी-मन का बल बढ़ता है, जिनके मुख और श्वासों से कमलादि की सुगंध प्रवाहित होती है, अखण्डरूप से जिनके शरीर की दीप्ति बढ़ती है, वे दीप्त तपस्वी होते हैं।

श्रुतसागर के अनुसार दीप्त तपस्वी के शरीर से बारह सूर्यों के जैसी कांति निकलती है। बारह सूर्यों जितनी कांति का शरीर में प्रकट होना दीप्त तप नाम की ऋद्धि है –

''शरीरदीप्त्या द्वादशार्कतेजस्का दीप्ततपस:।''[2]

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-563
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314

अर्थ - शरीर की दीप्ति से बारह सूर्यों जितने तेज को धारण करनेवाले दीप्त तपस्वी होते हैं। अर्थात् श्रुतसागर के अनुसार जिस ऋद्धि के प्रभाव से शरीर से बारह सूर्यों के जितनी दीप्ति, आभा निकलती है, उस ऋद्धि को दीप्त तप ऋद्धि कहते हैं।

यह ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय के क्षयोपशम, गन्ध नामकर्म, तैजस वर्गणा के विशेष लाभ से प्रकट होती है।

3. तप्त-तप-ऋद्धि

णमो तत्ततवाणं।।[1]

तप्त तपधरों को हमारा नमस्कार हो।

एक ऐसी विशिष्ट शक्ति जिस के कारण आहार के रूप में पेट में गया भोजन सात धातुओं के रूप में, मल के रूप में तुरन्त परिणमित होता है। आहार के जलादि पेय द्रव्य मूत्र के रूप में या ठोस द्रव्य मल के रूप में परिणमित नहीं होते, बल्कि पेयरूप जलादि व अन्य ठोस द्रव्य शरीर के द्वारा तुरन्त ही सोख लिये जाते हैं। उस तप को तप्त-तप कहते हैं। उस प्रकार के तप की शक्ति को तप्त-तप-ऋद्धि कहते हैं।

जिस ऋद्धि के कारण आहार मल-मूत्रादि के रूप में परिणमित न होकर सूख जाता है, उस ऋद्धि को तप्त-तप-ऋद्धि कहते हैं।

प्रश्न - इसे तप्त-तप नाम क्यों दिया?

उत्तर - जैसे तपा हुआ गर्म तवा या कढ़ाई या लोह-पिण्ड पानी को सोख लेता है, उसीप्रकार इस ऋद्धि के कारण से मुनि के द्वारा ग्रहण किया गया चार प्रकार का आहार सोख लिया जाता है अर्थात् वह आहार मल-मूत्र-शुक्र आदि के रूप में परिणमित नहीं होता है। तप्त लोहे के समान कार्यवाली होने से इसे 'तप्त' सार्थक नाम दिया है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-24, पृष्ठ-90

यहाँ इस तप्ततप ऋद्धि में ऐसा नहीं समझना कि शरीर तवे की तरह गर्म होता है। शरीर सामान्य ही रहता है। इस ऋद्धि से शरीर में ऐसी विशेषता प्रकट होती है कि शरीर में गए भोजन, जलादि तुरंत धातुओं के रूप में परिणमित होते हैं और शरीर को शक्तिशाली बनाते हैं। जैसे अपनी विशेषताओं के कारण गाय आदि पशु घास को दूध के रूप परिणमित कराते है। वही घास मनुष्य आदि को वमन का कारण बनती है। गर्म तवा, कढ़ाई आदि तो अन्न, जलादि का सोखने के उदाहरण मात्र हैं, न कि अन्न जल आदि को परिणमाने के।

अंतरंग में परिणामों की विशुद्धि से सारा भोजन तुरंत धातुरूप परिणमित होता है। ऐसा होने लगे, तब बाह्य में जो भी तप हो, वे सब तप तप्त तप कहलाते हैं।

धवलाकार के अनुसार तप्त हो गया है, तप जिनका वे तप्त तप तपस्वी होते हैं -

''तप्त तपो येषां ते तप्ततपसः।''[1]

ये आचार्य तप्त शब्द का अर्थ दग्ध या विनाशित कहते हैं -

''तप्तं दग्धं विनाशितं मूत्र-पुरीष-शुक्रादि येन तपसा तदुपचारेण तप्ततपसः।''[2]

अर्थ - मूत्र-मल-शुक्रादि को जिन्होंने तप के द्वारा तप्त अर्थात् दग्ध अर्थात् विनाशित (विनष्ट) किया हो, वे उपचार से तप्त-तापस कहलाते हैं।

अर्थात् तप्त तपस्वी के मल-मूत्रादि तथा शुक्रादि धातुओं का निर्माण ही नहीं होता है, ग्रहण किया हुआ आहार, शरीर के परमाणुओं

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-91
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-91

के रूप में परिणमित हो जाता है। इसलिए हम ऐसा भी कह सकते हैं कि ऋषि के द्वारा ग्रहण किये आहार के परमाणु जिस शक्ति से शरीर के धातुओं के रूप में परिणमित हो जाते हैं, उस शक्ति को तप्त-तप-ऋद्धि कहते हैं और ऐसे ऋषि को तप्त-तपस्वी कहते हैं।

इस ऋद्धि के स्वरूप को धवलाकार लोहपिण्ड के दृष्टान्त से समझाते हैं -

''जेसिं भुत्तचउविहाहारस्स तत्तलोहपिंण्डागिरिसिद-पाणियस्सेव णीहारो णत्थि ते तत्ततवा।''[1]

अर्थ - जिनके ग्रहण किए हुए चार प्रकार के आहार का नीहार नहीं होता, तपे हुए लोहपिण्ड के द्वारा आकृष्ट पानी के समान (ग्रसित हो जाता है), वे तप्त तप (धारक) होते हैं। अर्थात् जैसे तपा हुआ लोहे का गोला पानी को ग्रहण करता है, उस पर डाले गये पानी का निकास नहीं होता, उसीप्रकार जिनके द्वारा ग्रहण किए आहार का मल-मूत्र-शुक्रादि के रूप में निकास नहीं होता, वे तप्ततप धारक कहलाते हैं।

आहार का नीहार नहीं होना - यह तप्ततप ऋद्धि का लक्षण नहीं है, क्योंकि यही लक्षण मानेंगे तो नीहार तो आहार के बावजूद त्रेसठ शलाका पुरुष, तीर्थंकर के माता-पिता, भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंच, केवली, देव, नारकी और ऋद्धिधारी मुनियों के नहीं होता है।[2] सबके तप्त तप ऋद्धि माननी होगी। जबकि शलाका पुरुषों के गृहस्थ दशा में तप ही नहीं होता है, तप्ततप ऋद्धि कैसे होगी?

शलाका पुरुषों का नीहार न होने में पूर्व जन्मों का पुण्य कारण है। जबकि मुनिवरों के नीहार न होने में वर्तमान जन्म की परिणामों की

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-91
2. चर्चासंग्रह, चर्चा-43, पृष्ठ-16-17

विशुद्धि कारण है। वर्तमान जन्म में पुरुषार्थ के बल पर प्राप्त विशेष आत्मस्थिरता ही वहाँ कारण है।

ग्रहण किये आहार का धातुरूप परिणमन के साथ क्षीण हो जाना इस ऋद्धि का लक्षण है।

यही आचार्य यतिवृषभ के वचनों से लक्षित हो रहा है –

तत्ते लोह–कडाहे पडिदंबु–कणं व जीए भुत्तण्णं।
झिज्जदि धाऊहिं सा णिय झाणाएहिं तत्ततवा।।[1]

अर्थ – लोहे की तप्त कड़ाही में गिरे हुए जलकण के समान जिस ऋद्धि से खाया हुआ अन्न, धातुओं सहित क्षीण हो जाता है (मल–मूत्र–शुक्रादि रूप परिणमन नहीं करता), वह निजध्यान से उत्पन्न हुई तप्त–तप ऋद्धि है।

निज ध्यान से यह ऋद्धि प्रकट होती है। न केवल यह ऋद्धि, अपितु सभी ऋद्धियाँ ध्यान के काल में ही प्रकट होती हैं, लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि **ध्यान बिना सिद्धि नहीं।** इसी प्रकार यह भी जानना कि **ध्यान के बिना ऋद्धि नहीं** है।

श्रुतसागर सूरि भी तप्त तप ऋद्धि का इसी प्रकार का ही स्वरूप कहते हैं –

''तप्तायसपिण्डपतितजलबिंदुवत् गृहीताहारशोषणपरा नीहाररहिता ये ते तप्ततपसः।''[2]

अर्थ – जो तपे हुए लोहे के पिण्ड पर गिरी हुई जल की बूँद की तरह आहार ग्रहण करते ही गृहीत आहार का शोषण करनेवाले अथवा नीहार रहित होते हैं, उन्हें तप्त तपस्वी कहते हैं। अर्थात् जिस ऋद्धि से

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1064, पृष्ठ–316
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–314

तपे हुए लोहे के पिण्ड पर गिरी हुई जल की बूँद की तरह ग्रहण किया हुआ आहार सोंख लिया जाता है, उसे तप्त तप ऋद्धि कहते हैं।

आचार्य अकलंक के अनुसार ग्रहण किया आहार मल-रुधिर आदि रूप परिणमित नहीं होता है -

''तप्तायसकटाहपतितजलकणवदाशुशुष्काल्पाहारतया मलरुधिरादिभावपरिणामविरहिताभ्यवहाराः तप्ततपसः।''[1]

अर्थ - तपे हुए लोहे की कड़ाही में गिरे हुए जल-कण की तरह जिनका अल्प आहार मल-रुधिर आदि के रूप में परिणमित न होकर शीघ्र सूख जाता है, वे तप्ततापस कहलाते हैं। उनकी उक्त प्रकार की शक्ति को तप्ततप ऋद्धि कहते हैं।

यतिवृषभ के अनुसार यह ऋद्धि निश्चय से निजध्यान से उत्पन्न होती है। व्यवहार से यह ऋद्धि लाभान्तराय तथा वीर्यान्तराय कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा विशिष्ट प्रकार के नामकर्म के उदय से प्रकट होती है।

4. महा-तप-ऋद्धि

णमो महातवाणं।।[2]

महा-तप ऋद्धिधारक जिनों को हमारा नमस्कार हो।

शरीर में सिंहनिष्क्रीडित आदि बड़े उपवास आदि को निरतिचार धारण करने की शक्ति को महातप ऋद्धि कहते हैं।

महातप शब्द में जो महा शब्द है, वह महत् और महस् शब्दों से बना है - ऐसा आचार्यों का मत है। धवलाकार वीरसेन के अनुसार महा शब्द महस् शब्द से बना है और अकलंक, यतिवृषभ, श्रुतसागर के अनुसार

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-563
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-25, पृष्ठ-91

महा शब्द महत् शब्द से बना है। महस् शब्द का अर्थ तेज है तथा महत् शब्द का अर्थ विशाल परिमाणवाला है।

प्रश्न – महातप में महा शब्द से तथा तप शब्द से क्या आशय है?

उत्तर – महातप में महा शब्द का अर्थ बड़े-बड़े विशाल परिणामवाले तथा तप का अर्थ उपवास, कायोत्सर्ग, प्रतिमायोग आदि को धारण करना है।

वीरसेन के अनुसार दिव्य तेज के हेतुभूत तप को महा-तप कहते हैं तथा आचार्य अकलंक, यतिवृषभ, श्रुतसागर के अनुसार विशाल परिमाणवाले तपों को महातप कहते हैं।

विशाल परिमाणवाला तप ही दिव्य तेज का हेतुभूत होता है, इसलिए आचार्यों के अभिप्राय में अन्तर नहीं है।

प्रश्न – यहाँ महातप से क्या आशय है?

उत्तर – अकलंक के अनुसार सिंहनिष्क्रीडित आदि बड़े-बड़े उपवासों को धारण करना महातप है –

''सिंहनिष्क्रीडितादिमहोपवासानुष्ठानपरायणा यतयो महा-तपसः।''[1]

अर्थ – सिंहनिष्क्रीडित आदि बड़े-बड़े उपवासों का अनुष्ठान करने वाले यति महातप तपस्वी होते हैं।

यतिवृषभ के अनुसार मंदर-पंक्ति आदि बड़े-बड़े उपवासों को धारण करना महातप है –

मंदर-पंत्ति-प्पमुहे महोपवासे करेदि सव्वे वि।
चउ सण्णाण बलेणं जीए सा महातवा रिद्धी।।[2]

1. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-563
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1065, पृष्ठ-316

अर्थ - जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि चार सम्यग्ज्ञानों के बल से मंदर-पंक्ति आदि बड़े-बड़े उपवास करता है, उसे महातप ऋद्धि कहते हैं।

यहाँ ध्यान देने योग्य शब्द हैं - 'चार सम्यग्ज्ञानों के बल से' इन शब्दों का अर्थ है, जिन्हें मति, श्रुत, अवधि के साथ मनःपर्ययज्ञान भी प्रकट हो गया है, ऐसे चार ज्ञान के धारी मुनि ही मंदर-पंक्ति आदि बड़े-बड़े उपवास कर सकते हैं।

आचार्य अकलंक और यतिवृषभ के उपवासों के नाम में ही अंतर है, अर्थ में नहीं।

महातप ऋद्धि के प्रकरण में यह तो समझ में आया कि सिंहनिष्क्रीडित आदि बड़े-बड़े तपों का आचरण महातप कहलाता है, परन्तु यह समझ में नहीं आया कि सिंहनिष्क्रीडित आदि कितने प्रकार के तप हैं और उनका स्वरूप क्या है?

उत्तर - सिंहनिष्क्रीडित, मंदर-पंक्ति आदि गुणवाचक नाम तपों के ही हैं। ये नाम यथा नाम तथा गुणवाले हैं; क्योंकि जैसे सिंह निष्क्रमण अर्थात् पर्वत पर क्रमशः चढ़ता है और क्रमशः उतरता है, उसी प्रकार जिस तप में उपवासों के दिनों की संख्या को क्रमशः चढ़ाया जाता है और घटाया जाता है, उसप्रकार के तप को सिंहनिष्क्रीडित महातप कहते हैं।

इसीप्रकार **मंदर-पंक्ति महातप** है। इस तप में पाँचों मेरुओं पर स्थित प्रत्येक अकृत्रिम चैत्यालयों के लक्ष्य से एक-एक उपवास किया जाता है। (एक मेरु पर 16 सोलह) पाँचों मेरुओं पर 80 (अस्सी) अकृत्रिम चैत्यालय हैं। इसलिए इस मंदर-पंक्ति महातप में 80 (अस्सी) उपवास किए जाते हैं। मेरुओं के अकृत्रिम चैत्यालयों को लक्ष्य करके ये उपवास किए जाते हैं, इसलिए इन उपवास-तपों का नाम मंदर-पंक्ति

महातप पड़ा। मंदर शब्द मेरु का पर्यायवाची शब्द है।

सिंहनिष्क्रीडित, मंदर-पंक्ति, नंदीश्वरव्रत, चांद्रायणव्रत, पंचकल्याणकव्रत, धर्मचक्र आदि - ये सब उपवासों की विधियाँ हैं। सभी विधियों में उपवास ही किये जाते हैं, सिर्फ अभिप्राय भिन्न-भिन्न होते हैं।

जैसे **सिंहनिष्क्रीडित व्रत** में जो उपवास किये जाते हैं, वे सिंह के पर्वत पर चढ़ने-उतरने के अनुसार होते हैं। जिस व्रत में उपवासों की संख्या क्रम-क्रम से बढ़ाई जाती है और क्रम-क्रम से घटाई जाती है, उसे सिंहनिष्क्रीडित व्रत कहते हैं।

यह उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार का होता है। उत्कृष्ट सिंह निष्क्रीडित व्रत 557 दिन में पूर्ण होता है। इसमें 496 उपवास और 61 पारणाएँ होती हैं। मध्यम निष्क्रीडित व्रत 186 दिन में पूर्ण होता है। इसमें 153 उपवास और 33 पारणाएँ होती हैं। जघन्य सिंहनिष्क्रीडित व्रत 80 दिन में पूर्ण हाता है। इसमें 60 उपवास और 20 पारणाएँ होती हैं।

लघु या जघन्य सिंहनिष्क्रीडित छोटा है, उसे समझते हैं - एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, पाँच उपवास एक पारणा, चार उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, तीन उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा, दो उपवास एक पारणा, एक उपवास एक पारणा - इस प्रकार यह सिंहनिष्क्रीडित व्रत पूर्ण होता है।

इसे अंकों में समझते हैं -

उपवास - 1 2 1 3 2 4 3 5 4 5 5 4 5 3 4 2 3 1 2 1 = 60

पारणाएँ - 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 1 = 20

इस व्रत में उपवासों के दिन कम-ज्यादा हैं, अधिक से अधिक पाँच उपवास हैं, जो पाँच उपवासों तक चढ़ने का है, वही क्रम उतरने का है। वही कहा है -

द्वौ द्वौ चैकादयः शस्ताः पंचपर्यवसानकाः।
हीने ह्युभयतः षष्टिः सिंहनिष्क्रीडिते विधौ।।[1]

उक्त क्रमानुसार उपवासों को अधिकतम नौ करें तो वह मध्यम निष्क्रीडित व्रत कहलाता है -

त एव चाष्टपर्यन्ता नवं च शिखरा पुनः।
मध्येऽप्युपवासास्युस्त्रिपंचाशं शतस्फुटम्।।[2]

उक्त क्रमानुसार ही उपवासों की अधिकतम 16 (सोलह) करें तो वह उत्कृष्ट सिंहनिष्क्रीडित व्रत कहलाता है -

पूर्व पंचाशदन्तास्तु, शिखरे षोडशाधिकाः।
उत्कृष्टे तत्र ते वेद्याः षण्णवत्या चतुःशती।।[3]

इसीप्रकार **मंदर-पंक्ति व्रत** में पाँच मेरुओं के अस्सी अकृत्रिम चैत्यालयों को लक्ष्य में लेकर अस्सी उपवास और उन मेरुओं पर स्थित बीस बेला किये जाते हैं - इसप्रकार इस व्रत में सौ उपवास और सौ पारणाएँ की जाती हैं। यह व्रत दो सौ दिनों में पूर्ण होता है।[4]

चान्द्रायण व्रत में चन्द्रकला के अनुसार एक-एक ग्रास को बढ़ाया जाता है और एक-एक ग्रास घटाया जाता है। यह अवमौदर्य जाति का तप है।[5]

---

1. आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, अध्याय-34, श्लोक-78, पृष्ठ-430
2. आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, अध्याय-34, श्लोक-79, पृष्ठ-430
3. आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, अध्याय-34, श्लोक-80, पृष्ठ-431
4. आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, अध्याय-34, श्लोक-85, पृष्ठ-434
5. आचार्य जिनसेन, हरिवंशपुराण, अध्याय-34, श्लोक-78, पृष्ठ-437

इसीप्रकार से अन्य व्रतों का वर्णन है, विस्तार भय से नहीं लिखा।

सिंहनिष्क्रीडित आदि व्रतों को ही बड़े-बड़े तप कहते हैं। ऐसे बड़े-बड़े तपों के आचरण को महातप कहते हैं। ऐसे महातपों को धारण करने की शक्ति को महातप ऋद्धि कहते हैं।

इसीप्रकार के तपों को करना महातप है। यही कहना है श्रुतसागर सूरि का कि पक्ष, मास, छह मास, वर्षपर्यन्त उपवास करना महातप है -

''पक्षमासषण्मासवर्षोपवासविधातारो ये मुनयस्ते महा-तपसः।''[1]

अर्थ - जो पक्ष, मास, छह मास, वर्ष का उपवास करने वाले मुनि, वे महातप तपस्वी कहलाते हैं। अकलंक, यतिवृषभ, श्रुतसागर के अनुसार बड़े-बड़े उपवास करने की शक्ति को महातप ऋद्धि कहते हैं।

आचार्य वीरसेन ग्यारह प्रकार की विशेषताओं वाले मुनि के तप को महातप कहते हैं-

''अणिमादिअट्ठगुणोवेदो, जलचारणादिअट्ठविहचारणगुणालंकारियो, फुरंतसरीरप्पहो, दुविहअक्खीणलद्धिजुत्तो, सव्वोसहि-रूवो, पाणिपत्तणिवदिदसव्वाहारे अमियसादसरूवेण पल्लट्टावण-समत्थो, सयलिंदेहिंतो वि अणंतबलो आसीदिट्ठि-विसलद्धि-समण्णिओ तत्ततवो, सयलविज्जाहरो, मदि-सुद-ओहि-मण-पज्जवणाणेहि मुणिदतिहुवणवावारो मुणी महातवो णाम।''[2]

अर्थ - जो मुनि 1. अणिमादि आठ गुणों से सहित हैं, 2. जलचारणादि आठ प्रकार के चारण गुणों से अलंकृत हैं, 3. प्रकाशमान शरीरप्रभा से संयुक्त हैं, 4. दो प्रकार की अक्षीण ऋद्धि से युक्त हैं,

---

1. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-25, पृष्ठ-91

5. सर्वौषधि-स्वरूप हैं, 6. पाणिपात्र में गिरे हुए सब आहारों को अमृत के रूप में पलटाने में समर्थ हैं, 7. समस्त इन्द्रों से भी अनंतगुणे बल के धारक हैं, 8. आशीर्विष और दृष्टिविष लब्धियों से समन्वित हैं, 9. तप्ततप ऋद्धि से संयुक्त हैं, 10. सकल विद्याओं के धारक हैं, 11. मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय ज्ञानों से तीनों लोक के व्यापार को जाननेवाले हैं, वे मुनि महातप ऋद्धि के धारक हैं।

इसका भाव यह है कि उक्त ग्यारह विशेषताओं वाले मुनि के द्वारा विशेष विशुद्धियुक्त तप को महातप कहते हैं, उनकी इसप्रकार के तप की शक्ति को महातप ऋद्धि कहते हैं।

यतिवृषभ और वीरसेन के अनुसार यह महातप ऋद्धि मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय चार ज्ञान के धारी के होती है।

ये तप प्रभावनादि महत्त्व का कारण होने से उपचार से महातप कहलाते हैं -

''महत्त्वहेतुस्तपोविशेषो महानुच्यते उपचारेण, स येषां ते महातपस:।''[1]

अर्थ - महत्त्व के हेतुभूत तपविशेष को उपचार से महान कहा जाता है। यह जिनके होता है, वे महातप ऋषि हैं।

अथवा वीरसेन के अनुसार महस् अर्थात् तेजों का हेतुभूत जो तप है, वह उपचार से महा (तप) होता है -

''अथवा महसां हेतु: तप उपचारेण महा इति भवति।''[2]

अर्थ - अथवा महस् अर्थात् तेजों के हेतुभूत तप को उपचार से महा (तप) कहते हैं।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-91
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-91-92

तेजों के हेतुभूत तपों को आचरने की अथवा बड़े-बड़े उपवासादि करने की जो शक्ति है, उसे महातप ऋद्धि कहते हैं।

यहाँ **प्रश्न** – उग्रतप ऋद्धि और महातप ऋद्धि दोनों में उपवास बताये हैं, दोनों के उपवासों में क्या अन्तर है?

उत्तर – उग्र तप में जीवनपर्यन्त उपवास किए जाते हैं। उग्रतप में जीवनपर्यन्त उपवास करने का तथा अन्तराय होने पर बढ़ाने का नियम लिया जाता है। महातप में उग्रतप की तुलना में बड़े-बड़े उपवास किए जाते हैं, परन्तु नियम नहीं होता कि बड़े-बड़े उपवास करें ही करें। नियम और अनियम का अन्तर है। उग्रतप में कम दिनों के उपवास होते हैं, महातप में ज्यादा दिनों बढ़ते-घटते उपवास होते हैं।

यह ऋद्धि पूर्व से ही जिनको अणिमादि विक्रिया, जलचारण आदि क्रिया, दीप्त तप-तप्त तप आदि तप, अक्षीण, सर्वौषधि औषध, अमृतस्रावी आदि रस, कायबल, रूपबल, समस्त विद्यारूप बुद्धि – इत्यादि ऋद्धियाँ हों, उनके प्रकट होती है।

तथा यह तप ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय कर्मों के क्षयोपशम तथा नामकर्म के उदय तथा तैजस वर्गणाओं के विशिष्ट संयोग से प्रकट होती है।

उग्रतप ऋद्धि का सारांश

❊ दीक्षा के समय के उपवासों को जीवन-पर्यन्त धारण करना तप की उग्रता है, इसी से इसे उग्रतप कहा है।

❊ इसके दो भेद हैं - 1. अवस्थित उग्रतप 2. उग्र उग्र (उग्रोग्रतप)

❊ दीक्षा के समय के उपवासों के दिनों की संख्या, अंतरायादि होने पर भी जीवन-पर्यन्त बढ़ाते जाना अवस्थित उग्रतप कहलाता है।

❊ दीक्षा के समय के उपवासों के दिनों की संख्या को एक-एक या दो-दो आदि के रूप में जीवन-पर्यन्त बढ़ाते जाना उग्र उग्र (उग्रोग्र) तप कहलाता है।

❊ यह ऋद्धि वीर्यान्तराय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम तथा नामकर्म के, लाभान्तराय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती है।

5. घोर-तप-ऋद्धि

णमो घोरतवाणं।।[1]

घोर तप ऋद्धिधारक जिनों को हमारा नमस्कार हो।

विकट परीषहों, भयंकर उपसर्गों, घोर बीमारियों में भी कठोर से कठोर चारित्र के निरतिचार सेवन की शक्ति को घोर तप ऋद्धि कहते हैं।

प्रश्न – घोर का अर्थ क्या है?

उत्तर – धवलाकार के अनुसार अनशन-अवमौदर्य-वृत्ति परिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त शय्यासन-कायक्लेश – इन छह बाह्य तपों और प्रायश्चित-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग और ध्यान – इन छह अन्तरंग तपों में उत्कृष्ट तप के आचरण की वृत्ति को घोर कहा जाता है।

प्रश्न – तपों की उत्कृष्ट वृत्ति का अर्थ क्या है?

उत्तर – उपवासों में छह माह का उपवास करना, अवमौदर्य तप में मात्र एक ग्रास ही भोजन लेना, वृत्तिपरिसंख्यान तप में चौराहे (आदि) पर भिक्षा की प्रतिज्ञा करना, रस परित्याग में गरम जल युक्त भात का सेवन करना, विविक्तशय्यासन में बाधा आदि की प्रचुरतावाले भयंकर वन में निवास करना, कायक्लेश तप में सर्दी के दिनों में नदी के किनारे, गर्मी के दिनों में पर्वत के शिखर पर, वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे आतापन योग धारण करना, ये बाह्य तपों की उत्कृष्ट वृत्ति है। इसीप्रकार आभ्यन्तर तपों में उत्कृष्ट वृत्ति घटित करना।

धवलाकार के मूल शब्द इसप्रकार हैं –

''उववासेसु छम्मासोववासो, ओमोदरियासु एक्ककवलो,

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-26, पृष्ठ-92

उत्तिपरिसंखासु चच्चरे गोयराभिग्गहो, रसपरिच्चाग्गेसु उण्हजलजु-दोयणभोयणं, विवित्तसयणासणेसु वयवग्धतरच्छछवल्लादि-सावयसेवियासु सज्झ-विंज्झाडईसु णिवासो, कायकिलेसेसु तिव्वहिमवालादावणियदंतविसएसु अब्भोवासरुक्खमूलादावण-जोगग्गहणं। एवमब्भंतरतवेसु वि उक्कट्ठतवपरूवणा कायव्वा।''[1]

प्रश्न – बारह प्रकार के तपों की उत्कृष्ट प्रवृत्ति को घोर क्यों कहा?

उत्तर – ये बारह प्रकार के तप कायरों को भय उत्पन्न करानेवाले हैं, इसलिए इन तपों को घोर कहा है।

प्रश्न – बारह प्रकार के तपों का उत्कृष्ट आचरण भय उत्पन्न करनेवाला क्यों कहा?

उत्तर – घोर तप के प्रसंगानुसार बीमारी आदि विषम परिस्थितियों में कायरों की प्रवृत्ति औषधिसेवन की होती है, उपवास करने की नहीं। यदि पुरुषार्थ उग्र करे तो उपवास करेगा, दवाई का सेवन क्यों करें? इससे जाना जाता है कि ये उत्कृष्ट तप कायरों को भय उत्पन्न करने वाले हैं।

इन बारह प्रकार के तपों की उत्कृष्ट अवस्था में प्रवर्तमान साधु को घोर तप साधु कहते हैं।

यही आचार्य वीरसेन ने कहा है –

''एसो बारहविहो वि तवो कायरजणाणं सज्झसजणणो त्ति घोरतवो।''[2]

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार रोग से पीड़ित शरीर से दुर्धर तप करना ही घोर-तप है –

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-26, पृष्ठ-92
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-26, पृष्ठ-92

जर-सूलप्पमुहाणं रोगेणच्चंत-पीडि-अंगा वि।
साहंति दुद्धर-तवं जीए सा घोर-तव-रिद्धी।।[1]

अर्थ - जिस ऋद्धि के कारण से ज्वर, शूल आदि रोगों से शरीर के अत्यन्त पीड़ित होते हुए भी साधुजन दुर्द्धर तप को सिद्ध करते हैं, उसे घोर तप ऋद्धि कहते हैं।

आचार्य अकलंक के अनुसार भी यही कहा है कि शरीर के रोगादि से युक्त होने पर कायक्लेशादि तपों से विमुख न होकर दुर्गम विषम स्थानों पर निवास आदि करना ही घोर-तप-ऋद्धि है -

"वातपित्तश्लेष्म सन्निपातसमुद्भूतज्वर कासश्वासाक्षिशूल-कुष्ठप्रमेहादिविविध रोगसन्तापितदेहा अपि अप्रच्युताऽनशन काय-क्लेशादितपसो भीमश्मशानाद्रिमस्तकगुहादरीकन्दरशून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयक्षराक्षसपिशाचप्रनृत्तवेतालरूप विकारेषु परूषशिवारू-तानुपरतसिंहव्याघ्रादिव्यालमृगभीषणस्वनघोर चौरादि-प्रचरितेष्व-भिरुचितावासाश्च घोरतपसः।[2]

अर्थ - वात-पित्त-कफ के सन्निपात (बिगाड़) से उत्पन्न बुखार, खाँसी, दमा, आँख दर्द, कोढ़, मधुमेह आदि विविध रोगों से देह-पीड़ित होने पर भी अनशन, कायक्लेश आदि तपों से न डिगते हुए भयानक श्मशान, पर्वत शिखर, गुफा, दर्रा (कन्दरा) और शून्य (उजाड़) ग्राम आदि स्थानों में जो स्थान अत्यन्त दुष्ट यक्ष, राक्षस, पिशाच, नाचते हुए वेतालों से विकृत हैं, जहाँ शृगालों के कठोर शब्द व्याप्त हैं और जो स्थान शेर, बाघ आदि, साँप-हिरणादि पशुओं की आवाजों से घोर (भयंकर) हैं, जहाँ चोर, डाकुओं का संचारण है, ऐसे स्थानों में रहने के अभ्यासी हैं, उन्हें घोरतप आचरनेवाले तपस्वी कहते हैं। उनके इसप्रकार

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1066, पृष्ठ-316
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-564.

के तप को घोर तप कहते हैं। उनके इसप्रकार के तप की शक्ति को घोर तप ऋद्धि कहते हैं।

श्रुतसागर सूरि के अनुसार शेर आदि से युक्त गिरि-कन्दराओं, श्मशानों में तीव्र गर्मी-सर्दी, उपसर्गों की बाधा सहना घोर-तप है -

''तत्र घोरतप:-सिंहव्याघ्रर्क्षचित्रकतरक्षुप्रभृतिक्रूरश्वापादा-कुलेषु गिरिकन्दरादिषु स्थानेषु भयानकश्मशानेषु च प्रचुरतरशीत-वातातपादियुक्तेषु स्थानेषुस्थित्वा दुद्र्धरोपसर्गसहनपरा ये मुनयस्ते घोरतप स:।''[1]

अर्थ - वहाँ घोर तप - जो शेर, बाघ, भालू, चीता, तरक्षु आदि क्रूर जानवरों से व्याप्त गिरि-कन्दरा आदि स्थानों में, भयानक श्मशानों में अत्यधिक ठंड-हवा-गर्मी आदि से युक्त स्थानों में रहते हुए दुर्धर उपसर्गों को सहने वाले मुनि होते हैं, वे घोर तप तपनेवाले मुनि कहलाते हैं। उनके तप को घोर तप तथा उस प्रकार की तप की शक्ति को घोर-तप ऋद्धि कहते हैं।

आचार्य वीरसेन के मत में यह ऋद्धि तपजनित है -

''एसा वि तवजणिद-रिद्धी चेव, अण्णहा एवंविहा-चरणाणुववत्तीदो।''[2]

अर्थ - यह भी तपजनित ही ऋद्धि है, अन्यथा (क्योंकि बिना तप के) इसप्रकार का आचरण बन नहीं सकता।

यह ऋद्धि लाभान्तराय और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा नामकर्म की संहनन नाम की प्रकृति के उदय तथा परिणामों की विशेष विशुद्धि से प्रकट होती है।

---

1. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314.
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-92

6. घोरपराक्रम-तप-ऋद्धि

णमो घोरपरक्कमाणं।।[1]

घोर-पराक्रम (तप) ऋद्धि के धारक जिनों को हमारा नमस्कार हो।

तीनों लोकों को उठाने, उठाकर फेंकने, संहार करने, पृथ्वीतल निगलने, समुद्र को निगलने, समुद्र के सम्पूर्ण जल को सुखाने, जल, अग्नि, काँटे, शिला आदि बरसाने एवं गृहीत तप को उत्तरोत्तर बढ़ाने को **घोर-पराक्रम** कहते हैं। घोर-पराक्रम जिस तप से प्रकट होता है, उस तप को **घोर-पराक्रम-तप** कहते हैं। घोर-पराक्रम-तप की शक्ति को **घोर-पराक्रम-तप-ऋद्धि** कहते हैं।

धवलाकार ने इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार कहा है -

''तिहुवणुवसंहण-महीवीढगसरण-सयलसायरजलसोसण-जलग्गिसिलपव्वदादिवरिसणसत्ती घोरपरक्कमो णाम। घोरो परक्कमो जेसिं जिणाणं ते घोर परक्कमा।''[2]

अर्थ - तीनों लोकों का उपसंहार करने, पृथ्वीतल को निगलने, समस्त समुद्र के जल को सुखाने तथा जल, अग्नि, शिला, पर्वत आदि के बरसाने की शक्ति का नाम घोर पराक्रम है। घोर है पराक्रम जिन जिनों का वे घोर-पराक्रम कहलाते हैं।

यहाँ तप को घोर पराक्रम तथा घोरपराक्रमधारी दोनों को भी घोरपराक्रम कहा है।

यहाँ जिन शब्द की अनुवृत्ति होने से क्रूर कर्म करनेवाले असुरों को नमस्कार करने का प्रसंग नहीं आता -

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-27, पृष्ठ-93
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-27, पृष्ठ-93

ण कूरकम्माणं असुराणं णमोक्कारो पसज्जदे।[1]

आचार्य यतिवृषभ तप की वृद्धि एवं अनुपमता को शामिल करते हुए धवलाकार के अर्थ को ही कहते हैं –

णिरूवम–वड्ढंत–तवा, तिहुवण–संहरण–करण–सत्ति–जुदा।
कंटय–सिलग्गि–पव्वय–धूमुक्का–पहुदि–वरिसण–समत्था।।
सहस–त्ति–सयल–सायर–सलिलुप्पीलस्स सोसण–समत्था।
जायति जीए मुणिणो, घोर–परक्कम–तव त्ति सा रिद्धी।।[2]

अर्थ – अनुपम एवं वृद्धिंगत तपवाले मुनिजन तीनों लोकों के संहारण करने की शक्ति से युक्त होते हैं, काँटे, शिला, अग्नि, पर्वत, धुआँ, उल्का आदि बरसाने में समर्थ होते हैं एवं शीघ्र ही सम्पूर्ण समुद्र की जलराशि को सुखाने में समर्थ होते हैं, उनकी वह शक्ति घोर–पराक्रम–ऋद्धि कहलाती है।

अकलंक के अनुसार गृहीत तप को उत्तरोत्तर बढ़ाना ही घोरपराक्रम तप है, ऐसे तप की शक्ति ही घोर–पराक्रम–तप–ऋद्धि है, ऐसे तपस्वी घोर–पराक्रम कहलाते हैं –

''त (घोरतपसः) एव गृहीततपोयोगवर्धनपरा घोरपराक्रमाः।[3]

अर्थ – ये (घोर तपस्वी) ही जब तप और योग को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं, तब घोर पराक्रम कहे जाते हैं।

प्रश्न – उग्रोग्र तप ऋद्धि और घोरपराक्रमतप ऋद्धि में क्या अंतर है?

उसका **उत्तर –** उग्रोग्रतप ऋद्धि में मात्र उपवासों की संख्या ही बढ़ती है। घोरपराक्रमतप ऋद्धि में अवमौदर्यादि सभी प्रकार के तपों को बढ़ाया जाता है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, सूत्र–27, पृष्ठ–93
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1067, 1068, पृष्ठ–316
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–564

श्रुतसागर के अनुसार जिन मुनियों को देखकर भूत, प्रेत, वेताल, राक्षस, शाकिनी आदि भयभीत हो जाते हैं, वे मुनि घोर पराक्रमी कहलाते हैं –

''भूत–प्रेत–वेताल–राक्षस–शाकिनी–प्रभृतयो यान् दृष्ट्वा बिभ्यति ते घोर पराक्रमा:।''[1]

अर्थात् घोर तपस्वी के तप की घोरता को देखकर भूत, प्रेत आदि उनसे डरकर दूर चले जाते हैं।

''घोर पराक्रम ऋद्धिधारी मुनि को यदि कोई सतावे तो वहाँ भारी उपद्रव, दुर्भिक्ष तथा मारी आदि आपत्तियाँ आ जाती हैं।''[2]

विशेष तपश्चरण के कारण तथा वीर्यान्तराय कर्म लाभान्तराय के क्षयोपशम से घोर–पराक्रम–तप ऋद्धि प्रकट होती है।

7. अघोर–गुणब्रह्मचारित्व–ऋद्धि

णमो घोरगुणबंभचारीणं।।[3]

अघोरगुण ब्रह्मचारी जिनों को हमारा नमस्कार हो।

सबसे पहला **प्रश्न** यही कि सूत्र में 'अ' नहीं है, अर्थ में दिखाई दे रहा है, ऐसा क्यों?

उसका **उत्तर** – प्राकृत भाषा के संधियुक्त निर्देश से यहाँ अकार है, परन्तु उसका श्रवण नहीं है। यही धवलाकार ने लिखा है –

शंका – ''एत्थ अकारो किण्ण सुणिज्जदे?

समाधान – संधिणिद्देसादो।''[4]

अघोर अर्थात् शान्त या शान्ति है गुण जिसका, वह अघोरगुण

---

1. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314
2. मनोहर 'सहजानंद वर्णी', देवपूजा प्रवचन, पृष्ठ-47
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-29, पृष्ठ-94
4. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-29, पृष्ठ-94

है। ब्रह्म का गुण, अघोरत्व है, ब्रह्म का अर्थ धवलाकार के अनुसार यह है कि पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप चारित्र। पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार के चारित्र को **ब्रह्म** कहते हैं। इन तेरह प्रकार के चारित्र में शान्ति रूप गुण है। इसलिए तेरह प्रकार के चारित्र को **ब्रह्म** कहा है।

प्रश्न – पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार के चारित्र का निरतिचार पालन सभी मुनि करते ही हैं, क्या सभी मुनियों के यह अघोरगुणब्रह्मचारित्व ऋद्धि होती है?

उत्तर – नहीं, ऐसा नहीं है, जिन मुनियों के द्वारा उक्त तेरह प्रकार के चारित्र का पालन विशेष विशुद्धि के साथ किया जाता है, उनकी उस विशुद्धि के बल से डमरी आदि सात प्रकार की ईति, रोग, दुर्भिक्ष, बैर, कलह, वध, बंधन और रोध आदि शान्त हो जाते हैं। इसलिए जिनके उक्त तेरह प्रकार के चारित्र से ईति, दुर्भिक्ष आदि दूर हो जाते हैं, उनके उसतरह के तेरह प्रकार के उत्कृष्ट चारित्र की ही यहाँ ब्रह्म संज्ञा है।

सामान्यरूप से सभी मुनि पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति – इन तेरह चारित्रों का पालन करते ही हैं। इनका पालन न करें तो मुनिपना न रहे। परन्तु इन चारित्रों के पालन करने का नाम ब्रह्म नहीं है। इन तेरह चारित्रों का पालन परम विशुद्ध परिणामों के साथ हो कि परिणामों की विशुद्धि के निमित्त से वह तेरह प्रकज्ञार का चारित्र ईति, भीति, दुर्भिक्ष, महामारी को मिटाने का कारण बने। ऐसा होने पर 13 प्रकार के चारित्र को ब्रह्म कहते हैं।

धवलाकार के शब्द इसप्रकार हैं –

''ब्रह्म चारित्रं पंचव्रत–समिति–त्रिगुप्त्याकं शान्तिपुष्टि–हेतुत्वात्। अघोरा शांता गुणा यस्मिन् तदघोरगुणं ब्रह्म चरन्तीति अघोरगुणब्रह्मचारिणः। जेसिं तवोमाहप्पेण डमरीदिमारि–दुब्भिक्ख–

वइर-कलह-वध-बंधण-रोहादिपसमणसत्ती समुप्पण्णा ते अघोरगुणब्रह्मचारिणो उत्तं होदि।''[1]

अर्थ - ब्रह्म अर्थात् पाँच (महा) व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति-स्वरूप चारित्र, जो शांति के पोषण का हेतु होने से (ब्रह्म कहलाता है)। अघोर अर्थात् शान्त है गुण जिसमें वह अघोरगुण है, अघोरगुण ब्रह्म का आचरण करनेवाले अघोरगुण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। जिनके तप के प्रभाव से उनमें डमरी आदि ईति, रोग, दुर्भिक्ष, वैर, कलह, वध-बंधन, रोध आदि को शान्त करने की शक्ति उत्पन्न हुई है, वे अघोरगुण ब्रह्मचारी हैं।

अघोरगुणब्रह्मचारी की उक्त प्रकार की शक्ति को अघोरगुणब्रह्म तप ऋद्धि कहते हैं।

तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के क्षेत्र में चौरादिक की बाधाएँ नहीं होतीं। युद्धादिक नहीं होते, दुःस्वप्न नष्ट होते हैं तथा सब गुणों के साथ अघोर अर्थात् अविनश्वर ब्रह्मचर्य का पालन होता है, उनके उसप्रकार की शक्ति को अघोरगुणब्रह्म तप ऋद्धि कहते हैं -

जीए ण होंति मुणिणो खेत्तम्मि वि चोर-पहुदि-बाधाओ।
कलह-महाजुद्धादी रिद्धी, साघोर-ब्रह्मचारित्ता।।
उक्कस्स-खवोवसमे चारित्तावरण-मोह-कम्मस्स।
जा दुस्सिमणं णासइ, रिद्धी साघोरब्रह्मचारित्ता।।

अहवा

सव्व गुणेहि अघोरं महेसिणो बम्ह-सद्द-चारित्तं।
विप्फुरिदाए जीए रिद्धी साघोर-बह्म-चारित्ता।।[2]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-29, पृष्ठ-94
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1069, 1070, 1071, पृष्ठ-317

अर्थ - जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के क्षेत्र में चौरादिक बाधाएँ, कलह एवं युद्धादिक नहीं होते हैं, उनकी वह अघोर ब्रह्मचारित्व तप ऋद्धि है।

चारित्र निरोधक मोह कर्म (चारित्र मोहनीय) का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जो ऋद्धि दुस्स्वप्न को नष्ट करती है, वह अघोर ब्रह्मचारित्व ऋद्धि है।

अथवा जिस ऋद्धि के प्रभाव से महर्षिजन सब गुणों के साथ अघोर (अविनश्वर) ब्रह्मचर्य का निर्वहण करते हैं, वह अघोर ब्रह्मचारित्व ऋद्धि है।

अकलंक के अनुसार-दुःस्वप्नों के अभाव के साथ अस्खलित अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन जिस शक्ति के प्रभाव से होता है, उस शक्ति को घोरगुणब्रह्मचारी ऋद्धि कहते हैं -

''चिरोषिताऽस्खलितब्रह्मचर्यवासा: प्रकृष्टचारित्रमोहनीय-क्षयोपशमात् प्रणष्टदु:स्वप्ना: घोर-ब्रह्मचारिण:।''[1]

अर्थ - जो दीर्घकाल से अस्खलित अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं तथा जिन्हें दु:स्वप्न तक नहीं आते, वे घोर ब्रह्मचारी हैं। उनकी उसप्रकार की शक्ति घोरब्रह्मचारी ऋद्धि कहलाती है।

श्रुतसागर के अनुसार सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर प्राणियों से सेवित होना घोरगुणब्रह्मचारिता है -

''सिंहव्याघ्रादिसेवितपादपद्मा घोरगुणब्रह्मचारिण:।''[2]

अर्थ - सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर प्राणियों से सेवित चरणवाले घोरगुणब्रह्मचारी हैं।

अर्थात् श्रुतसागर के अनुसार मुनि का तप जब कठोरता की चरम सीमा को प्राप्त होता है, तब उस तप के प्रभाव से सिंह, बाघ

---

1. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-564
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-314

आदि क्रूर पशु उनकी दिव्यता के सामने नतमस्तक हो जाते हैं। उनका वह तप घोरगुणब्रह्म तप तथा वे मुनि घोरगुणब्रह्मचारी कहलाते हैं।

धवलाकार और तिलोयपण्णत्तीकार के नामों में फर्क है, धवलाकार इसे अघोरगुणब्रह्मचारी ऋद्धि कहते हैं तो तिलोयपण्णत्तीकार इसे अघोरब्रह्मचारित्व ऋद्धि कहते हैं। वार्तिककार इसे घोरब्रह्मचारी कहते हैं और श्रुतसागर इसे घोरगुणब्रह्मचारिता कहते हैं। चारों शास्त्रकारों ने इस ऋद्धि को भिन्न-भिन्न चार नामों से निरूपित किया है। वे चार नाम इसप्रकार हैं - 1. अघोरगुणब्रह्मचारी, 2. अघोरब्रह्मचारित्व, 3. घोरब्रह्मचारी, 4. घोरगुणब्रह्मचारी।

इस ऋद्धि का सार यह है कि अघोर अर्थात् शांति का कारणभूत तप वह ऐसा कि इससे दुःस्वप्न नहीं आते तथा ऐसे तपस्वी जिस क्षेत्र में रहते हैं, उस क्षेत्र में डमरी आदि ईति, रोग, दुर्भिक्ष, बैर, कलह, वध, बंधन, रोध आदि नहीं होते हैं, चौरादिक की बाधाएँ नहीं होती हैं, युद्धादिक नहीं होते हैं, क्रूर सिंहादिक मुनि के समक्ष नम्र हो जाते हैं।

प्रश्न - इस ऋद्धि को ही शान्ति का कारण क्यों कहा है? क्योंकि अन्य तप भी शान्ति के ही कारण होते हैं?

उत्तर - यह सही है कि सभी तप शान्ति के ही कारण होते हैं। इस तप में अंतरंग में दुःस्वप्न का अभाव और बहिरंग में चोर, क्रूर पशु की बाधा का अभाव विशेष होने से शान्ति का कारण कहा है।

" अघोर ब्रह्मचर्य ऋद्धिधारी तपस्वी जहाँ हों, वहाँ के दुर्भिक्ष, मरी आदि रोग शांत हो जाते हैं।[1]

यतिवृषभ के अनुसार चारित्र मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट क्षयोपशम से यह ऋद्धि प्रकट होती है।

अघोरगुणब्रह्मचारित्व ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, चारित्र-

---

1. मनोहर 'सहजानंद वर्णी', देवपूजा प्रवचन, पृष्ठ-48

मोहनीय के उत्कृष्ट क्षयोपशम से एवं संहनन नामकर्म प्रकृति के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

धवलाकार के अनुसार अघोरगुणब्रह्म तपस्वी के सर्वांग में असंख्यात ऋद्धियाँ होती हैं –

"अघोरगुणबंभयारीणं पुण लद्धी असंखेज्जा सव्वंगगया।"[1]

अर्थ – अघोरगुण ब्रह्मचारियों के सर्वांगगत असंख्यात लब्धियाँ (ऋद्धियाँ) होती हैं।

तप ऋद्धियों का सारांश –

ग्रन्थकर्ताओं ने तप ऋद्धियों की संख्या सात बताई हैं। तपऋद्धियों के नाम–उग्रतपऋद्धि, दीप्ततप ऋद्धि, तप्त तप ऋद्धि, महातप ऋद्धि, घोरतप ऋद्धि, घोरपराक्रमतप ऋद्धि, अघोर ब्रह्मतपऋद्धि। इन सात तप ऋद्धियों में उग्रतप ऋद्धि के दो उत्तर भेद हैं – अवस्थित उग्रतप ऋद्धि और उग्र–उग्रतप ऋद्धि। उग्रतप ऋद्धि के अलावा अन्य किसी भी तप ऋद्धि के उत्तरभेद नहीं हैं।

दीक्षा के समय स्वीकार किये गए उपवास की संख्या को जीवनभर न घटाना, बल्कि उनको बढ़ाने की शक्ति को उग्रतप ऋद्धि है। जिस शक्ति से शरीर की कांति चन्द्र की कला की तरह बढ़ती है, मुँह और श्वास से सुगंध निकलती है, शरीर का बल भी बढ़ता है, वह दीप्त तप ऋद्धि है। जिस शक्ति के प्रभाव से ग्रहण किया हुआ आहार तत्काल सूख जाता है, उसे तप्त तप ऋद्धि कहते हैं। सिंहनिष्क्रीडित आदि बड़े–बड़े उपवासव्रतों को करने की शक्ति को महातप ऋद्धि कहते हैं। रोगादिक होने पर भी उपसर्ग, परीषहों को सहते हुए कठोर व्रताचरण की शक्ति घोरतप ऋद्धि है। तीन लोक को उठाकर फेंक सकने की, समुद्र के जल को सुखाने की, शक्ति घोरपराक्रमतप ऋद्धि है। जिसके प्रभाव से दुःस्वप्न

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, सूत्र–29, पृष्ठ–94

नहीं आते, मुनि के आस-पास के क्षेत्र में दुर्भिक्ष आदि नहीं होते, उस शक्ति अघोरब्रह्मतप ऋद्धि कहते हैं।

प्रश्न – उग्रतप और महातप में क्या अन्तर है? क्योंकि दोनों में ही उपवास कर सकने की शक्ति बताई है।

उत्तर – उग्रतप में दीक्षा से मरणपर्यन्त उपवास करते रहना बताया है, जबकि महातप में सिंहनिष्क्रीडित आदि व्रतरूप उपवास किये जाते हैं, उग्रतप में सामान्य उपवास होते हैं, महातप में व्रतरूप उपवास होते हैं। यही इनमें अन्तर है। उग्रतप नियमरूप होता है, महातप नियमरूप नहीं होता है।

प्रश्न – कायबल ऋद्धि में और घोरपराक्रम ऋद्धि में क्या अन्तर है? क्योंकि दोनों में शरीर के बल की चर्चा है।

उत्तर – कायबल ऋद्धि में मात्र तीन लोक के भार को उठाने की शक्ति की चर्चा है। घोर पराक्रमतप ऋद्धि में तीन लोक को उठाकर फेंक सकने की शक्ति की चर्चा है। इसके अलावा घोर पराक्रम ऋद्धि में समुद्र को सुखा सकने आदि की भी चर्चा है।

प्रश्न – तप ऋद्धियों में किसकी महिमा है?

उत्तर – तप ऋद्धियों में आत्मसाधना की ही महिमा है, क्योंकि ऋद्धियों का जन्म आत्मलीनता में ही होता है। आत्मलीनता में परिणामों की विशुद्धि और शरीर की शक्ति दोनों में वृद्धि के साथ ऐसी अचिंत्य भावनाएँ होती हैं कि वो भावनाएँ रोगादि, उपसर्गादि की परवाह नहीं करती हैं।

जैन आगमों में तपादि सभी बाह्य-साधनों का प्रयोजन स्वरूप-समीपता तथा स्वरूप-लीनता है। इस दृष्टि से तपऋद्धियों का प्रयोजन भी स्वरूप-समीपता या स्वरूप-लीनता ही है।

इसप्रकार तप ऋद्धियों का वर्णन पूर्ण हुआ। ****

अध्याय-7

6. औषधि-ऋद्धियाँ

णमो लोए सव्वसिद्धायदणाणं।।[1]

लोक के सर्व सिद्धायतनों को हमारा नमस्कार हो।

अब क्रमानुसार औषधि ऋद्धियों की चर्चा करते हैं। औषधि ऋद्धियों में कोई जड़ी-बूटियाँ नहीं बतायेंगे। बल्कि बिना जड़ी-बूटी के महामुनियों के शरीर का स्पर्श, उनके शरीर को छुये जल, मिट्टी, हवा आदि-आदि औषधि का कार्य करते हैं, उनसे असाध्य रोग भी दूर होते हैं। वे कौन-कौन-सी चीजें हैं, जो औषधि का कार्य करती हैं - उसकी चर्चा औषधि ऋद्धियों के वर्णन में करेंगे।

औषधि का अर्थ है, रोग को दूर करने का साधन। जिससे रोग दूर होते हैं, उसे औषधि, दवाई, औषध, मेडीसिन आदि कहते हैं। लोक में जिन जड़ी-बूटी से, भस्मादि से, मंत्रादि से रोग दूर होते देखे जाते हैं, इसलिए उन सब को औषधि कहते हैं।

यहाँ ऋद्धियों में उन ऋद्धियों की चर्चा है, जिनसे रोग दूर होते हैं, ये ऋद्धियाँ न तो जड़ी-बूटी रूप हैं, न भस्मरूप हैं, न मंत्र रूप है, फिर भी सभी रोगों को दूर करने में समर्थ हैं। लौकिक रोगनिवारक जड़ी-बूटी आदि से भिन्न होने से अलौकिक हैं। जैसे मुनि के शरीर से स्पर्शित हवा ही रोगों को दूर करने में समर्थ होती है, तब उस हवा को ही औषधि और उसप्रकार की शक्ति को यहाँ औषधि ऋद्धि कहा है।

यहाँ यह विशेष है कि लोक में असाध्य रोगों की कोई औषधि नहीं होती है, परन्तु ऋद्धियों के साथ ऐसा नहीं है, ऋद्धियों से असाध्य

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-43, पृष्ठ-102

से भी असाध्य रोग नष्ट होते हैं।

यहाँ वर्णित सभी ऋद्धियाँ शुभ हैं। शुभ ऋद्धियों का प्रयोग ऋद्धिधारी मुनि की इच्छा से अथवा बिना इच्छा के दोनों प्रकार से हो सकता है। यही धवलाकार कह रहे हैं –

''णवरि असुहलद्धीणं पउत्ती लद्धिमंताणमिच्छावसवट्ठणी। सुहाणं लद्धीणं पउत्ती पुण दोहि वि पयारेहि संभवदि, तदिच्छाए विणा वि पउत्तिदंसणादो।''[1]

अर्थ – विशेष इतना है कि अशुभ लब्धियों (ऋद्धियों) की प्रवृत्ति लब्धिधारियों की इच्छा (के वश) से होती है, परन्तु शुभ लब्धियों की प्रवृत्ति दोनों प्रकार (इच्छा, बिना इच्छा) से संभव है, क्योंकि उनकी इच्छा के बिना भी उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है।

चूँकि औषध ऋद्धियाँ शुभ ही होती हैं, इसलिए उक्त कथन का आशय इतना ही है कि औषधि ऋद्धियों का प्रयोग मुनि की इच्छा से अथवा बिना इच्छा से दोनों प्रकार से होता है।

यतिवृषभ, अकलंक, श्रुतसागर आचार्यों के अनुसार औषधि ऋद्धियों की संख्या आठ हैं। परंतु वीरसेन आचार्य ने खेल (क्ष्वेल) नाम की औषधि ऋद्धि में मल नाम की औषधि ऋद्धि को शामिल करके तथा दृष्टिविष में दृष्टिअमृत ऋद्धि को शामिल करके औषधि ऋद्धियों की संख्या सात कही है।

मल ऋद्धि को पृथक् मानने पर औषधि ऋद्धियाँ आठ हैं। उन के नाम –

आमरिस खेल जल्लामल विडसव्वा आसही पत्ता।
मुहदिट्ठि णिव्विसाओ अट्विहा ओसही रिद्धी।।[2]

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-43, पृष्ठ-95
2. तिलोयपण्णत्ति, खण्ड-2, गाथा-107, पृष्ठ-319

अर्थ - 1. आमर्ष औषधि ऋद्धि, 2. क्ष्वेल औषधि ऋद्धि, 3. जल्ल औषधि ऋद्धि, 4. मल औषधि ऋद्धि, 5. विड् औषधि ऋद्धि, 6. सर्व औषधि ऋद्धि, 7. मुख निर्विष, 8. दृष्टि निर्विष- इस प्रकार औषधि ऋद्धि आठ प्रकार की है।

दृष्टिनिर्विष का दूसरा नाम दृष्टिअमृत तथा मुखनिर्विष का दूसरा नाम आस्य-अमृत या मुख-अमृत भी है।

इसी प्रकार औषधि ऋद्धि के आठ भेद बताकर उनके आठ नाम आचार्य अकलंक के अनुसार -

''औषधर्द्धिरष्टविधा असाध्यानामप्यामयानां सर्वेषां विनिवृत्तिहेतु-रामर्षक्ष्वेलजल्लमलविट्सर्वौषधिप्राप्तास्याविष-दृष्ट्यविषविकल्पात्।''[1]

अर्थ - औषध ऋद्धि आठ प्रकार की है। असाध्य रोगों के साथ सभी प्रकार के रोगों की निवृत्ति की हेतुभूत-आमर्ष, क्ष्वेल, जल्ल, मल, विट्, सर्व, आस्याविष (आस्य-अविष), दृष्ट्यविष (दृष्टि-अविष) के भेद से।

आचार्य यतिवृषभ और आचार्य अकलंक के नाम और क्रम दोनों समान हैं। परन्तु आचार्य वीरसेन के नामों में क्रमभिन्नता है तथा नाम भी पाँच ही हैं, उनके नाम और क्रम इसप्रकार हैं -

आमर्ष, खेल (क्ष्वेल), जल्ल, विष्ठा, सर्व।

आचार्य वीरसेन ने आस्याविष, दृष्ट्यविष और मल - इन तीन औषधि ऋद्धियों के नाम नहीं गिनाये हैं।

श्रुतसागर सूरि औषधि ऋद्धियों की संख्या तो आठ मानते हैं, परंतु उनके नाम अन्य शास्त्रकारों से भिन्न हैं, जो इसप्रकार हैं -

1. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-565

''विट्विलेपन, एकदेशमलस्पर्श, अपक्व-आहारस्पर्श, सर्वाङ्गमलस्पर्श, निष्ठीवनस्पर्श, दन्तकेशनखमूत्रपुरीषादिस्पर्श, कृपादृष्टि-अवलोकन, कृपादन्तपीडन।

औषधर्द्धिरष्टप्रकारा-विड्विलेपनेन एकदेशमलस्पर्शनेन अपक्वाहास्पर्शनेन सर्वाङ्गमलस्पर्शनेन निष्ठीवनस्पर्शनेन दन्तकेशनखमूत्रपुरीषादिस्पर्शनेन कृपादृष्ट्यवलोकनेन कृपादन्तपीडनेन येषां मुनीनां प्राणिरोगाः नश्यन्ति ते अष्टप्रकारा औषधर्द्धयः।''[1]

अर्थ - औषध ऋद्धि आठ प्रकार की है। जिन मुनियों के 1. विट् के विलेपन से, 2. मल के एकदेशस्पर्श से, 3. अपक्व आहार के स्पर्श से, 4. सर्वांग के मल के स्पर्श से, 5. निष्ठीवन के स्पर्श से, 6. दाँत-केश-नख-मूत्र-विष्टा आदि के स्पर्श से, 7. कृपादृष्टिपूर्वक देखने से, 8. कृपापूर्वक दाँतों को दिखाने से प्राणियों के रोग नष्ट होते हैं, वे औषध ऋद्धियाँ आठ प्रकार की हैं।

श्रुतसागर सूरि ने औषधि ऋद्धियों के मात्र नाम गिनाये हैं, उनके स्वरूप का वर्णन नहीं किया है। फिर भी श्रुतसागरजी ने जिन आठ ऋद्धियों की चर्चा की है, उन ऋद्धियों में से विट्विलेपन ऋद्धि का समावेश अन्य आचार्यों द्वारा कही हुई विट् औषधि या विडौषधि ऋद्धि में हो जाता है। तथा एकदेश-मलस्पर्श एवं सर्वांग-मलस्पर्श, दन्त-केश-नख-मूत्र-पुरीषस्पर्श - इन ऋद्धियों का समावेश मल तथा जल्ल औषध ऋद्धियों में हो जाता है। निष्ठीवन ऋद्धि का क्ष्वेल ऋद्धि में समावेश हो जायेगा। कृपादृष्टि-अवलोकन ऋद्धि का दृष्टिनिर्विष ऋद्धि में हो जायेगा। कृपादन्तपीड़न ऋद्धि का आस्याविष (मुखनिर्विष) ऋद्धि में हो जाता है। परन्तु अपक्वाहारस्पर्श ऋद्धि का समावेश पूर्व में कही किसी में होता दिखता नहीं है। हाँ, सर्वौषधि ऋद्धि में हो सकता है, क्योंकि सर्वौषधि

1. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-315

ऋद्धि में सब कुछ समाहित है। सर्व में अपक्वाहार का स्पर्श भी गर्भित हो जायेगा। इसलिए अपक्वाहारस्पर्श ऋद्धि का सर्वौषधि ऋद्धि में समावेश हो सकता है।

श्रुतसागरजी ने आमर्ष औषधि अलग से नहीं कही, परंतु औषधि ऋद्धियों में स्पर्श शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए आमर्ष औषधि उन्हीं में गर्भित समझ सकते हैं।

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ में औषधि ऋद्धियों की संख्या आठ ही कही है –

आमर्षसर्वौषधयस्तथाशीर्विषं विषादृष्टिविषं विषाश्च।
सखिल्ल विड्जल्लमलौषधीशा स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः।।[1]

आचार्य अमितगति के अनुसार एक शरीर में उत्कृष्टपने संख्या 5,68,99,584 (पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी) होती है।

आचार्य अमितगति मरणकण्डिका ग्रन्थ में शरीर के रोगों का वर्णन प्रश्नोत्तर शैली में करते हैं –

यदि षण्णवति रोगाः संभवन्ति विलोचने।
कियन्तस्ते तदा नृणां सर्वत्रापि कलेवरे।।1104।।

कोट्यः पंचाष्ट षष्टिश्च लक्षाः सह सहस्रकैः।
नवभिर्नवति पंचाशताशीतिश्चतुर्युता।।1105।।[2]

अर्थ – प्रश्न – यदि एक नेत्र में छियानवे रोग उत्पन्न होते हैं तो मनुष्य के सारे शरीर में कितने रोग हो सकते हैं?

उत्तर – सारे शरीर में पाँच करोड़, अड़सठ लाख, निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी (5,68,99,594) रोग हो सकते हैं।

---

1. परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक-9
2. अमितगति, मरणकण्डिका, श्लोक-1104-1105, पृष्ठ-310

यहाँ **प्रश्न** – रोग 5,68,99,584 और ऋद्धियाँ तो मात्र आठ ही हैं, आठ ऋद्धियों से इतने सारे रोग कैसे दूर होते हैं?

उसका **उत्तर** – भले ही औषधि ऋद्धियों की संख्या आठ है, फिर भी उनमें इतनी सामर्थ्य है कि वे 56899584 रोगों को दूर करने में समर्थ हैं।

प्रश्न – क्या औषधि ऋद्धि से मुनिराज के स्वयं के रोग भी दूर होते हैं?

उत्तर – जिनकी ऋद्धियाँ दूसरों के रोग दूर करती हैं, क्या वे उनको रोगी होने देंगी? नहीं, वे उनको नीरोगी ही रखती हैं।

अब प्रत्येक औषधि ऋद्धि के स्वरूप का विचार करते हैं –

1. आमर्ष–औषधि–ऋद्धि

णमो आमोसहि–पत्ताणं।।[1]

आमर्ष औषधि को प्राप्त जिनों को हमारा नमस्कार हो।

आमर्ष या आमर्श शब्द का अर्थ स्पर्श है।

जिस शक्ति से मुनि के अंगस्पर्श, शब्द स्पर्श के द्वारा या समीप आने से प्राणियों के रोग दूर हो जाते हैं, उस शक्ति को आमर्ष औषधि ऋद्धि कहते हैं।

अकलंक के अनुसार मुनि के हाथ–पैर आदि का स्पर्श ही औषधिपने को प्राप्त होता है –

''आमर्शः संस्पर्शः, यदीयहस्तपादाद्यामर्श औषधिप्राप्तो यैस्ते आमर्शौषधिप्राप्ताः।''[2]

अर्थ – आमर्श स्पर्श को कहते हैं। जिनके हाथ–पैर आदि का

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, सूत्र–30, पृष्ठ–95
2. राजवार्तिक, अध्याय–3, सूत्र–36, पृष्ठ–565

स्पर्श ही औषधि को प्राप्त है, वे आमर्श औषधि प्राप्त ऋषि कहलाते हैं।

उनकी उसप्रकार की शक्ति आमर्श औषधि ऋद्धि कहलाती है।

यतिवृषभ के अनुसार स्पर्श तो दूर, उनके पास जाने मात्र से ही रोग दूर हो जाते हैं –

रिसि–कर–चरणादीणं, अल्लिय मेत्तम्मि जीए पासम्मि।
जीवा होंति णिरोगा, सा अमरीसोसही रिद्धी।।[1]

अर्थ – जिस ऋद्धि के प्रभाव से ऋषि के हस्त एवं पैर आदि के स्पर्श से तथा समीप आने मात्र से (रोगी) जीव नीरोग हो जाते हैं, वह आमर्शौषधि ऋद्धि है।

धवलाकार के अनुसार तप के प्रभाव से मुनि के स्पर्श ही समस्त औषधि के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं –

तवोमाहप्पेण जेसिं फासो–सयलोसहसरूवं पत्तो तेसिमामो–सहिपत्ता त्ति सण्णा।''[2]

अर्थ – तप के माहात्म्य से जिनका स्पर्श सकल औषधों के स्वरूप को प्राप्त हो गया है, उनकी औषधि ऋद्धि प्राप्त – ऐसी संज्ञा है अर्थात् उनके स्पर्श का नाम आमर्ष औषधि ऋद्धि है।

प्रश्न – क्या आमर्श औषधि ऋद्धि का अघोरगुणब्रह्मतप ऋद्धि में अन्तर्भाव हो सकता है? क्योंकि अघोर गुण ब्रह्मचारी में व्याधियाँ नष्ट करने की शक्ति देखी जाती है।

उत्तर – इन औषधि ऋद्धिधारियों का अघोरगुण ब्रह्मचारियों में अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें केवल व्याधि नष्ट करने की ही शक्ति देखी जाती है, जबकि अघोरगुण ब्रह्मचारी तप ऋद्धिधारियों के द्वारा व्याधियाँ तो नष्ट होती ही है; साथ ही दुर्भिक्ष, बैर, कलह आदि भी नष्ट

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड–2, गाथा–1079, पृष्ठ–319
2. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, पृष्ठ–96

होते हैं। आमर्ष औषधि ऋद्धि लाभान्तराय, दानान्तराय, वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

2. क्ष्वेलौषधि-ऋद्धि

णमो खेलोसहिपत्ताणं।।[1]

खेल औषधि प्राप्त ऋषियों को हमारा नमस्कार हो।

खेल या क्ष्वेल का अर्थ है - मुँह से संबंधित मल।

खेल और क्ष्वेल - दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।

आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार श्लेष्म, लार, सिंहाण (नासिका मल) और विप्रुष आदि की खेल संज्ञा है -

''सेंभ-लाला-सिंघाण-विप्पुसादीणं खेलो त्ति संण्णा।''[2]

क्ष्वेल अर्थात् निष्ठीवन, निष्ठीवन अर्थात् मुँह से संबंधित मल। मुँह से संबंधित जितने मल हैं, उन सबको क्ष्वेल, खेल या निष्ठीवन कहते हैं। जैसे - कफ, लार, नासिका-मल, आँख का मल - ये सभी मुँह से संबंधित मल हैं, अत: इन सबकी क्ष्वेल, खेल या निष्ठीवन संज्ञा है।

जिनके मुँह से संबंधित मल, औषधि को प्राप्त होकर प्राणियों के रोगों को दूर करते हैं, वे मुनि क्ष्वेलौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि कहलाते हैं। उनकी इसप्रकार की शक्ति को क्ष्वेलौषधि ऋद्धि कहते हैं।

वीरसेन आचार्य का यही कहना है -

''खेलो ओसहित्तं पत्तो जेसिं ते खेलोसहिपत्ता।''[3]

अर्थ - जिनका खेल (क्ष्वेल) औषधिपने को प्राप्त हो गया है, वे खेल (क्ष्वेल) औषधि प्राप्त ऋषि हैं।

1-3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-31, पृष्ठ-96

आचार्य यतिवृषभ भी यही कहते हैं –

जीए लाला सेमच्छीमल सिंहाण आदिया सिग्धं।
जीवाण रोग-हरणा स च्चिय खेलोसही रिद्धी।।[1]

अर्थ – जिस ऋद्धि के प्रभाव से (ऋषि के) लार, कफ, अक्षिमल और नासिका-मल शीघ्र ही जीवों के रोगों को नष्ट करते हैं, वह खेलौषधि (क्ष्वेलौषधि) ऋद्धि है।

''क्ष्वेलो निष्ठीवनमौषधिर्येषां ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ताः।''[2]

अर्थ – जिनका क्ष्वेल अर्थात् निष्ठीवन (थूंक आदि) औषधि को प्राप्त होता है, वे क्ष्वेलौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि होते हैं।

इस ऋद्धि का आशय इतना ही है कि जिस शक्ति के प्रभाव से मुनि का मुखमल औषधिपने को प्राप्त होता है, उस शक्ति को क्ष्वेलौषधि ऋद्धि कहते हैं।

यह ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, दानान्तराय कर्मप्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

3. जल्लौषधि-ऋद्धि

णमो जल्लोसहिपत्ताणं।।[3]

जल्लौषधि प्राप्त ऋषियों को हमारा नमस्कार हो।

पसीने से आश्रित शरीर का मल 'जल्ल' कहलाता है अथवा वीरसेन की भाषा में अंगमल 'जल्ल' कहलाता है-

''जल्लो अंगमलो बाहिरो।''[4]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1080, पृष्ठ-319
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-565
3-4. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-32, पृष्ठ-96

अर्थ – बाह्य अंगमल 'जल्ल' कहलाता है।

जिनके बाह्य अंगमल अर्थात् पसीने के आश्रित रजकणों से प्राणियों के रोग दूर होते हैं, वे जल्लौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि कहलाते हैं अथवा जिनका अंगमल औषधिपने को प्राप्त होता है, उन्हें जल्लौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि कहते हैं तथा जिस शक्ति के प्रभाव से मुनि के शरीर के पसीने से मिश्रित रजकण औषधिपने को प्राप्त होते हैं, उनकी वह शक्ति जल्लौषधि ऋद्धि कहलाती है।

धवलाकार के अनुसार –

''जल्लो अंगमलो बाहिरो, सो ओसहित्तं पत्तोजेसिं तवोबलेण ते जल्लोसहि पत्ता।''[1]

अर्थ – बाह्य अंगमल जल्ल कहलाता है। जिनका वह अंगमल तप के प्रभाव से औषधिपने को प्राप्त हो जाता है, वे जल्लौषधि ऋद्धि प्राप्त कहलाते हैं।

आचार्य यतिवृषभ भी यही कहते हैं –

सेयजलं अंगरयं जल्लं, भणंति जीए तेणावि।
जीवाण रोगहरणं, रिद्धी जल्लोसही णामा।।[2]

अर्थ – स्वेदजल (पसीने) के आश्रित (उत्पन्न होनेवाला) शरीर का (अंगरज) मल 'जल्ल' कहलाता है। जिस ऋद्धि के प्रभाव से उस अंगरज से जीवों के रोग नष्ट होते हैं, वह जल्लौषधि ऋद्धि है।

आचार्य अकलंकदेव भी यही कहते हैं –

''स्वेदालम्बनो रजोनिचयो जल्ल:, स औषधिप्राप्तो येषां ते जल्लौषधिप्राप्ता:।''[3]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-32, पृष्ठ-96-97
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1081, पृष्ठ-320
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-565

अर्थ - स्वेद (पीसने) से आश्रित रजसमूह ''जल्ल'' कहलाता है, जिनका वह जल्ल ही औषधि को प्राप्त होता है, वे जल्लौषधिप्राप्त ऋषि कहलाते हैं।

इस ऋद्धि का आशय इतना ही है कि जिस शक्ति के प्रभाव से मुनि का जल्ल (पसीने से मिश्रित रजकण) औषधिपने को प्राप्त होकर प्राणियों के रोगों को दूर करते हैं, उस शक्ति को जल्लौषधि ऋद्धि कहते हैं।

यह ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय, दानान्तराय कर्मप्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

4. मलौषधि-ऋद्धि

णमो मलोसहिपत्ताणं।।[1]

मलौषधि प्राप्त जिनों को हमारा नमस्कार हो।

जिस शक्ति के प्रभाव से कान, दाँत, नाक, आँख, जीभ आदि का मल औषधिपने को प्राप्त होकर जीवों के रोगों को दूर करने में समर्थ होता है, उस शक्ति का मलौषधि ऋद्धि कहते हैं।

धवलाकार ने इसका वर्णन इसलिए नहीं किया, क्योंकि उन्होंने इस नामवाली अलग से औषधि ऋद्धि नहीं मानी है। संभवत: उन्होंने इसका अन्तर्भाव क्ष्वेलौषधि में किया हो। इस ऋद्धि का वर्णन तिलोयपण्णत्ती और राजवार्तिक में मिलता है।

तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार -

जीहोट्ठ-दंत-णासा-सोत्तादि मलं पि जीए सत्तीए।
जीवाण रोगहरणं मलोसही णाम सा रिद्धी।।[2]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-33 का भाव, पृष्ठ-97
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1082, पृष्ठ-320

अर्थ – जिस शक्ति से जिह्वा, ओंठ, दाँत, नाक और श्रोत्रादि का मल जीवों के रोगों के दूर करने वाला होता है, वह मलौषधि नाम की ऋद्धि है।

राजवार्तिककार के अनुसार –

''कर्णदन्तनासाक्षिसमुद्भवं मलमौषधिप्राप्तं येषां ते मलौषधिप्राप्ताः।''[1]

अर्थ – जिनके कान, दाँत, नाक, आँख से उत्पन्न मल औषधिपने को प्राप्त होता है, वे मलौषधि प्राप्त ऋषि कहलाते हैं।

यहाँ **प्रश्न –** क्ष्वेलौषधि और मलौषधि में क्या अंतर है? क्योंकि इन ऋद्धियों में मल को ही औषधि के रूप में कहा है।

उत्तर – क्ष्वेलौषधि में कफ, लार, थूक की अर्थात् मुँह के भीतर के मल की मुख्यता है। इसप्रकार के मल को मुनि रोकते हैं। मलौषधि में आँख, नाक, जीभ, दाँत के मल की मुख्यता है। इसप्रकार के मल को नहीं रोक सकते। यह मल शरीर के स्वतः ही निकलता है।

मलों की भिन्नता से ही इन ऋद्धियों में भिन्नता है।

यह ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय, दानान्तराय कर्मप्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

5. विडौषधि-ऋद्धि

णमो विट्ठोसहिपत्ताणं।।[2]

विष्ठौषधि प्राप्त ऋषियों को हमारा नमस्कार हो।

विट् (विड्) और विष्ठा शब्द पर्यायवाची हैं। आचार्य वीरसेन के

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-565
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-33, पृष्ठ-97

मत में विष्ठा शब्द देशामर्शक[1] है। अतएव इस शब्द से मूल, मल और शुक्र का भी ग्रहण होता है -

''विट्ठसद्दो जेण देसामासिओ तेण मुत्त-विट्ठा-सुक्काणं गहणं।''[2]

अर्थ - विष्ठा शब्द चूँकि देशामर्शक है; इसलिए विष्ठा शब्द से मूत्र, मल, शुक्र का भी ग्रहण होता है।

जिस शक्ति के प्रभाव से मुनि के मूत्र, मल, शुक्र औषधि को प्राप्त होकर जीवों के रोग दूर करने में निमित्त बनते हैं, उस शक्ति को विडौषधि या विष्ठौषधि ऋद्धि कहते हैं। ऐसी ऋद्धि को प्राप्त उन मुनि भगवन्तों को विडौषधि या विष्ठौषधि ऋद्धिप्राप्त ऋषि कहते हैं।

धवलाकार आचार्य वीरसेन इस ऋद्धि का स्वरूप निम्नप्रकार से कहते हैं -

''..... मुत्त-विट्ठा-सुक्क...... ओसहित्तं पत्ता जेसिं ते विट्ठोसहिपत्ता।''[3]

अर्थ - जिनके मूत्र, विष्ठा, शुक्र औषधिपने को प्राप्त होते हैं, वे विष्ठौषधि प्राप्त ऋषि कहलाते हैं।

आचार्य यतिवृषभ का भी यही कहना है -

मुत्त-पुरीसो वि पुढं, दारुण बहुजीव-वाहि-संहरणा।
जीए महामुणीणं विडोसही णाम सा रिद्धी।।[4]

अर्थ - जिस ऋद्धि के प्रभाव से महामुनियों के मूत्र और विष्ठा

---

1. जिस शब्द से अनेक अर्थों का ग्रहण होता है, उसे देशामर्शक शब्द कहते हैं।
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-33, पृष्ठ-97
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-33, पृष्ठ-97
4. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1083, पृष्ठ-320

भी जीवों के बहुत भयानक रोगों को नष्ट करनेवाले होते हैं, वह विडौषधि नाम की ऋद्धि है।

आचार्य अकलंक भी यही कहते हैं –

''विड्उच्चार औषधिर्येषां ते विडौषधिप्राप्ता:।''[1]

अर्थ – विट् उच्चार को कहते हैं। जिनकी विट् ही औषधि को प्राप्त होती है, वे विडौषधि प्राप्त ऋषि कहलाते हैं।

आचार्य अकलंक कहते हैं कि उच्चार को विट् या विष्ठा कहते हैं। मल, मूत्र को व्यवहार में उच्चार कहते हैं। जिनका उच्चार अर्थात् विट् अर्थात् मल-मूत्र औषधिपने को प्राप्त हो, वे विडौषधि ऋद्धिप्राप्त मुनि हैं।

इस ऋद्धि का सरल-सा भाव यह है कि जिस ऋद्धि के प्रभाव से ऋषि के मूत्र, मल, शुक्र औषधि को प्राप्त होकर जीवों के रोगों को दूर करनेवाले होते हैं, उस ऋद्धि को विडौषधि या विष्ठौषधि ऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धि को प्राप्त ऋषि को विडौषधि या विष्ठौषधि ऋद्धिप्राप्त ऋषि कहते हैं।

यह ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, दानान्तराय कर्मप्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

6. सर्वौषधि-ऋद्धि

णमो सव्वोसहिपत्ताणं।[2]

सर्वौषधि प्राप्त ऋषियों को हमारा नमस्कार हो।

यहाँ सर्व शब्द अपने भीतर विशेष अर्थ को धारण किए हुए है। जिनका सर्व अर्थात् सब कुछ, औषधि को प्राप्त हो गया है, वे सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि कहलाते हैं।

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-565
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-34, पृष्ठ-97

प्रश्न – सर्व अर्थात् क्या?

उत्तर – सर्व से आशय यह है – अंग, प्रत्यंग, नाखून, दाँत, बाल, रस, रुधिर आदि।

उक्त अंग आदि का स्पर्श तथा इनको छूकर आनेवाली हवा, जलादि भी औषधिपने को प्राप्त होकर जीवों के रोगों को दूर करने वाले होते हैं।

मुनि की जिस शक्ति के प्रभाव से अंग आदि का स्पर्श या अंग आदि को छूकर आने वाली हवा या जल औषधि को प्राप्त होकर जीवों के रोगों को दूर करनेवाले होते हैं, मुनि की उस शक्ति को सर्वौषधि ऋद्धि कहते हैं तथा उस ऋद्धि को प्राप्त ऋषि को सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि कहते हैं।

इस ऋद्धि के संबंध में वीरसेन आचार्य का कथन है –

''रस-रुहिर-मांस-मेदट्ठि-मज्ज-सुक्क-पुप्फुस-खरीस-कालेज्ज-मुत्त-पित्तंतुच्चारादओ सव्वे ओसहित्तं पत्ता जेसिं ते सव्वोसहिपत्ता।''[1]

अर्थ – जिनके रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा, शुक्र, फुप्फुस, खरीष, कालेय, मूत्र, पित्त, आंतडी, उच्चार अर्थात् मल आदि सब कुछ औषधिपने को प्राप्त हो जाते हैं; वे ऋषि सर्वौषधि प्राप्त ऋषि कहलाते हैं।

आचार्य वीरसेन ने इस ऋद्धि में शरीर के रस आदि को शामिल किया है, जबकि आचार्य यतिवृषभ शरीर से छूकर आनेवाले जल, वायु आदि को शामिल करते हुए लिखते हैं –

जीए पस्स जलाणिल रोम णहादीणि वाहि हरणाणि।
दुक्कर तव जुत्ताणं रिद्धी सव्वोसही णामा।।[2]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-97
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1084, पृष्ठ-320

अर्थ – जिस ऋद्धि के प्रभाव से दुष्कर तप से युक्त मुनियों के द्वारा स्पर्श किया हुआ जल एवं वायु तथा उनके रोम, नख आदि भी व्याधि के हरनेवाले होते हैं, वह सर्वौषधि नाम की ऋद्धि है।

आचार्य अकलंक भी तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार ही लिखते हैं –

''अङ्गप्रत्यङ्गनखदन्तकेशादिरवयवा: तत्संस्पर्शीवाय्वादिस्सर्व औषधिप्राप्तो येषां ते सर्वौषधिप्राप्ता:।''[1]

अर्थ – जिनके अंग, प्रत्यंग, नाखून, दाँत, केश (बाल) आदि अवयव तथा इन अवयवों को छूकर आनेवाली हवा आदि सभी औषधि को प्राप्त हो जाते हो, वे ऋषि सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि कहलाते हैं।

इस ऋद्धि का आशय है कि जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के शरीर के अवयव तथा इनको छूकर आनेवाले जल, वायु आदि औषधि को प्राप्त होकर जीवों के रोगों को हर लेते हैं, उसे सर्वौषधि ऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धि को प्राप्त मुनि को सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त ऋषि कहते हैं।

यह ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, चारित्रमोहनीय के उत्कृष्ट क्षयोपशम से तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से एवं दुष्कर तप से प्रकट होती है।

7. आस्याविष–औषधि–ऋद्धि

णमो आसीविषाणं।।[2]

आस्य अविष ऋद्धिप्राप्त जिनों को हमारा नमस्कार हो।

इस ऋद्धि के अन्य नाम आशी: अविष या मुखनिर्विष या वचननिर्विष हैं।

आचार्य अकलंक का इस ऋद्धि के विषय में विचार है –

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-65
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-20, पृष्ठ-85

''उग्रविषसम्पृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषीभवति यदीयास्यनिर्गतवचः श्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषीभवन्ति ते आस्याविषाः।''[1]

अर्थ – उग्र विष-मिश्रित आहार भी जिनके मुख में जाकर निर्विष हो जाता है अथवा जिनके मुख से निकले हुए वचनों को सुनने मात्र से ही महाविष व्याप्त प्राणी भी निर्विष हो जाते हैं, वे मुनि आस्याविष ऋद्धिधारी कहलाते हैं।

आचार्य यतिवृषभ ने इस ऋद्धि का नाम वचननिर्विष कहा है –

तित्तादि विविहमण्णं विसजुत्तं जीए वयणमेत्तेण।
पावेदि णिव्विसत्तं सा रिद्धी वयण णिव्विसा णामा।।

अहवा बहुवाहीहिं परिभूदा झत्ति होंति णीरोगा।
सोदुं वयणं जीए, सा रिद्धी वयण-णिव्विसा णामा।।[2]

अर्थ – जिस ऋद्धि के प्रभाव से तिक्तादिक रस एवं विषसंयुक्त विविध प्रकार का अन्न (भोजन) वचन मात्र से ही निर्विष हो जाता है, वह वचननिर्विष नामक ऋद्धि है।

अथवा जिस ऋद्धि के प्रभाव से बहुत व्याधियों से युक्त जीव (ऋषि के) वचन सुनकर शीघ्र नीरोग हो जाते हैं, वह वचननिर्विष नामक ऋद्धि है।

धवलाकार ने **''णमो आसीविसाणं''**[3] सूत्र के व्याख्यान में आशीर्विष ऋद्धि का वर्णन किया है, उसी सूत्र के व्याख्यान में इस आस्याविष ऋद्धि का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार आशिष है अविष अर्थात् अमृत जिनका वे आशीर्विष हैं। स्थावर अथवा जंगम दोनों प्रकार

---

1. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-565
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1085-1086, पृष्ठ-321
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-20, पृष्ठ-85

के विष से व्याप्त जीवों के प्रति 'निर्विष हो' – इसप्रकार निकला हुआ जिनका वचन उन जीवों को जीवन देता है तथा व्याधिवेदना को दूर करता है और दारिद्र्यनाश का भी कार्य करता है, इसीप्रकार जिस-जिस कार्य हेतु वचन निकलता है, वह वचन उस-उस कार्य को सम्पन्न करता है, ऐसे वे ऋषि आशीर्विष ऋद्धिधारी कहलाते हैं –

''आसी अविसममियं जेसिं ते आसीविसा। जेसिं वयणं थावरजंगमविसपूरिदजीवे पडुच्च ''णिव्विसा होंतु'' त्ति णिस्सरिदं ते जीवावेदि, वाहिवेयण-दालिद्दादि-विलयं पडुच्च णिप्पडिदं संतं तं जं कज्जं करेदि ते वि आसीविसा त्ति उत्तं होदि।''[1]

धवलाकार के अनुसार इस ऋद्धि में आशीर्विष और आशर्निर्विष दोनों ऋद्धियों का व्याख्यान समझना चाहिए।

इसप्रकार से ऋद्धि का वर्णन करके वे लिखते हैं कि ऋषि में निग्रह और अनुग्रह की शक्ति होती है, परन्तु वे किसी का निग्रह या अनुग्रह नहीं करते हैं, क्योंकि निग्रह (क्रोध) और अनुग्रह (हर्ष) करने वाले के जिनत्व संभव नहीं है –

''तवोबलेण एवंविहसत्तिसंजुत्तवयणा होदूण जे जीवाणं णिग्गहाणुग्गहं ण कुणंति, ते आसीविसा त्ति घेत्तव्वा। कुदो? जिणाणुउत्तीदो। ण णिग्गहाणुग्गहेहि संदरिसिदरोसतोसाणं जिणत्तमत्थि, विरोहादो।''[2]

अर्थ – तपोबल से इसप्रकार की शक्ति से सहित होते हैं, परन्तु वे जीवों का अनुग्रह या विग्रह नहीं करते हैं, वे आशीविष ऋषि ग्रहण करने चाहिए। वे अनुग्रह या विग्रह क्यों नहीं करते? क्योंकि अनुग्रह-विग्रह करनेवालों के जिनत्व नहीं रहता है; क्योंकि अनुग्रह-निग्रह में और जिनत्व में परस्पर विरोध है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-85-86
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-86

अन्त में वे आशीर्विष ऋद्धि में आशीर्विष और आशीर्निविष दोनों गर्भित होने से उसे शुभ व अशुभ दोनों प्रकार की बताते हुए लिखते हैं–

''एदेसिं सुहासुहलद्धिसहियाणमासीविसाणं जिणाणं णिसुढिय महिवीढणिवदिदो किदियम्मं करेमि त्ति उत्तं होदि।''[1]

अर्थ – इन शुभ व अशुभ लब्धि (ऋद्धि) सहित आशीर्विष जिनों को नत होता हुआ पृथिवीतल पर गिरकर वंदना करता हूँ।

यह ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, दानान्तराय, चारित्रमोहनीय के विशिष्ट क्षयोपशम तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से तथा भाषावर्गणा के विशिष्ट संयोग से प्रकट होती है।

8. दृष्ट्यविषा–औषधि–ऋद्धि

णमो दिट्ठीणिव्विसाणं।।[2]

दृष्टि निर्विष जिनों को हमारा नमस्कार हो।

इस ऋद्धि का दूसरा नाम दृष्टि–निर्विष, दृष्टिअमृत औषधि ऋद्धि भी है।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के द्वारा देखने मात्र से रोग एवं विष से व्याप्त जीव नीरोग तथा निर्विष हो जाता है, उस ऋद्धि को दृष्ट्यविष या दृष्टिनिर्विष ऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धि को प्राप्त मुनि को दृष्ट्यविष या दृष्टिनिर्विष ऋद्धि प्राप्त मुनि कहते हैं।

आचार्य अकलंक का यही कहना है –

''येषामालोकनमात्रादेवातितीव्रविषदूषिता अपि सन्तः विगतविषा भवन्ति ते दृष्टयविषाः।''[3]

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-86
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-565
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-21, पृष्ठ-86

अर्थ – जिनके देखने मात्र से ही अतितीव्र विष भी दूर (नष्ट) हो जाता है, वे दृष्ट्यविष कहलाते हैं।

इसीप्रकार आचार्य यतिवृषभ भी कहते हैं –

रोगविसेहिं पहदा दिट्ठीए जीए झत्ति पावंति।
णीरोग णिव्विसत्तं सा भणिदा दिट्ठि–णिव्विसा रिद्धी।।[1]

अर्थ – जिस ऋद्धि के प्रभाव से रोग एवं विष से व्याप्त जीव, ऋषि के द्वारा देखने मात्र से ही रोग रहित, विष रहित हो जाते हैं, वह दृष्टिनिर्विष नाम की ऋद्धि कहलाती है।

धवलाकार ने "**णमो दिट्ठिविसाणं**"[2] सूत्र के व्याख्यान में दृष्टिविष ऋद्धि का वर्णन किया है तथा उसी के व्याख्यान के साथ इस दृष्टिनिर्विष ऋद्धि का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार –

"**एवं दिट्ठिअमियाणं पि जाणिदूण लक्खणं वत्तव्वं।**"[3]

अर्थ – इसीप्रकार (आशीर्विष की तरह) दृष्टि अमृतों को जानकर उनका लक्षण कहना चाहिए।

अर्थात् जिनके देखने मात्र से स्थावर व जंगम दोनों प्रकार के विष से व्याप्त जीवों का विष नष्ट होता है, उनकी व्याधि संबंधी वेदना दूर होती है तथा जिस-जिस भाव से देखा जाता है, वह-वह कार्य सम्पन्न होता है, वे ऋषि दृष्टिनिर्विष ऋद्धिधारी कहलाते हैं।

प्रश्न – दृष्ट्यविष औषध ऋद्धि का दूसरा नाम आचार्य वीरसेन के अनुसार दृष्टिअमृत औषध ऋद्धि है। इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि दृष्टिअमृत औषध ऋद्धि में और आगे कही जाने वाली अमृतस्रावी रस ऋद्धि में क्या अंतर है?

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1087, पृष्ठ-321
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-21, पृष्ठ-86
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-21, पृष्ठ-86-87

उत्तर – दृष्टि अमृत औषध ऋद्धि में ऋद्धिधारी मुनिराज की दृष्टि (देखना) ही अमृत का कार्य करती है। जैसे मरणासन्न जीव को अमृत पिलाये या रोगी को अमृत पिलाये तो दोनों स्वस्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार मरणासन्न या रोगी को दृष्टि अमृत ऋद्धिधारी मुनिराज देखें तो उनके देखने मात्र से ही दोनों स्वस्थ हो जाते हैं।

अमृतस्रावी ऋद्धि मुनिराज के आहार से संबंधित है। रस ऋद्धि के प्रभाव से सरस, नीरस, विषमिश्रित आहार भी अमृतस्रावी अर्थात् अमृत के गुणों को प्राप्त हो जाता है। वे मुनिराज अमृतभोजी कहलाते हैं।

दृष्टिअमृत औषधि ऋद्धि से दूसरे जीवों के असाध्य से असाध्य रोग दूर हो जाते हैं। स्वयं भी निरोगी रहते हैं। जबकि अमृतस्रावी रस ऋद्धि से अन्य जीवों के रोग दूर नहीं होते हैं, मात्र मुनिराज के हाथ के स्पर्श से आहार अमृतगुण को प्राप्त होता है। यही इन दोनों ऋद्धियों में अंतर है।

धवलाकार के अनुसार इस ऋद्धि में दृष्टिविष और दृष्टिअमृत दोनों ऋद्धियों का व्याख्यान समझना चाहिए।

यहाँ पुनः **प्रश्न** – दोनों ऋद्धियों में से कौन-सी विशेष ऋद्धि है?

उसका **उत्तर** – उक्त दोनों ऋद्धियों में से दृष्टिअमृत ऋद्धि निश्चित रूप से बड़ी है। धर्मप्रभावना की हेतु है – "देखो जैनो, मुनि ऐसे शक्तिवाले होते हैं कि उनके देखने मात्र से रोग दूर हो जाते हैं, रोगी अमृतपान के समान तरोताजा हो जाता है।" – ऐसी प्रभावना लोक में होती है।

इस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि स्वयं भी अमृतपान के समान स्वस्थ रहते हैं और अपनी दृष्टि से औरों को भी अमृतपान कराते हैं।

यहाँ द्रव्य अमृतपान की चर्चा है। भाव अमृतपान तो उनका उपदेश होता है।

अमृतस्रावी रसऋद्धि में अमृतपान का लाभ स्वयं मुनिराज को ही होता है, अन्य जीवों को नहीं। इसलिए दृष्टिअमृत औषधि ऋद्धि अमृतस्रावी रस ऋद्धि से बड़ी ऋद्धि है। विशेष ऋद्धि है।

अथवा अमृत औषधि ऋद्धि में मुनि की दृष्टि अमृत का पान कराती है, जबकि आचार्यों के कथनानुसार अमृतस्रावी ऋद्धि में मुनि के वचन अमृत का कार्य करते हैं। अमृत औषधि ऋद्धि में और अमृतस्रावी ऋद्धि में दोनों ऋद्धियों में अमृतगुण के ही कार्य होते हैं। इसलिए दोनों ऋद्धियाँ समान हैं। न कोई छोटी नहीं, न कोई बड़ी है।

यहाँ एक और **प्रश्न** है कि अमृतस्रावी ऋद्धिधारी मुनि के वचन श्रोताओं को अमृत के समान मीठे लगते हैं। क्या अमृत औषधि ऋद्धिधारी मुनि वचन भी श्रोताओं को अमृत के समान लगते हैं?

उसका **उत्तर** – जिनकी दृष्टि ही अमृत का कार्य करती है, उनके वचन तो अमृत का कार्य करने चाहिए। शास्त्राधार न होने से अनुमान किया है।

यहाँ भी पूर्व की तरह ही धवलाकार का आशय समझना चाहिए कि ऋषि में निग्रह और अनुग्रह दोनों प्रकार की शक्ति होती है, परन्तु वे किसी का निग्रह या अनुग्रह नहीं करते हैं, क्योंकि निग्रह (क्रोध) तथा अनुग्रह (हर्ष) करनेवाले के जिनत्व सम्भव नहीं है।

यह ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, दानान्तराय, चारित्रमोहनीय के उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से और इसप्रकार औषधि ऋद्धियों का वर्णन पूरा हुआ। भाषावर्गणा के विशिष्ट संयोग से प्रकट होती है।

*****

अध्याय-8

7. रस-ऋद्धियाँ

अब क्रमागत रस ऋद्धियों की चर्चा करते हैं -

रस से संबंधित ऋद्धि को रस ऋद्धि कहते हैं। यहाँ द्रवरूप द्रव्य को रस कहा है। द्रवरूप द्रव्यों में दूध, घी, मधु और अमृत - इन चार रसों को ही ग्रहण किया है।

प्रश्न - इन ऋद्धियों का नाम रस-ऋद्धि क्यों पड़ा?

उत्तर - इन ऋद्धियों में आहार, दूध, घी, मधु और अमृत के रूप में स्वतः ही परिणमित हो जाता है अर्थात् आहार में दूध, घी, मधु और अमृतरूपी रसों के स्वाद और गुण उत्पन्न होते हैं। रसों के स्वाद और गुणों को उत्पन्न करनेवाली होने से इन ऋद्धियों को रस ऋद्धि नाम दिया गया है।

ये चारों शुभ रस हैं। तथा दृष्टिविष व आशीर्विष में दृष्टि तथा वचन विष का कार्य करते हैं। विष भी हानिकारक रस है। ये दोनों अशुभ रस हैं। ये छहों ऋद्धियाँ रसों से संबंधित होने से इन ऋद्धियों का नाम रस-ऋद्धियाँ है।

रस ऋद्धियाँ छह प्रकार की हैं - आस्यविष, दृष्टिविष, क्षीरस्रावी, मधुस्रावी, अमृतस्रावी और सर्पिस्रावी। इन्हीं के आधार पर आचार्य अकलंक ने रस-ऋद्धि प्राप्त आर्य (ऋषि) छह प्रकार के बताये हैं -

''रसर्द्धिप्राप्तार्याः षड्विधाः। आस्यविषा दृष्टिविषाः क्षीरास्रविणः मध्वास्रविणः सर्पिरास्रविणः अमृतास्रविणश्चेति।''[1]

अर्थ - आर्यों में रस ऋद्धि जिनको प्रकट होती है, वे रस ऋद्धिप्राप्त आर्य छह प्रकार के होते हैं - 1. आस्यविष 2. दृष्टिविष 3. क्षीरस्रावी 4. मधुस्रावी 5. सर्पिस्रावी 6. अमृतस्रावी।

---

1. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र, 36, पृष्ठ-565

यतिवृषभ के अनुसार भी रस ऋद्धि छह प्रकार की है -

छब्भेया रस रिद्धी आसी-दिट्ठी विसा य दो तेसुं।
खीर-महु-अमिय-सप्पी सविओ चत्तारि होंति कमे।।[1]

अर्थ - आशीर्विष और दृष्टिविष ये दो तथा क्षीरस्रवी, मधुस्रवी, अमृतस्रवी, सर्पिस्रवी - ये चार क्रमश: रस ऋद्धि के छह भेद होते हैं। यतिवृषभ ने आशीर्विष व दृष्टिर्विष - इन दो रस ऋद्धियों को क्षीरस्रवी, मधुस्रवी, अमृतस्रवी व सर्पिस्रवी - इन चार रस ऋद्धियों से भिन्न-भिन्न कहा है। उसका अभिप्राय यह है कि इन रस ऋद्धियों में आशीविष और दृष्टिविष ये दो अशुभ रस ऋद्धियाँ हैं और क्षीरस्रवी, मधुस्रवी, अमृतस्रवी और सर्पिस्रवी-ये चार रस ऋद्धियाँ शुभ हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिन 64 ऋद्धियों की चर्चा हम कर रहे हैं, उनमें दृष्टिविष और आशीविष - ये दो ही ऐसी हैं, जो ऋद्धियाँ अशुभ ऋद्धियाँ हैं, शेष 62 ऋद्धियाँ शुभ हैं।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि अशुभ ऋद्धियों का प्रयोग मुनि की इच्छा होने पर ही होता है तथा शुभ ऋद्धियों का प्रयोग मुनि की इच्छा से अथवा बिना इच्छा से दोनों प्रकार से होता है।

षट्खण्डागमकार ने **णमो आसीविसाणं।।20।। णमो दिट्ठिविसाणं।।21।। णमो खीरसवीणं।।38।। णमो सप्पि-सवीणं।।39।। णमो महुसवीणं।।40।। णमो अमडसवीणं।।41।।**

इन छह सूत्रों के द्वारा छह रस ऋद्धियों का वर्णन किया है, अत: उनके मत में भी ऋद्धियाँ छह ही हैं।

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ में छह रस ऋद्धियाँ कहीं, उनके नाम निम्नप्रकार से हैं -

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1088, पृष्ठ-321

...आशीर्विषं विषा दृष्टिविषं विषाश्च।
क्षीरं स्रवन्तोऽप्यमृतं स्रवन्तो घृतं स्रवन्तोऽपि मधुस्रवन्तः।[1]

यहाँ उन स्वादपूर्ण श्रेष्ठ रसों की चर्चा है, जिनके द्वारा नीरस, विषाक्त आहार, क्षीर, मधु, घी और अमृत के रूप में बदलता है। साथ ही मुनि के वचन और दृष्टि को भी रस के अन्तर्गत माना है। वचन और दृष्टि शुभ हैं, तो उन्हें औषधि ऋद्धियों में शामिल किया है और अशुभ हो तो उन्हें रस ऋद्धि के अन्तर्गत माना है। वचन शुभ हो तो औषधि की तरह कार्य करते हैं और अशुभ हो तो विष की तरह कार्य करते हैं। अतः शुभ-वचन, शुभ दृष्टि को औषधि ऋद्धि में और अशुभ वचन, अशुभ दृष्टि को विष ऋद्धि में शामिल किया है। विष को रस की तरह जानकर रस ही स्वीकार किया है।

सभी आचार्य रसऋद्धियों की संख्या के विषय में एकमत हैं। सभी ने इनकी संख्या छह ही बताई है।

ये रस-ऋद्धियाँ लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, दानान्तराय, चारित्रमोहनीय के उत्कृष्ट क्षयोपशम एवं नामकर्म का विशिष्ट उदय, भाषावर्गणाओं के विशेष संयोग, बाह्य उत्कृष्ट तप और अंतरंग परिणामों की विशेष विशुद्धि से प्रकट होती हैं।

1. क्षीरस्रावी-रस-ऋद्धि

णमो खीरसवीणं।[2]

क्षीरस्रावी ऋद्धिप्राप्त ऋषियों को हमारा नमस्कार हो।

इस ऋद्धि के तीन नाम मिलते हैं - क्षीरस्रवी, क्षीरास्रवी, क्षीरस्रावी। तीनों का भाव एक ही है।

---

1. परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठ, श्लोक-9-10
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-38, पृष्ठ-99

यहाँ क्षीर का अर्थ दूध है। विष सहित पदार्थ को भी दूध के स्वाद तथा गुण के रूप में परिणमित कराने वाली शक्ति को क्षीरस्रावी-रस-ऋद्धि कहते हैं। अर्थात् जिस ऋद्धि के प्रभाव से हाथ का आहार हाथ का स्पर्श होते ही दूध के स्वाद तथा गुण के रूप में परिणमित होता है, उस ऋद्धि को क्षीरस्रावी ऋद्धि कहते हैं।

यही धवलाकार का कहना है -

''खीरं दुद्धं। सविसादो खीरस्स सवी खीरसवी। पाणि-पत्तणिवदिदासेसाहाराणं खीरसादुप्पायणसत्ती वि कारणे कज्जोवयारादो खीरसवी णाम।''[1]

अर्थ – क्षीर का अर्थ दूध है। विष सहित वस्तु से भी क्षीर को प्रवाहित करनेवाला क्षीरस्रावी कहलाता है। हाथरूपी पात्र में गिरे हुए सब आहारों को क्षीर के स्वरूप में उत्पन्न करनेवाली शक्ति भी कारण में कार्य के उपचार से क्षीरस्रावी कही जाती है।

धवलाकार ने इस ऋद्धि को मात्र आहार से संबंधित ही माना है, परन्तु तिलोयपण्णत्तीकार और राजवार्तिककार इसे आहार के साथ वचनों से भी जोड़ते हैं। उनके अनुसार क्षीरस्रावी या क्षीरास्रवी ऋद्धि वह है, जिससे हाथ में प्राप्त आहार दुग्ध परिणाम को प्राप्त होता है अथवा जिस शक्ति से मुनि के वचन भी दूध के समान जीवों को प्रिय लगते हैं।

आचार्य यतिवृषभ के अनुसार -

करयल-णिक्खित्ताणिं रूक्खाहारादियाणि तक्कालं।
पावंति खीरभावं जीए खीरोसवी रिद्धी।।

अहवा दुक्खापहुदी जीए मुणि-वयण-सवण-मेत्तेण।
पसमदि णर-तिरियाणं स च्चिय खीरासवी रिद्धी।।[2]

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-38, पृष्ठ-99-100
2. तिलोयपण्णत्ती, गाथा 1091-1092, पृष्ठ-322

अर्थ – जिससे हस्त-तल पर रखे हुए रूखे आहारादिक तत्काल ही दुग्धपरिणाम को प्राप्त हो जाते हैं, वह क्षीरस्रावी ऋद्धि है। अथवा जिस ऋद्धि से मुनि के वचनों के श्रवण मात्र से ही मनुष्य, तिर्यंचों के दु:खादिक शांत हो जाते हैं, उसे क्षीरास्रवी ऋद्धि समझना चाहिए।

इस ऋद्धि का इसी तरह का भाव आचार्य अकलंक के शब्दों में व्यक्त हो रहा है –

''विरसमप्यशनं येषां पाणिपुटनिक्षिप्तं क्षीररसगुणपरिणामि जायते, येषां वा वचनानि क्षीरवत्क्षीणानां सन्तकर्पकाणि भवन्ति ते क्षीरास्रविण:।''[1]

अर्थ – जिनके हाथ में पड़ते ही नीरस अन्न भी क्षीर के समान सुस्वादु हो जाता है अथवा जिनके वचन शरीर के समान सबको संतुष्ट करानेवाले मीठे लगते हैं, वे क्षीरास्रवी हैं। इस ऋद्धि से हाथ में प्राप्त चाहे जैसा अन्न हो, वह दूध के गुण रूप तथा दूध के स्वाद के रूप में परिणमित होता है।

अथवा इस ऋद्धि से जैसे दूध मीठा होता है, वैसे मुनि के वचन मीठे लगते हैं, सबको अच्छे लगते हैं। वे वचन इतने मीठे होते हैं कि उनके सुनने मात्र से ही मनुष्य और तिर्यंचों के दुखादिक नष्ट होते हैं। मुनियों की इसप्रकार की शक्ति को क्षीरस्रवी ऋद्धि कहते हैं। रस से संबंधित होने से यह रसऋद्धि कहलाती है।

श्रुतसागर सूरि का आशय भी यही है –

येषां पाणिपात्रगतं भोजनं नीरसमपि क्षीरपरिणामि भवति, वचनानि वा क्षीरवत् क्षीरसन्तर्पकाणि भवन्ति, ते क्षीरस्रवाणि उद्यन्ते।[2]

---

1. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-566
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-315

अर्थ – जिनके हाथरूपी पात्र में प्राप्त भोजन चाहे नीरस हो तो भी क्षीर के रूप में परिणमित होता है अथवा जिनके वचन क्षीर के समान संतोषप्रद होते हैं, वे क्षीरस्रावी ऋद्धिधर कहलाते हैं।

यह ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, दानान्तराय और चारित्रमोहनीय के उत्कृष्ट क्षयोपशम एवं नामकर्म के विशिष्ट उदय और अंतरंग परिणामों की विशुद्धि से प्रकट होती है।

2. घृतस्रावी–रस–ऋद्धि

णमो सप्पिसवीणं।।[1]

सर्पिस्रावी ऋद्धिधारी ऋषियों को हमारा नमस्कार हो।

सर्पिष् शब्द का अर्थ घी है। इस ऋद्धि के सर्पिस्रवी, सर्पिस्रावी, घृतस्रवी, घृतस्रावी, घृतास्रवी आदि अनेक नाम हैं।

जिस शक्ति से हाथ में प्राप्त नीरस आहार घी के समान स्वाद वाला, बलवर्धक हो जाये अथवा मुनि के वचन घी के समान मधुर तथा शक्तिदायक हो, तृप्ति करनेवाले हो, उसे सर्पिस्रावी या घृतस्रावी ऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धि के धारक को भी सर्पिस्रावी या घृतस्रावी कहते हैं।

धवलाकार के अनुसार सर्पिस्रावी का स्वरूप –

''सर्पिर्घृतं। जेसिं तवोमाहप्पेण अंजलिउडणिवदिदासेसाहारा घदासादसरूवेण परिणमंति ते सप्पिसविणा जिणा।''[2]

अर्थ – सर्पिष् शब्द का अर्थ घृत है। जिनके तप के प्रभाव से अंजलिपुट में गिरे हुए सब आहार घृतस्वरूप से परिणमते हैं, वे सर्पिस्रावी जिन हैं अर्थात् उनको सर्पिस्रावी ऋद्धिधारक ऋषि कहते हैं।

तिलोयपण्णत्तीकार का भी यही आशय जान पड़ता है –

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-39, पृष्ठ-100
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-39, पृष्ठ-100

रिसि पाणितल-णिहत्तं रूक्खाहारादियं पि खण-मेत्ते।
पावेदि सप्पिरूवं जीए सा साप्पियासवी रिद्धी।।[1]

अर्थ – जिस ऋद्धि से ऋषि के हस्ततल में निक्षिप्त आहारादिक रूखे हो, तो भी क्षणमात्र में घृतरूपता को प्राप्त होते हैं, वह सर्पिस्रावी ऋद्धि है।

अहवा दुक्खप्पमुहं सवणेण मुणिंद दिव्व-वयणस्स।
उवसामदि जीवाणं जीए सा सप्पियासवी रिद्धी।।[2]

अर्थ – अथवा जिस ऋद्धि से मुनीन्द्र के दिव्य-वचनों को सुनने से ही जीवों के दुखादिक शांत हो जाते हैं, वह सर्पिस्रावी ऋद्धि है।

तिलोयपण्णत्तीकार की तरह का भाव राजवार्तिककार के शब्दों में भी है –

''येषां पाणिपात्रगतमन्नं रूक्षमपि सर्पीरसवीर्यविपाका-नाप्नोति, सर्पिरिव वा येषां भाषिताणि प्राणीनां सन्तर्पकानि भवन्ति, ते सर्पिरास्रविण:।''[3]

अर्थ – जिनके हाथ में प्राप्त अन्न, रूखा भी हो तो भी घी की तरह स्वाद, शक्ति, परिणाम को प्राप्त होता है अथवा जिनके वचन प्राणियों को संतुष्टि प्रदान करनेवाले होते हैं, वे सर्पि आस्रवी या घृतास्रवी ऋषि कहलाते हैं।

आचार्य श्रुतसागर के शब्दों में भी इस ऋद्धि का यही भाव अभिव्यक्त हुआ है –

येषां पाणिपात्रगतमन्नं रूक्षमपि घृतरसपरिणामि भवति वचनानि वा श्रोतृणां घृतपानस्वादं जनयन्ति ते सर्पिरास्रविण:।[4]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1097, पृष्ठ-323
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1098, पृष्ठ-324
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-566
4. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-316

इस ऋद्धि का आशय यह है कि जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के हाथ का नीरस आहार भी घी की तरह सरस, शक्तिवाला हो जाता है अथवा जिनके मुख से निकले हुए वचन जीवों को सरस लगते हैं, शक्ति प्रदान करते हैं, उस ऋद्धि को घृतस्रावी ऋद्धि कहते हैं। रस से संबंधित होने से यह रस-ऋद्धि है।

यह ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, दानान्तराय और चारित्रमोहनीय के उत्कृष्ट क्षयोपशम एवं नामकर्म के विशिष्ट उदय और अंतरंग परिणामों की विशुद्धि से प्रकट होती है।

3. मधुस्रावी-रस-ऋद्धि

णमो महुसवीणं।।[1]

मधुस्रावी ऋद्धिधारी ऋषियों को हमारा नमस्कार हो।

धवलाकार के अनुसार यहाँ मधु शब्द से गुड़, खांड़, शर्करा आदि मधुर स्वादवाले पदार्थ ग्रहण करना है -

''महुवयणेण गुड-खंड-सक्करादीणं गहणं, महुरसादं पडि एदासिं साहम्मुवलंभादो।''[2]

अर्थ - मधु शब्द से गुड़, खांड़, शक्कर आदि का ग्रहण किया है, क्योंकि मधुर स्वाद के प्रति इनकी समानता पायी जाती है।

मधुस्रावी ऋषि का स्वरूप वीरसेन के अनुसार इसप्रकार है -

''हत्थक्खित्तासेसाहाराणं महु-गुड-खंड-सक्करासादस-रूवेण परिणमणक्खमा महुसविणो जिणा।''[3]

अर्थ - जिस ऋषि के हाथ में प्राप्त सभी प्रकार के आहार

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-40, पृष्ठ-100
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-40, पृष्ठ-101
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-40, पृष्ठ-101

मधु, गुड़, खांड़, शक्कर आदि के समान मीठे स्वादवाले हो जाते हैं, उस ऋषि को मधुस्रावी ऋद्धिधारी ऋषि कहते हैं। उन ऋषियों की उस प्रकार की शक्ति को मधुस्रावी रस ऋद्धि कहते हैं।

तिलोयपण्णत्तीकार और राजवार्तिककार दोनों की प्ररूपणा समान हैं, दोनों ही आहार के साथ वचनों को जोड़ते हैं -

मुणिकर णिक्खित्ताणि, रूक्खाहारादियाणि होंति खणे।
जीए महुर-रसाइं, सच्चिय महुयासवी रिद्धी।।

अहवा दुक्खपहुदी जीए, मुणि-वयण-सवण-मेत्तेणं।
णासदि णर-तिरियाणं, स च्चिय महुयासवी रिद्धी।।[1]

अर्थ - जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के हाथ में प्राप्त रूखे आहार आदि क्षणभर में ही मधुर रस से युक्त हो जाते हैं, वह मधुस्रावी-रस-ऋद्धि है।

अथवा जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के वचनों को सुनने मात्र से मनुष्य और तिर्यंचों के दुख, संताप आदि नष्ट हो जाते हैं, वह मधुस्रावी-रस-ऋद्धि है।

''येषां पाणिपुटपतिताहारो नीरसोऽपि मधुरसवीर्यपरिणामो भवति, येषां वचांसि श्रोतॄणां दु:खार्दितानामपि मधुगुणं पुष्णंति ते मध्वास्रविण:।''[2]

अर्थ - जिनके हाथ में आया हुआ नीरस आहार भी मीठे रस, मीठी शक्ति, मीठे परिणामवाला हो जाता है। अथवा जिनके वचन सुनने मात्र से दुखी श्रोता मधुर गुण से पुष्ट जाते हैं, वे मधुआस्रवी रस-ऋद्धिधारी ऋषि कहलाते हैं।

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1093-1094, पृष्ठ-323
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-566

आचार्य श्रुतसागर भी यही कह रहे हैं –

"येषां पाणिपात्रगतमशनं नीरसमपि मधुरसपरिणामि भवति, वचनानि वा श्रोतॄणां मधुस्वादं जनयन्ति ते मध्वास्राविणः प्रोच्यन्ते।"[1]

अर्थ – जिनके पाणिपात्र में प्राप्त आहार नीरस भी हो तो भी मधुरस के परिणाम वाला हो जाता है अथवा जिनके वचन भी श्रोताओं को मधु के स्वादवाले होते हैं, वे ऋषि मधुआस्रवी कहलाते हैं।

इस रस-ऋद्धि का आशय यह है कि जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के हाथ का नीरस आहार भी मधुर स्वाद तथा शक्तिवाला हो जाता है, अथवा जिनके वचन जीवों को मीठे तथा मीठे पदार्थों के समान पोषक गुणवाले हो जाते हैं, उसे मधुस्रावी रस ऋद्धि कहते हैं। (मधु) रस से संबंधित होने से इस ऋद्धि को रसऋद्धि कहा है।

यह रस ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, दानान्तराय और चारित्रमोहनीय कर्मप्रकृतियों के क्षयोपशम तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

4. अमृतस्रावी-रस-ऋद्धि

णमो अमडसवीणं।।[2]

अमृतस्रावी ऋद्धिधारी ऋषियों को हमारा नमस्कार हो।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के हाथ में प्राप्त आहार अमृत के स्वाद तथा गुण को प्राप्त होता है, उस ऋद्धि को अमृतस्रावी रस ऋद्धि कहते हैं।

धवलाकार के अनुसार अमृतस्रावी रस ऋद्धिधारी का स्वरूप इसप्रकार है –

---

1. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-6, सूत्र-36, पृष्ठ-316
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-41, पृष्ठ-101

''जेसि हत्थं पत्ताहारो अमडसादसरूवेण परिणमइ ते अमडसविणो जिणा। एत्थवड्ढिया संतो जे देवाहारभोजिणो तेसिमिमडसवीणं णमो इत्ति उत्तं होदि।''[1]

अर्थ - जिनके हाथ में प्राप्त आहार अमृत के रूप में परिणमित होता है, वे अमृतस्रावी जिन कहलाते हैं, यहाँ मनुष्य लोक में अवस्थित रहते हुए जो देवाहार (देवताओं के समान अमृत के आहार) को ग्रहण करनेवाले हैं, उन अमृतस्रावी जिनों को हमारा नमस्कार हो।

आचार्य वीरसेन के अनुसार इस ऋद्धि के कारण मुनि देवाहारभोजी होते हैं। देवताओं का आहार दिव्य होता है। उनके कण्ठ से अमृत झरता है। जितने सागर की उनकी आयु होती है, उतने हजार वर्ष बाद उनके कण्ठ से अमृत झरता है। अमृतस्रावी मुनि के हाथ में प्राप्त आहार भी अमृतस्रवी ऋद्धि के कारण से अमृत के गुण और स्वाद के रूप में बदलता है। इसलिए इस ऋद्धिधारी मुनि को देवाहारभोजी कहा है।

तिलोयपण्णत्तीकार आचार्य यतिवृषभ के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है -

मुणिपाणि-संठियाणि, रूक्खाहारादियाणि जीअ खणे।
पावंति अमिय-भावं, एसा अमियासवी रिद्धी।।

अहवा दुक्खादीणि महेसि वयणस्स सवण कालम्मि।
णासंति जीए सिग्घं, सा रिद्धी अमिय-आसवी णामा।।[2]

अर्थ - जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनियों के हाथ में प्राप्त रूखे आहार आदि क्षणमात्र में अमृतपने को प्राप्त होते हैं, वह अमृतास्रवी-रस-ऋद्धि है। अथवा जिस ऋद्धि के प्रभाव से ऋषि के वचन सुनने मात्र से तत्काल ही जीवों के दुख-दर्द नष्ट हो जाते हैं, वह अमृतस्रावी-रसऋद्धि है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-41, पृष्ठ-101
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1095-1096, पृष्ठ-323

आचार्य अकलंक भी यही कह रहे हैं –

''येषां पाणिपुटप्राप्तं भोजनं यत्किञ्चिदमृततामास्कन्दति, येषां वा व्यवहृतानि प्राणिनाममृतवदनुग्राहकाणि भवन्ति तेऽमृता-स्रविणः।''[1]

अर्थ – जिनके हाथ में प्राप्त चाहे जैसा भोजन हो अमृतस्वरूपता को प्राप्त होता है अथवा जिनके वचन प्राणियों को अमृत के गुण को प्राप्त कराते हैं, वे अमृत-आस्रवी-रस-ऋद्धिधारी ऋषि कहलाते हैं।

आचार्य श्रुतसागर सूरि के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार है –

येषां पाणिपात्रगतमन्नं वचनञ्चामृतवद्भवति ते अमृत-स्राविणः।[2]

अर्थ – जिनके पाणिपात्र में प्राप्त अन्न अथवा जिनके वचन (श्रोताओं को) अमृत के समान गुण उत्पन्न करते हैं, वे अमृतस्रावी ऋषि कहलाते हैं।

इस रस-ऋद्धि का आशय यह है कि जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के हाथ में सरस नीरस चाहे-जैसा आहार हो, वह अमृतगुण को प्राप्त होता है अथवा मुनि के वचन अमृतगुण को प्राप्त होकर जीवों के दुखों को नष्ट कर जीवों को अमृत प्रदान करनेवाले होते हैं, वह अमृतस्रावी-रस-ऋद्धि कहलाती है। रस से संबंधित होने से इसे रस-ऋद्धि कहा है।

यह ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, दानान्तराय और चारित्रमोहनीय के उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

---

1. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-566
2. तात्पर्यवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-316

5. आस्यविष-रस-ऋद्धि

णमो आसीविसाणं।।[1]

आशीर्विष ऋद्धिधारी मुनियों को हमारा नमस्कार हो।

इस ऋद्धि के आशीर्विष, आशीविष, आस्यविष आदि नाम हैं।

यह अशुभ ऋद्धि है। इस ऋद्धि का मुनि प्रयोग नहीं करते, प्रयोग करें तो उनका स्वयं का जिनत्व नष्ट होता है।

''मर जाओ'' - इतना कहते ही जिन मुनियों के वचनों से वह जीव मर जाता है। ऐसी शक्ति आशीर्विष, आस्यविष या आशीविष ऋद्धि है - ऐसा आचार्य यतिवृषभ और आचार्य अकलंक कहते हैं। धवलाकार और विशेष भी कहते हैं कि ''भिक्षा (भीख) के लिए भ्रमण करो'' या ''सिर कट जाये'' इसप्रकार के वचन कहते ही वह जीव भिक्षा (भीख) माँगता रहे, भिक्षा न मिले या उसका सिर कट जाये, इत्यादि प्रकार के अशुभ कार्य जिससे होते हैं, वह आशीर्विष ऋद्धि है।

वीरसेन आचार्य का कथन निम्न प्रकार से है -

''जेसिं जं पडि मरिहि त्ति वयणं णिप्पडिदं तं मारेदि, भिक्खं भमेत्ति वयणं भिक्खं भमावेदि, सीसं छिज्जउ त्ति वयणं सीसं छिंददि, ते आसीविसा णाम समणा।''[2]

अर्थ - जिनका ''मर जाओ'' इसप्रकार का वचन जिसके लिए निकलता है, वह वचन उसके मरने में निमित्त होता है, ''भिक्षा के लिए भ्रमण करो'' ऐसा वचन भिक्षा के लिए भ्रमण करने में निमित्त होता है, ''सिर कट जाये'' ऐसा वचन सिर के कटने में निमित्त होता है, वे आशीर्विष नाम के श्रमण होते हैं।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, सूत्र-20, पृष्ठ-85
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पृष्ठ-85

इसी सूत्र से धवलाकार ने आशीर्विष और आशीअमृत दोनों ऋद्धियों का ग्रहण किया है। इसलिए मुनियों के वचन विष तथा अमृत जैसे दोनों कार्य करने में निमित्त होते हैं, वचन विष के समान कार्य करने में निमित्त हों, तब उसप्रकार की शक्ति को आशीर्विष रस ऋद्धि कहते हैं तथा वचन अमृत के समान कार्य करने में निमित्त हों, तब उसप्रकार की शक्ति को धवलाकार ने आशी:अमृत-औषध-ऋद्धि कहा है।

तिलोयपण्णत्तीकार के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इस प्रकार कहा है-

मर इदि भणिदे जीवो मरेइ सहस त्ति जीए सत्तीए।
दुक्कर-तव-जुद-मुणिणा, आसीविस णाम रिद्धी सा।।[1]

अर्थ - जिस ऋद्धि के प्रभाव से दुष्कर तप युक्त मुनि के द्वारा ''मर जाओ'' इसप्रकार कहने पर जीव सहसा मर जाता है, वह आशीर्विष नामक रस-ऋद्धि है।

राजवार्तिककार अकलंक के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है -

''प्रकृष्टतपोबला यतयो यं ब्रुवते म्रियस्वेति स तत्क्षण एव महाविषपरीतो म्रियते, तेऽऽस्यविषा:।''[2]

अर्थ - जिस प्रकृष्ट तपस्वी यति के द्वारा ''मर जाओ'' - इस प्रकार कहते ही वह व्यक्ति उसी क्षण महाविष से व्याप्त होकर मर जाता है, वे प्रकृष्ट तपस्वी यति आस्यविष रस ऋद्धिधारी ऋषि कहलाते हैं।

यह ऋद्धि वचन से संबंधित है। ऋद्धिधारी मुनि के वचन से कोई मर जाता है। तब धवलाकार के शिष्य के मन में एक शंका हुई -

''कधं वयणस्स विससण्णा?''[3]

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1089, पृष्ठ-322
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-565
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-85

अर्थ – शंका – वचन के विष संज्ञा कैसे हैं?

उसका **समाधान– "विसमिव विसमिदि उवयारादो।"**[1]

अर्थ – विष के समान विष है, इस प्रकार उपचार से वचन को विषसंज्ञा प्राप्त है।

मुनि के वचन विष के समान कार्य करते हैं। विष, रस है; अतः इसे रस-ऋद्धि कहा है।

श्रुतसागर सूरि के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है –

तपोबला मुनयो यमक्षिगतं प्राणिनं मियस्वेति वदन्ति सोऽक्षिगतः प्राणी तत्क्षणादेव महाविषपरीतो म्रियते एवंविधं सामर्थ्यं येषां ते आस्यविषाः वाग्विषा अपरनामानः कथ्यन्ते।[2]

अर्थ – तपोबली मुनि दृष्टिगत प्राणी को "मर जाओ" इतना कहते ही वह दृष्टिगत प्राणी तत्काल ही महाविष से ग्रस्त होकर मरता है। इसप्रकार की सामर्थ्य जिनके वचनों में पायी जाती है, वे आस्यविष या वाग्विष नामवाले कहे जाते हैं।

यह अशुभ रस-ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, चारित्रमोहनीय के उत्कृष्ट क्षयोपशम, नामकर्म के विशिष्ट उदय तथा भाषावर्गणा के विशेष संयोग से प्रकट होती है।

6. दृष्टिविष-रस-ऋद्धि

णमो दिट्ठिविसाणं।।[3]

दृष्टिविष-रस-ऋद्धिधारी मुनियों को हमारा नमस्कार हो।

धवलाकार के अनुसार यहाँ दृष्टि शब्द से चक्षु और मन का

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-85
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-315
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-1, सूत्र-21, पृष्ठ-86

ग्रहण है, क्योंकि दोनों अर्थों में दृष्टि शब्द का प्रयोग देखा जाता है, तथा उसकी सहचरता से क्रिया का भी ग्रहण है –

''दृष्टिरिति चक्षुमनसोर्ग्रहणं, तत्रोभयत्र दृष्टिशब्दप्रवृत्ति-दर्शनात्। तत्साहचर्यात्कर्मणोऽपि।''[1]

अर्थ – दृष्टि शब्द से चक्षु और मन का ग्रहण करें, क्योंकि उन दोनों ही अर्थों में दृष्टि शब्द की प्रवृत्ति होने से, उसके साहचर्य से कार्यों का भी ग्रहण करें।

इस ऋद्धि का स्वरूप धवलाकार के शब्दों में इसप्रकार है –

''रूट्ठो जदि जोएदि चिंतेदि किरियं करेदि वा 'मारेमि' त्ति तो मारेदि, अण्णंपि असुहकम्मं संरंभपुव्वावलोयणेण कुणमाणो दिट्ठिविसो णाम।''[2]

अर्थ – ऋद्धिधारी मुनि रुष्ट होकर यदि 'मारता हूँ' – इसप्रकार (भाव रखकर) देखता है, सोचता है व क्रिया करता है, तो जिसे ऐसा सोचकर देखा, देखकर सोचा या देखने-सोचने की क्रिया की, वह तत्काल मर जाता है तथा इसीप्रकार रुष्ट होकर देखने, सोचने से अन्य भी अशुभ कार्य की शक्ति को धारण करनेवाले दृष्टिविष-ऋद्धिधारी ऋषि कहलाते हैं।

तिलोयपण्णत्तीकार इस ऋद्धि का स्वरूप इसीप्रकार बताते हैं –

जीए जीओ दिट्ठो महेसिणो रोस-भरिय-हिदएण।
अहिदट्ठो व मरज्जदि दिट्ठिविसा णाम सा रिद्धी।।[3]

अर्थ – जिस ऋद्धि के प्रभाव से रोष युक्त हृदयवाले महर्षि द्वारा देखा गया जीव सर्प द्वारा काटे गए के सदृश मर जाता है, वह दृष्टिविष नामक ऋद्धि है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-1, सूत्र-21, पृष्ठ-86
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-1, सूत्र-21, पृष्ठ-86
3. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1090, पृष्ठ-322

आचार्य अकलंक और सरल भाषा में कहते हैं –

''उत्कृष्टतपसो यतयः क्रुद्धा यमीक्षन्ते स तदैवोग्रविषपरीतो म्रियते ते दृष्टिविषाः।''[1]

अर्थ – जिन उत्कृष्ट तपस्वी ऋषियों के द्वारा क्रुद्ध होकर जिस जीव को देखते हैं, वह जीव तभी उग्र विष से व्याप्त होकर मर जाता है, वे ऋषि दृष्टिविष-रस-ऋद्धिधारी कहलाते हैं।

धवलाकार के अनुसार दृष्टिविष-ऋद्धि की तरह दृष्टिअमृत ऋद्धि का स्वरूप जानना। अन्तर इतना कि दृष्टिविष-ऋद्धि के प्रभाव से जीव मर जाता है तथा दृष्टिअमृत ऋद्धि के प्रभाव से मरणासन्न जीव भी जीवित, तरोताजा हो जाता है। रसरूप होने से इसे रस-ऋद्धि कहा है।

श्रुतसागर सूरि के अनुसार इस ऋद्धि का स्वरूप इसप्रकार है –

तपोबला मुनयः क्रुद्धाः सन्तो यमक्षिगतमीक्षन्ते स पुमान् तत्क्षणादेव तीव्ररसपरितः पञ्चत्वं प्राप्नोति एवंविधं सामर्थ्यं येषां ते दृष्टिविषा इत्युच्यन्ते।''[2]

अर्थ – जो तपोबली मुनि क्रोधित होकर जिसे देखते हैं, वह पुरुष उसी क्षण ही तीव्र विष से व्याप्त होकर मरण को प्राप्त होता है, ऐसी सामर्थ्यवाले ऋषि दृष्टिविष शक्तिवाले कहलाते हैं।

रस-ऋद्धियाँ तपोबली मुनियों को मुख्यपने दानान्तराय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती हैं। दृष्टिविष, आस्यविष – ये दो अशुभ ऋद्धियाँ मुनियों के पास शक्ति के रूप में रहती हैं। कदाचित् ही किसी मुनि के द्वारा इनका प्रयोग हो सकता है। क्षीरस्रावी, घृतस्रावी, मधुस्रावी एवं अमृतस्रावी – ये चार रस ऋद्धियाँ शुभ-ऋद्धियाँ हैं। मुनि की इच्छा हो अथवा इच्छा न हो तो भी इन शुभ ऋद्धियों का प्रयोग होता है।

यह ऋद्धि लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, दानान्तराय और चारित्रमोहनीय के उत्कृष्ट क्षयोपशम एवं नामकर्म के विशिष्ट उदय से प्रकट होती है।

1. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-565-566
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-315

प्रश्न – यहाँ अशुभ के रूप में देखना, सोचना एवं कार्य करना लिखा है। इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या मुनि अशुभ कार्य करते हैं?

उत्तर – यहाँ अशुभ कार्य, अशुभ सोचना एवं अशुभ के रूप में देखना बताया है, परंतु मुनि ऐसे कार्य नहीं करते हैं, मुनि-अवस्था में ऐसे कार्य नहीं होते हैं। अशुभ कार्य तो दूर अशुभ-विचार आते ही मुनि गुणस्थान से गिर जाते हैं अर्थात् मुनि, मुनि नहीं रहते, उनका जिनत्व नष्ट हो जाता है। **जिनत्व नष्ट होने पर मुनि न तो पूजनीय होते हैं, न नमस्कार-योग्य होते हैं।** इसलिए मुनि अशुभ कार्य नहीं करते, अशुभरूप से देखते नहीं, अशुभ सोचते नहीं। उनके इसप्रकार की शक्ति पायी जाती है – इस ऋद्धि का मात्र इतना-सा ही अर्थ है। मुनि इस शक्ति का प्रयोग नहीं करते, शक्ति के प्रयोग का विकल्प भी नहीं आता है।

इसप्रकार से रस-ऋद्धियों का वर्णन पूर्ण हुआ।

*****

रस-ऋद्धियों का सारांश

* रस-ऋद्धियाँ भोजन, दृष्टि और वचन से संबंधित हैं।

* ये संख्या में छह हैं – क्षीरस्रावी, घृतस्रावी, मधुस्रावी, अमृतस्रावी – ये चार रस-ऋद्धियाँ भोजन से संबंधित हैं। ये चारों शुभ प्रकृति की ऋद्धियाँ हैं।

* दृष्टि से संबंधित ऋद्धियाँ दो प्रकार की हैं – 1. दृष्टि-अमृत 2. दृष्टि-विष।

* दृष्टि-अमृत ऋद्धि शुभ प्रकृति की है। यह औषध-ऋद्धि है।

* दृष्टि-विष ऋद्धि अशुभ प्रकृति की है। यह रस-ऋद्धि है।

* इसप्रकार से दृष्टि-रस-ऋद्धि शुभ-अशुभ दो प्रकार की है। इनमें एक औषध-ऋद्धि है तो दूसरी रस-ऋद्धि है।

* वचन से संबंधित ऋद्धि भी दो प्रकार की है – 1. वचन-अमृत 2. वचन-विष।

* वचन-अमृत-ऋद्धि शुभ प्रकृति की है। यह औषध-ऋद्धि है। वचन-विष-ऋद्धि अशुभ प्रकृति की है। यह रस-ऋद्धि है।

इसप्रकार से वचन-रस-ऋद्धि शुभ-अशुभ दो प्रकार की है। इनमें एक औषध-ऋद्धि है तो दूसरी रस-ऋद्धि है।

अध्याय–9

8. अक्षीण–ऋद्धियाँ

अब क्रमप्राप्त अक्षीण (क्षेत्र) ऋद्धियों का वर्णन करते हैं –

अब उन ऋद्धियों की चर्चा करते हैं, जिन ऋद्धियों में आहार और आवास अक्षीण, अखूट होते हैं। तीन लोक के जीव उस आहार में से भोजन करते रहें तो भी जो आहार न कम हो, न समाप्त हो, वह आहार अक्षीण आहार होता है। तथा जिस छोटे–से आवास में तीन लोक जीव आकर ठहर जायें तो भी जो आवास न कम पड़े, न ही एक–दूसरे की एक–दूसरे से परेशानी हो, उस आवास को अक्षीण आवास कहते हैं। ये दो तभी संभव हैं, जब मुनिवर अक्षीण ऋद्धियाँ प्राप्त हो। इन्हीं दो ऋद्धियों की चर्चा इस अध्याय में करते हैं –

णमो अक्खीणमहाणसाणं।।[1]

अक्षीण महानस और अक्षीण वसति जिनों को हमारा नमस्कार हो।

क्षीण अथवा समाप्त न होने को अक्षीण कहते हैं। जैसे आहार का क्षीण न होना ही अक्षीणत्व है, आहार न कम होता है, न समाप्त होता है। कम ही नहीं होता है तो समाप्त कहाँ से हो?

इसीप्रकार सबको स्थान मिले, स्थान की कमी न पड़े, उसे अक्षीण वसति कहते हैं। आहार के समान स्थान के बारे में जानना। स्थान की कमी न होना अक्षीण है वसति या अक्षीण महालयत्व है।

धवलाकार आचार्य वीरसेन ने **''णमो अक्खीणमहाणसाणं''** सूत्र में अक्षीण महानस और अक्षीण महालय दोनों ऋद्धियों का वर्णन

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड–4, भाग–1, पुस्तक–9, सूत्र–42, पृष्ठ–101

किया है। उनके अनुसार महानस शब्द देशामर्शक है। देशामर्शक होने से महानस शब्द से महानस (रसोई) और आलय (क्षेत्र, स्थान, वसति, वास, आवास) का ग्रहण होता है। इसलिए धवलाकार के अनुसार अक्षीण ऋद्धि के दो भेद हैं।

''एत्थ अक्खीण महाणससद्दो जेण देसामासओ तेण वसहि अक्खीणाणं पि गहणं।''[1]

अर्थ – यह अक्षीण महानस शब्द चूँकि देशामर्शक है, इसलिए उससे अक्षीण महालय अर्थ भी ग्रहण करना। अक्षीण ऋद्धि दो प्रकार की जानना। अर्थात् अक्षीण ऋद्धि के दो भेद हैं – 1. अक्षीण महानस और 2. अक्षीण वसति।

महानस का अर्थ रसोई, भोजन, आहार है। वसति का अर्थ निवास, संवास, स्थान, क्षेत्र, जगह है।

परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठकार के अनुसार इस ऋद्धि का नाम अक्षीण है और इसके दो भेद हैं।

अक्षीणसंवासमहानसाश्च।[2]

यतिवृषभ आचार्य ने इसी अक्षीण ऋद्धि को क्षेत्रऋद्धि कहा है और इसके दो भेद ही बताये हैं –

तिहुवण-विम्हय-जणणा, दो भेदा होंति खेत्त रिद्धीए।
अक्खीण महाणसिया अक्खीण महालया च णामेण।।[3]

अर्थ – तीनों लोकों को विस्मित, आश्चर्यचकित कर देनेवाली क्षेत्रऋद्धि दो प्रकार की है – अक्षीण महानसिक और अक्षीण महालय।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-42, पृष्ठ-101
2. परमर्षि स्वस्ति मंगलपाठ, श्लोक 9
3. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1099, पृष्ठ-324

अकलंक आचार्य ने भी इसे क्षेत्र ऋद्धि कहा और इसके दो भेद बताये हैं –

'क्षेत्रर्द्धिप्राप्तार्या द्वेधा – अक्षीणमहानसा अक्षीणमहा-लयाश्चेति।[1]

अर्थ – क्षेत्रऋद्धि प्राप्त आर्य दो प्रकार के हैं – अक्षीण महानस और अक्षीण महालय।

अर्थात् वीरसेनाचार्य परमर्षि स्वस्ति मंगल पाठकार के अनुसार इस आठवीं ऋद्धि का नाम अक्षीण ऋद्धि है तथा अकलंक, यतिवृषभ, श्रुतसागर के अनुसार इसका नाम क्षेत्र ऋद्धि है। अक्षीण या क्षेत्र ऋद्धि के सभी ने दो ही भेद बताये हैं – महानस और महालय।

आचार्य यतिवृषभ, श्रुतसागर सूरि और आचार्य अकलंक के अनुसार इस ऋद्धि का नाम क्षेत्र ऋद्धि कहकर इसके दो भेद बताते हैं –

''क्षेत्रर्द्धिर्द्विप्रकारा अक्षीणमहानसर्द्धिः अक्षीणालयर्द्धिश्च।[2]**''**

अर्थ – क्षेत्र ऋद्धि दो प्रकार की है – अक्षीण महानस ऋद्धि और अक्षीण आलय ऋद्धि।

1. अक्षीण-महानस-ऋद्धि

णमो अक्खीणमहाणसाणं।।[3]

अक्षीण महानस और अक्षीण वसति जिनों को हमारा नमस्कार हो।

अक्षीण या अक्षय दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। महानस का अर्थ रसोई अर्थात् भोजन है। जिस रसोई में से ऋद्धिधारी मुनि के आहार

---

1. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-566
2. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-316
3. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-42, पृष्ठ-101

करने के बाद अवशिष्ट आहार अक्षय या अक्षीण हो जाता है, उस अवशिष्ट आहार को चक्रवर्ती सेना के द्वारा ग्रहण करने पर भी वह समाप्त न हो, जिस शक्ति से यह होता है, उस शक्ति को अक्षीण या अक्षय महानस- ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि के सम्बन्ध में धवलाकार के शब्द इसप्रकार हैं -

''कूरो घियं तिम्मणं वा जस्स परिविसदूण पच्छा चक्क-वट्टि-खंधावारो भुंजाविज्जमाणे वि ण णिट्ठादि सो अक्खीण-महाणसो णाम।''[1]

अर्थ - जिनको भात, घृत या भिगोया हुआ अन्न परोस देने के बाद चक्रवर्ती की सेना को भोजन कराने पर भी भात आदि आहार समाप्त नहीं होता है, वे अक्षीण महानस ऋद्धिधारक ऋषि कहलाते हैं।

आचार्य यतिवृषभ यह ऋद्धि लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होती है - ऐसी प्ररूपणा के साथ इस ऋद्धि का स्वरूप कहते हैं -

लाहंतराय-कम्मक्खवोवसम-संजुदाए जीअ फुडं।
मुणि-भुत्त सेसमण्णं, थालिय-मज्झम्मि एक्कं वि।।
तद्दिवसे खज्जत्तं, खंधावारेण चक्कवट्टिटस्स।
झिज्झइ ण लवेण वि सा, अक्खीण-महाणसा रिद्धी।।[2]

अर्थ - लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम संयुक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के आहार के बाद थाली के मध्य बची हुई भोज्य सामग्री में से एक भी वस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक (सेना) भी खावे तो भी लेशमात्र क्षीण नहीं होती है, वह अक्षीण महानसिक ऋद्धि है।

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, सूत्र-42, पृष्ठ-101-102
2. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1100-1101, पृष्ठ-324

इस ऋद्धि का हू-ब-हू यह स्वरूप आचार्य अकलंक के शब्दों में व्यक्त हुआ है -

लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते, ततो भाजनाच्चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुञ्जीत तद्दिवसे नान्नं क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः।''[1]

अर्थ – लाभान्तराय कर्म के उत्कृष्ट क्षयोपशमवाले यतियों को जिस (पात्र में) से आहार दिया जाता है, उस पात्र के आहार से उस दिन चक्रवर्ती की सेना भी भोजन करें तो वह आहार क्षीण न हो, वे यति अक्षीण-महानस-ऋद्धिधारी कहलाते हैं।

''तत्राक्षीणमहानसर्द्धिः यस्मिन्नमत्रे अक्षीणमहानसैर्मुनि-भिर्भुक्तं तस्मिन्नमत्रे चक्रवर्तिपरिजनभोजनेऽपि तद्दिनेऽन्नं न क्षीयते ते मुनयः अक्षीण महानसाः कथ्यन्ते।''[2]

अर्थ – अक्षीण महानस ऋद्धि कहते हैं – जिस स्थान पर अक्षीण महानस मुनि के द्वारा आहार लिया जाता है, उस स्थान पर चक्रवर्ती के परिवार (सेना) के द्वारा आहार कर लेने पर भी उस दिन वह अन्न क्षीण नहीं होता है, वे मुनि अक्षीण महानस ऋद्धिधारी कहलाते हैं।

उनकी उसप्रकार की तप से उत्पन्न शक्ति को अक्षीण महानस ऋद्धि कहते हैं।

यह ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय, दानान्तराय चारित्रमोहनीय कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती है।

2. अक्षीण-महालय-ऋद्धि

जिस ऋद्धि के प्रभाव से चार हाथ प्रमाण गुफा में रहने पर

---

1. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-566
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-101

चक्रवर्ती का सैन्य तथा संसार के सभी मनुष्य, सभी देव तथा तिर्यंच भी उस गुफा में आ जायें तो बिना बाधा के रह सकते हैं। उस ऋद्धि को अक्षीण महालय, अक्षीण वसति, अक्षीण क्षेत्र, अक्षीण संवास ऋद्धि कहते हैं।

धवलाकार ने इस ऋद्धि का पृथक् से वर्णन नहीं किया है, परंतु अक्षीण-महानस ऋद्धि में ही शामिल करते हुए वर्णन किया है। उनके अनुसार - अक्षीण महानस शब्द देशामर्शक है, अतएव उससे वसति अक्षीण जिनों का भी ग्रहण होता है।

''एत्थ अक्खीणमहाणससद्दो जेण देसामासओ तेण वसहिअक्खीणाणं पि गहणं।''[1]

अर्थ - चूँकि यहाँ अक्षीण महानस शब्द देशामर्शक है, इसलिए उससे वसति अक्षीण जिनों का भी ग्रहण होता है।

उनके अनुसार अक्षीणवास ऋद्धिधारक का स्वरूप इसप्रकार है-

''जम्हि चउहत्थाए वि गुहाए अच्छिदे संते चक्कवट्टि-खंधावारं पि सा गुहा अवगाहदि सो अक्खीणवासो णाम।''[2]

अर्थ - जिसके चार हाथ प्रमाण गुफा में रहने पर चक्रवर्ती का सैन्य भी उस गुफा में रह सकता है, वह अक्षीण वास ऋद्धिधारक है।

यहाँ धवलाकार ने अक्षीण महालय ऋद्धि को अक्षीण वास ऋद्धि कहा है। अक्षीण महालय कहो या अक्षीण वास कहो, दोनों का अर्थ एक ही है।

धवलाकार ने मुनि की वसति चार हाथ प्रमाण बतायी, उसे आचार्य यतिवृषभ चार हाथ के स्थान पर चार धनुष प्रमाण क्षेत्र बताते हुए इस ऋद्धि के स्वरूप का निरूपण करते हैं -

---

1. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-102
2. षट्खण्डागम, खण्ड-4, भाग-1, पुस्तक-9, पृष्ठ-101

जीए चउ धणु-माणे, समचउरस्सालयम्मि णर-तिरिया।
मंति असंखेज्जा सा, अक्खीण-महालया रिद्धी।।[1]

अर्थ – जिस ऋद्धि के प्रभाव से चार धनुष प्रमाण समचतुष्कोण क्षेत्र में असंख्यात मनुष्य और तिर्यंच समा जाते हैं, वह अक्षीण महालय नाम की ऋद्धि है।

इसी प्रकार का इस ऋद्धि का स्वरूप आचार्य अकलंक के शब्दों में भी अभिव्यक्त हुआ है –

''अक्षीणमहालयलब्धिप्राप्ता यतयो यत्र वसन्ति देवमनुष्य-तैर्यग्योना आदि सर्वेऽपि तत्र निवसेयुः परस्परमबाधमानाः सुखमास्ते।''[2]

अर्थ – जिस ऋद्धि के प्रभाव से चार धनुष प्रमाण समचतुष्कोण क्षेत्र में असंख्यात मनुष्य और तिर्यंच आदि भी रहें तो वे सब परस्पर बाधा के बिना आराम से रहते हैं।

उनकी उसप्रकार की विशेषता को अक्षीण महालय ऋद्धि कहते हैं।

इस ऋद्धि का स्वरूप श्रुतसागर इसप्रकार से कहते हैं –

''अक्षीणमहालयास्तु मुनयो यस्मिन् चतुःशयेऽपि मन्दिरे निवसन्ति तस्मिन् मन्दिरे सर्वे देवाः सर्वे मनुष्याः सर्वे तिर्यंचोऽपि यदि निवसन्ति, तदाऽखिला अपि अन्योऽन्यं बाधारहितं सुखेन तिष्ठन्ति इति अक्षीणालयाः।''[3]

अर्थ – अक्षीण महालयों का स्वरूप कहते हैं – जो मुनि जिस किसी चार हाथ प्रमाण मन्दिर आदि स्थानों पर निवास करते हैं, उन चार

---

1. तिलोयपण्णत्ती, खण्ड-2, गाथा-1102, पृष्ठ-325
2. राजवार्तिक, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-566
3. तत्त्वार्थवृत्ति, अध्याय-3, सूत्र-36, पृष्ठ-316

हाथ प्रमाण मन्दिर आदि स्थान पर सभी देव, सभी मनुष्य और सभी तिर्यंच भी यदि रहते हैं तो वे सभी परस्पर बाधा के बिना आराम से रहते हैं, वे मुनि अक्षीण आलय ऋद्धिधारी कहलाते हैं, उनकी उसप्रकार की तपबल से उत्पन्न शक्ति को अक्षीण आलय ऋद्धि कहते हैं।

इस अक्षीण महालय ऋद्धि में मुनि के रहने के स्थान और उसकी सीमा के बारे में सभी आचार्यों का मत लगभग समान है, परन्तु वहाँ आकर रहनेवाले जीवों की संख्या के विषय में मत-भिन्नता है, परन्तु सब आचार्यों का आशय समान है।

आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार मुनि जिस चार हाथ प्रमाण गुफा में रहते हैं, इस ऋद्धि के प्रभाव से उस गुफा में चक्रवर्ती की सेना भी आकर रहे तो भी जगह कम नहीं पड़ती, बल्कि शेष ही रहती है।

उसी क्रम में आचार्य यतिवृषभ के अनुसार चार धनुष प्रमाण (गुफा आदि) क्षेत्र में मुनि रहते हों, इस ऋद्धि के प्रभाव से उस स्थान में असंख्यात मनुष्य और तिर्यंच आकर रहें तो भी जगह कम नहीं पड़ती, बल्कि शेष ही रहती है।

इसी क्रम में आचार्य अकलंक और श्रुतसागर सूरि के अनुसार जिस चार धनुष या चार हाथ प्रमाण स्थान में महालय ऋद्धिधारी मुनि रहते हैं, उस स्थान में सभी देव, सभी मनुष्य और सभी तिर्यंच आकर रहें तो इस ऋद्धि के प्रभाव से वहाँ स्थान की कमी न रहे, बल्कि तीन लोक के जीवों के आकर रहने पर भी जगह शेष रहेगी।

भले ही शब्द भिन्न-भिन्न हों, पर सभी आचार्यों का आशय एक ही है।

यह अक्षीण-महालय-ऋद्धि वीर्यान्तराय, लाभान्तराय, चारित्रमोहनीय कर्मों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से प्रकट होती है।

इसप्रकार अक्षीण ऋद्धियों का वर्णन पूर्ण हुआ।

*****

अध्याय–10

ऋद्धि–उपसंहार

अकल्पित शक्ति का नाम ऋद्धि है। ज्ञान और चारित्र के भेद से ऋद्धियाँ दो प्रकार की हैं। ज्ञान से संबंधित केवलज्ञान आदि अठारह ऋद्धियाँ हैं, जिन्हें यहाँ बुद्धि ऋद्धि कहा है। चारित्र से संबंधित जलचारण आदि अनेक ऋद्धियाँ हैं, जिन्हें यहाँ क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण ऋद्धियाँ कहा है। छियालीस चारित्र ऋद्धियाँ प्रसिद्ध हैं, जिनका वर्णन इस पुस्तक में किया है। विषय की अपेक्षा ऋद्धियाँ चार प्रकार की हैं – ज्ञानविषयक, शरीरविषयक, आहारविषयक और क्षेत्रविषयक।

सामान्यतया मूल ऋद्धियाँ आठ प्रकार की हैं। उन प्रसिद्ध ऋद्धियों का वर्णन करने से पुस्तक का नाम 64 ऋद्धियाँ रखा है।

मूल आठ ऋद्धियों के नाम इसप्रकार हैं –

1. बुद्धि ऋद्धि 2. क्रिया ऋद्धि 3. विक्रिया ऋद्धि 4. बल ऋद्धि 5. तप ऋद्धि 6. औषध ऋद्धि 7. रस ऋद्धि और 8. अक्षीण ऋद्धि।

इन्हीं आठ ऋद्धियों के 64 उत्तरभेद प्रसिद्ध हुए हैं। उनकी संख्या और नाम इस प्रकार हैं – बुद्धि ऋद्धियों के अठारह उत्तर भेद हैं, क्रिया ऋद्धि के नौ उत्तर भेद हैं, विक्रिया ऋद्धि के ग्याहर उत्तर भेद हैं, बल ऋद्धि के तीन उत्तर भेद हैं, तप ऋद्धि के सात उत्तर भेद हैं, औषध ऋद्धि के आठ उत्तर भेद हैं, रस ऋद्धि के छह उत्तर भेद हैं तथा अक्षीण ऋद्धि के दो उत्तर भेद हैं। इसप्रकार 18+9+11+7+3+8+6+2=64 (चौंसठ) उत्तर भेद प्रसिद्ध हैं।

चौंसठ उत्तर भेदों के नाम इसप्रकार हैं –

बुद्धि ऋद्धि के अठारह नाम – 1. केवलज्ञान ऋद्धि

2. मनःपर्ययज्ञान ऋद्धि 3. अवधिज्ञान ऋद्धि 4. कोष्ठबुद्धि ऋद्धि 5. बीजबुद्धि ऋद्धि 6. पदबुद्धि ऋद्धि 7. संभिन्नश्रोतृत्वबुद्धि ऋद्धि 8. दूरस्पर्शबुद्धि ऋद्धि 9. दूररसबुद्धि ऋद्धि 10. दूरघ्राणबुद्धि ऋद्धि 11. दूरदर्शनबुद्धि ऋद्धि 12. दूरश्रवणबुद्धि ऋद्धि 13. प्रज्ञाश्रमणबुद्धि ऋद्धि 14. प्रत्येकबुद्धत्वबुद्धि ऋद्धि 15. दशपूर्वित्वबुद्धि ऋद्धि 16. चतुर्दश-पूर्वित्वबुद्धि ऋद्धि 17. वादित्वबुद्धि ऋद्धि 18. महानिमित्तत्वबुद्धि ऋद्धि

क्रिया ऋद्धि के नौ नाम – 1. जलचारण क्रिया ऋद्धि 2. जंघाचारण क्रिया ऋद्धि 3. अग्निशिखाचारण क्रिया ऋद्धि 4. श्रेणीचारण क्रिया ऋद्धि 5. फलचारण क्रिया ऋद्धि 6. पुष्पचारण क्रिया ऋद्धि 7. बीजांकुरचारण क्रिया ऋद्धि 8. तन्तुचारण क्रिया ऋद्धि 9. आकाशगामी क्रियाऋद्धि।

विक्रिया ऋद्धि के ग्यारह नाम – 1. अणिमा विक्रिया ऋद्धि 2. महिमा विक्रिया ऋद्धि 3. लघिमा विक्रिया ऋद्धि 4. गरिमा विक्रिया ऋद्धि 5. कामरूपित्व विक्रिया ऋद्धि 6. वशित्व विक्रिया ऋद्धि 7. ईशत्व विक्रिया ऋद्धि 8. प्राकाम्य विक्रिया ऋद्धि 9. अन्तर्धानत्व विक्रिया ऋद्धि 10. आप्ति विक्रिया ऋद्धि 11. अप्रतिघातत्व विक्रिया ऋद्धि।

बल ऋद्धि के तीन नाम – 1. मन बल ऋद्धि 2. वचन बल ऋद्धि 3. काय बल ऋद्धि।

तप ऋद्धि के सात नाम – 1. दीप्त तप ऋद्धि 2. तप्त तप ऋद्धि 3. महातप ऋद्धि 4. उग्रतप ऋद्धि 5. घोर तप ऋद्धि 6. घोर पराक्रम तप ऋद्धि 7. अघोर गुण ब्रह्मचारिता तप ऋद्धि।

औषध ऋद्धि के आठ नाम – 1. आमर्ष औषध ऋद्धि 2. क्ष्वेल औषध ऋद्धि 3. जल्ल औषध ऋद्धि 4. मल औषध ऋद्धि 5. विड् औषध ऋद्धि 6. सर्व औषध ऋद्धि 7. मुख निर्विष (आस्य-अविष) 8. दृष्टि निर्विष (दृष्टि-अविष) औषध ऋद्धि।

रस ऋद्धि के छह नाम –

1. अमृतस्रावी रस ऋद्धि 2. घृतस्रावी रस ऋद्धि 3. क्षीरस्रावी रस ऋद्धि 4. मधुस्रावी रस ऋद्धि 5. दृष्टिविष रस ऋद्धि 6. मुख या वचन विष रस ऋद्धि।

अक्षीण ऋद्धि के दो नाम –

1. महानस अक्षीण ऋद्धि 2. आवास अक्षीण ऋद्धि।

बुद्धि ऋद्धि के अठारह भेदों में से पदबुद्धि के तीन उत्तर भेद हैं – 1. अनुसारिणी 2. प्रतिसारिणी 3. उभसारिणी।

प्रज्ञाश्रमण बुद्धि ऋद्धि के चार उत्तर भेद हैं –

1. आत्पातिकी 2. वैनयिकी 3. कर्मजा 4. पारिणामिकी।

दशपूर्वित्व के दो भेद हैं – 1. भिन्न 2. अभिन्न।

महानिमितत्त्व ऋद्धि के आठ भेद हैं – 1. अंग 2. स्वर 3. लक्षण 4. भौम 5. नभ 6. चिह्न 7. व्यंजन 8. स्वप्न।

इसमें स्वप्न के भी दो उत्तर भेद हैं – 1. छिन्न 2. माला।

क्रिया ऋद्धि के दो उत्तर भेद हैं – 1. चारणत्व 2. आकाशगामित्व।

चारणत्व के आठ उत्तर भेद हैं।

तप ऋद्धि में उग्रतप के दो उत्तर भेद हैं – 1. अवस्थित 2. उग्रोग्र।

इन प्रसिद्ध चौंसठ ऋद्धियों में 62 ऋद्धियाँ शुभ हैं और 2 ऋद्धियाँ अशुभ ऋद्धियाँ हैं। 62 ऋद्धियाँ शुभ हैं अर्थात् मंगल कार्य सिद्ध करती हैं तथा 2 अशुभ हैं अर्थात् अमंगल कार्य सिद्ध करती हैं।

मूल आठ ऋद्धियों में बुद्धि ऋद्धियों में ज्ञान का विकास या पूर्णता अपने आप होता है। क्रिया ऋद्धियों में गमन अपने आप तीव्र गति से तथा बिना जीव घात, जीव पीड़ा के होता है। विक्रिया ऋद्धियों में शरीर छोटा–

बड़ा, हल्का-भारी, अनेकाकार, अदृश्य अप्रतिघाती, प्रभावी, शरीर का एक अंग या एक भी उपांग लंबा होता है। बल ऋद्धियों में मन, वचन, काय को असीम बल की प्राप्ति होती है। तप ऋद्धियों में भावों में इतनी दृढ़ता प्रकट होती है कि उस दृढ़ता के बल से ऐसे कठिन तप सिद्ध होते हैं, जिनसे शरीर की कांति बढ़ती है, शरीर से सुगंध निकलती है, आहार के सर्व परमाणु धातुरूप में परिवर्तित होते हैं, दुःस्वप्न नहीं आते। औषध ऋद्धियों में मुनि का स्पर्श, स्पर्शित वायु-जलादिक, मल, दृष्टि, वचन औषधि का कार्य करते हैं। रस ऋद्धियों में मुनि हाथ का स्पर्श भोजन को अमृत, घी, दूध माधुर्य गुणों से भर देता है तथा दृष्टि, वचन में विषरस भी उत्पन्न करता है। अक्षीण ऋद्धियों में मुनि के आहार से बचा हुआ भोजन तीन लोक के जीवों के द्वारा खाये जाने पर भी कणमात्र भी कम नहीं होता। जिस स्थान पर मुनि रहते हैं, चाहे वह चार हाथ की गुफा क्यों न हो, उसमें तीन लोक के जीव बिना परेशानी के आराम से बैठ सकते हैं।

ऋद्धियाँ आत्मध्यान के काल में अपने-आप प्रकट होती हैं। भावों की विशुद्धि से ज्ञान शक्ति अपने-आप विकसित या पूर्ण होती है। उसी से भावों में दृढ़ता, शरीर में सहन शक्ति-बल-कांति-सुगंधी-औषधिगुण-अमृतादि रसगुण तथा भोजन-आवास संबंधी अनेक आश्चर्य प्रकट होते हैं। ऋद्धियों के प्रकट होने का मूल कारण आत्मध्यान से प्रकट भावों की विशुद्धि ही है।

मुनि ऋद्धि के लक्ष्य से तप-साधना नहीं करते, परंतु उनकी अंतरंग तप-साधना इतनी चरण सीमा को प्राप्त होती है कि उस काल में बँधनेवाले पुण्य का फल इतना उत्कृष्ट होता है कि चक्रवर्ती, इन्द्र आदि के पद और भोग उसकी तुलना में असंख्यातवें भाग भी नहीं होते हैं। उनके उस पुण्य का क्या फल हो? पुण्य के साथ न्याय हो, इसलिए उनके पुण्य के फल में अचिंत्य शक्ति को धारण करनेवाली ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं।

मुनि ऋद्धि का मान नहीं करते, प्रकट होने न होने का ज्ञान नहीं करते, सामान्यतया प्रयोग भी नहीं करते; क्योंकि ऋद्धि का मान (अहंकार) करना मुनिधर्म नहीं है, ऋद्धि प्रकट होने-न होने का ज्ञान से आत्मप्रसिद्धिरूप धर्म की सिद्धि नहीं होती, ऋद्धि के प्रयोग में आत्मसाधना सिद्ध नहीं होती है, इसलिए सामान्यतया ऋद्धियों का प्रयोग भी नहीं करते। कदाचित् तत्त्व-शंका-निराकरण, तीर्थंकर, तीर्थ के दर्शन का भाव हो तो प्रयोग करते भी हैं। ऋद्धियों के लक्ष्य से कर्मबंध ही होता है, कर्म की निर्जरा नहीं होती। कर्मनिर्जरा स्वरूप की साधना से होती है, इसलिए कर्मनिर्जरा के अभिलाषी, अतीन्द्रिय आनंद के भोगी मुनि स्वरूप की साधना में रत रहते हैं। ऋद्धियाँ उनका लक्ष्य नहीं होता, ऋद्धियाँ प्रकट होने से उन्हें लाभ नहीं, प्रकट न होने से नुकसान नहीं। स्वरूप की साधना अर्थात् ध्यान ही जिनका ध्येय होता है, वे मुनि ध्यान के प्रयोजन से योग, चारित्र धारण करते हैं।

ऋद्धियाँ ज्ञान का विकास या शरीर, मन, वचन की अचिंत्य शक्तियाँ मात्र हैं। धर्मात्मा शक्तियों का उपयोग धर्मसाधना के लिए करता है। पापात्मा शक्तियों का उपयोग विषय-कषायों की पूर्ति के लिए करता है। मुनि धर्मात्मा हैं। वे शक्तियों का उपयोग धर्मसाधना के लिए करते हैं। जैसे कायबलऋद्धि से या घोरपराक्रम ऋद्धि से लोक को उठा सकते हैं, परंतु इन ऋद्धियों से मुनि लोक को नहीं उठाते हैं, बल्कि बड़े-बड़े उपवास, प्रतिमायोग धारण करते हैं। वचनबल ऋद्धि से द्वादशांग श्रुत का पाठ करते हैं। मन बल ऋद्धि से द्वादशांग श्रुत का विचार करते हैं। इत्यादि सभी शक्तियों का प्रयोग आत्मसाधना के लिए करते हैं।

ऋद्धियों की संख्या और नामों में आचार्यों में मतभेद हैं। इसलिए इसका अर्थ यह नहीं कि आचार्यों को ऋद्धियों का पूर्ण ज्ञान नहीं था। इसका अर्थ इतना-सा ही है कि परंपरा से जिस आचार्य को जैसा उपदेश प्राप्त हुआ, वैसा लिखा। यतिवृषभ आचार्य के कथन से उक्त तथ्य की

पुष्टि भी होती है। जैसे उन्होंने लिखा है कि चारण ऋद्धियाँ और भी अनेक हैं, परंतु उनका उपदेश हमारे लिए नष्ट हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि आचार्यों ने वही लिखा, जो उन्हें गुरूपदेश से प्राप्त हुआ। ऋद्धियों की संख्या या नामों के मतभिन्नता को गौण करें तो सभी आचार्यों का ऋद्धियों के संबंध में मूल आशय समान ही है – ऐसा मानना।

ऋद्धियों को जानकर इतना ही समझ में आना चाहिए कि ऋद्धियों में अकल्पनीय शक्ति होती है, ऋद्धि प्राप्त मुनि ऋद्धि की प्राप्ति से अपने बड़ा नहीं मानते, ऋद्धि प्रकट न हो तो दीनता धारण नहीं करते, वे तो ऋद्धि प्रकट हो या न हो – दोनों दशाओं में समभाव धारण करते हैं। ऋद्धि के प्रति वे विरक्त रहते हैं।

यह भी समझ में आ जाना चाहिए कि मोक्षमार्ग में ऋद्धियों की नहीं, संयम की मुख्यता है; क्योंकि ऋद्धियाँ पूर्ण संयमियों को ही प्रकट होती हैं। ऋद्धियों के प्रकट हुए बिना भी मुनि मोक्ष जा सकते हैं। जैसे शिवभूति मुनि को ऋद्धि प्रकट नहीं थी, फिर भी आत्मध्यान के बल से केवलज्ञान को प्राप्त होकर मोक्ष गए। बिना ऋद्धियों के मोक्ष जाया जाता है, परंतु बिना संयम के तीन काल में मोक्ष नहीं जा सकते। इसलिए मोक्षमार्ग में ऋद्धियों की नहीं, संयम की ही मुख्यता है। मोक्ष के लिए आत्मा का कोरा ज्ञान नहीं, आत्मा के ध्यान की अनिवार्य आवश्यकता है। आत्मज्ञान की नहीं, आत्मध्यान की जरूरत है।

त्रिकालवर्ती सर्व ऋद्धिधर जिनेन्द्रों को नमस्कार हो!

*****